हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श

(इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक के संदर्भ में)

हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी.
(दलित-आदिवासी अध्ययन और अनुवाद केंद्र)
उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

वर्ष 2023

शोधार्थी

अनुराग यादव
17HDPH02

शोध-निर्देशिका
प्रो.सी. अन्नपूर्णा
हिंदी विभाग, मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046

विभागाध्यक्ष
प्रो. विष्णु सरवदे
मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046

दलित-आदिवासी अध्ययन एंव अनुवाद केंद्र
मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500046
तेलंगाना

HINDI KI SAHITYIK PATRIKAON MEIN ADIVASI VIMARSH

(IKK̥ISAVIN SADI KE PRARAMBHIK DASHAK KE SANDARBH MEIN)

A Thesis Submitted in Partial Fulfillment of the Requirement for the Degree of Doctor of Philosophy in Center for Dalit & Adivasi Studies and Translation

2023

Researcher

ANURAG YADAV
17HDPH02

Supervisor

Prof. C. Annapurna
Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
Hyderabad-500046

Head of Department

Prof. Vishnu Sarwade
School of Humanities
University of Hyderabad
Hyderabad-500046

Centre for Dalit & Adivasi Studies and Translation,
School of Humanities
University of Hyderabad
Hyderabad-500046
Telangana

DECLARATION

I ANURAG YADAV (Registration No. 17HDPH02) hereby declare that the thesis entitled H INDI KI SAHITYIK PATRIKAON MEIN AADIVASI VIMARSH (IKKISAVIN SADI KE PRARMBHIK DASHAK KE SANDARBH MEIN) (हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श (इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक के संदर्भ में) submitted by me under the guidance and supervision of Prof. C. Annapurna is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga / Inflibnet.

Signature of Supervisor
(Prof. C. Annapurna)

Signature of Student
ANURAG YADAV
Regd. No.17HDPH02

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"HINDI KI SAHITYIK PATRIKAON MEIN ADIVASI VIMARSH (IKKISAVIN SADI KE PRARMBHIK DASHAK KE SANDARBH MEIN) (हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श (इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक के संदर्भ में)"** Submitted by **ANURAG YADAV** bearing **Regd. No. 17HDPH02** in partial Fulfillment of the requirements for the award of **Doctor of Philosophy in CENTRE FOR DALIT & ADIVASI STUDIES AND TRANSLATION** is a bonafide work carried out by him under my Supervision and Guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for award of any Degree or Diploma.

Parts this thesis have been:

A. Published research paper in the following publications:

1. 'प्राकृतिक संसाधनों की लूट और सरकार की नीयत का पर्दाफाश करती आदिवासी कहानियां' have been published in the 'Unmesh' An International Half Yearly Peer Reviewed Refereed Research Journal (Arts & Humanities) Vol. IX, No. I, November 2022-April 2023, ISSN: 2394-2207, editor by Dr. Shivendra kumar mauraya, Pratapgadh U.P
2. 'आदिवासी लोकगीतों में औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ विद्रोह के स्वर' have been published in the 'SHODH BHARTI' traimasik patrika, Vol.22, Issue. 5, January-March 2023, ISSN: 2760-X790, editor by Dr. Harish kumar & Dr. Ashutosh Tripathi, Varanasi U.P

B. Research paper Presented in the following conference:

1. 'आदिवासी विमर्श की अवधारणा' presented at BHU, Varanasi, U.P. National Seminar, Dated on 03-04 December, 2017.
2. 'अस्मितावादी विमर्श और स्त्री लेखन' presented at BHU, Varanasi, U.P. National Seminar, Dated on 29-30 March, 2019.

Further the student has passed the following courses towards fulfilment of course work requirement for Ph. D.

	Course Code	Name	Credit	Result
1.	DS801	Research Methods and Critical Approaches	4	Pass
2.	DS802	Sociology of Dalit literature	4	Pass
3.	DS803	Dalit and Adivasi Thought	4	Pass
4.	DS804	Documenting of Dalit & Adivasi oral literature	4	Pass

Supervisor **Head of Department** **Dean of the School**

प्रस्तावना

बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में देश में नये-नये सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन उभरकर सामने आये। हाशिये और वंचित तबके के लोगों ने एकजुट होकर अपने प्रति हो रहे शोषण, अत्याचार और संसाधनों की लूटपाट का विरोध किया। समुदाय की मुक्ति के लिए सामूहिक अभियान चलाया। कई साहित्यिक आंदोलन भी इस अभियान के महत्वपूर्ण हिस्सा बने। साहित्य में अस्मितावादी विमर्शों का उत्थान जैसे- दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श, थर्ड जेंडर और अल्पसंख्यक विमर्श आदि इन्हीं अभियानों का परिणाम है। दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श के बाद आदिवासी विमर्श सबसे नया विमर्श है। आदिवासी चेतना से संपन्न आदिवासी साहित्य ने मुख्यधारा के कथित साहित्य में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराई है।

वर्तमान में आदिवासी साहित्य हिंदी भाषा के साथ-साथ सैकड़ों भाषाओं में रचा जा रहा है। अथक संघर्षों एवं जन-आन्दोलनों के परिणामस्वरूप आदिवासी साहित्य को स्वतंत्र विषय के रूप मान्यता मिली। सभाओं, संगोष्ठियों में उनके साहित्य और समाज पर बराबर चर्चा-परिचर्चा की जा रही है। साथ ही बहस, अनुसंधान और विश्लेषण भी जारी है। चूँकि आदिवासी साहित्य का संघर्ष अभी भी जारी है इसलिए उसे अभी भी कई समस्याओं एवं चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। कथित मुख्यधारा के साहित्य और समाज का आदिवासी विमर्श के प्रति उदासीन व्यवहार भी इसका मुख्य कारण है। आदिवासी समाज के स्वरूप, संगठन और संस्कृति को जानने-समझने में आदिवासी साहित्य महत्वपूर्ण माध्यम है अतः इसका निरपेक्ष और न्यायसंगत मूल्यांकन आवश्यक है। इसके लिए आदिवासी समाज के बुनियादी तत्वों की समझ और उसके प्रति मानवीय संवेदना का होना अनिवार्य है।

दुनिया के लगभग सभी देश में आदिवासी निवास करते हैं। ये देश के मूल निवासी हैं। ये शुरू से ही सुदूर जंगलों, वनों, पहाड़ों में निवास करते आए हैं। आदिवासी विपरीत परिस्थितियों में भी जंगल में ही अपना जीवन-बसर करते हैं। अफ्रीका में संसार के सबसे ज्यादा आदिवासी कबीले हैं। आदिवासी, सामान्य प्रकार का समुदाय है, जिसके सदस्य सामान्य बोली का प्रयोग करते हैं और युद्ध जैसे उद्देश्य हेतु या दुश्मनों का

मुकाबला एकजुट होकर करते हैं। आदिवासियों की अपनी भाषा, संस्कृति, परंपराएं होती हैं।

आदिवासी साहित्य उन वंचितों, शोषितों का साहित्य है ,जो जंगलों पहाड़ों में रहते आये हैं। देश तथा विश्व की आदिवासी भावनाओं का बोध तथा उससे संबंध कायम कर इन समूहों को दूर-दूर तक ले जाना आदिवासी साहित्य का उद्देश्य है।

दुनियाभर के आदिवासियों ने अपनी लड़ाईयां स्वयं ही लड़ी हैं परंतु मुख्यधारा के परिवर्तनकामी साहित्यों ने इसके विपरीत आचरण करते हुए आदिवासी संघर्षों को केवल मानवीय संवेदनशीलता तक सीमित कर दिया है। प्रश्न यह उठता है कि आखिर आदिवासियों की फिक्र किसी को क्यों नहीं हुआ? आखिर क्यों यह समाज आज भी हाशिए की जिंदगी जीने को मजबूर है? यदि साहित्य मानव और मानवता के लिए है, तो हिंदी साहित्य में आदिवासी अनुपस्थित क्यों है? आदिवासी आज भी क्यों मुख्यधारा के साहित्य से बहिष्कृत है? परंतु इन प्रश्नों का उत्तर न मिलता देख पिछली शताब्दी के अंतिम दशकों के दौरान इस रिक्तता की भरपाई की दिशा में स्वयं आदिवासियों को ही पहल करनी पड़ी।

आदिवासी साहित्य के विषय में बात की जाए तो पिछले कई सालों से निरंतर देश की विभिन्न साहित्यिक और गैर-साहित्यिक पत्रिकाओं द्वारा आदिवासी साहित्य को विकसित करने की कोशिश की जा रही है। यही वजह है कि आदिवासी साहित्य के प्रति हिंदी में विचार-विमर्श शुरू हुआ। आदिवासियों के जीवन संघर्ष, उनकी समस्याओं तथा संस्कृति को सामने लाने का माध्यम उनका अपना साहित्य है। गैर-आदिवासी समाज आदिवासियों के समाज से परिचित था न कि उनके साहित्य से। चूँकि आदिवासी तथा गैर-आदिवासी साहित्यकारों ने साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यमों से आदिवासी समाज को चित्रित करने का प्रयास किया। आदिवासियों की संस्कृति और भाषा की अपनी स्वतंत्र विशेषता है। आदिवासी साहित्य में संस्कृति, जीवन-शैली, प्रकृति, लोक कथाओं, लोकगीतों आदि को कहानी, उपन्यास और कविता आदि विधाओं में चित्रित किया गया है। इन विधाओं के अतिरिक्त संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत और नाटक विधा के माध्यम से भी साहित्य में आदिवासी जीवन की सार्थक अभिव्यंजना हुई है। विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में संस्मरण लिखे गये। अरावली उद्घोष पत्रिका में आदिवासी

संस्मरण विशेषांक निकला। यात्रा-वृत्तांत के माध्यम से भी आदिवासी जीवन का विवेचन किया गया है।

शोध विषय का चयन :-

स्नातकोत्तर के दौरान मैं और मेरे सहपाठियों ने अपने गाँव-क्षेत्र के वाचिक गीतों के संकलन की योजना बनाई । इन गीतों के संकलन के दौरान मेरे दो साथियों भुवाल और सतीश प्रजापति द्वारा जो गीत संकलित किये गए वो मेरे गृह जनपद और उसके आस-पास के जिलों के मित्रों द्वारा संकलित किये गए लोक गीतों की भाषा और वर्ण्य वस्तु में अलग थे जिसने मेरी जिज्ञासा को बढ़ा दिया। अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए जब मैंने अपने दोनों साथियों भुवाल और सतीश से इन गीतों के संदर्भ जानना चाहा तो उन्होंने बताया कि ये गीत क्रमशः थारू जनजाति ,जो उत्तर प्रदेश के गोरखपुर मंडल के तराई भाग में निवास करते है ;और सोनभद्र के स्थानीय जनजातियों से प्रभावित गीत हैं। यहीं से आदिवासियों को जानने समझने की जिज्ञासा मेरे अंदर बढ़ती गई और अंत में मेरे शोध विषय के रूप में परिणित हुई।

मैंने हिंदी साहित्य की पत्रिकाओं में समकालीन भारतीय साहित्य, पहल, मधुमती, हंस, कथन, बया, आलोचना, अक्षरा, आलेख, वागर्थ, अकार, अक्षर पर्व, आजकल, साहित्य अमृत, वाक्, नया ज्ञानोदय, कथादेश, कथाक्रम, बहुवचन, प्रगतिशील वसुधा, साक्षात्कार, दस्तावेज, वांग्मय, युद्धरत आम आदमी, तद्भव, बनास जन,पाखी, आदिवासी साहित्य, पक्षधर, अरावली उद्घोष, आदिवासी साहित्य को अपने शोध प्रबंध का आधार बनाया है।

मेरे शोध प्रबंध का शीर्षक '**हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श' (इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक के सन्दर्भ में)** है। मैंने अध्ययन की सुविधानुसार इस शोध प्रबंध को सात अध्याय में विभक्त कर विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

शोध प्रबंध के पहले अध्याय का शीर्षक '**आदिवासी विमर्श: अवधारणा और स्वरुप**' है। इस अध्याय में विमर्श की अवधारणा, साहित्य में प्रचलित विविध विमर्श यथा दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श और आदिवासी विमर्श के साथ आदिवासी शब्द की व्याख्या और परिभाषा से लेकर उनकी जीवन शैली, प्रथाएं,

मान्यताएं, व्यवसाय, विशेषताएं, समस्याओं, संवैधानिक उपबंधों तथा आंदोलनों विचार किया गया है। भारत में स्वाधीनता आंदोलन खड़ा करने में आदिवासी आंदोलनों की महती भूमिका रही है। आदिवासियों और अंग्रेजों के बीच संघर्ष की अनगिनत घटनाएं हैं तथा इन लड़ाइयों से संबंधित नायक भी अनगिनत हैं। अध्याय में महत्वपूर्ण आदिवासी आंदोलनों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जिससे एक दृश्य सामने आ सके और स्वाधीनता आंदोलन में आदिवासियों के योगदान के बारे में ज़रूरी सूचना मिल सके।

शोध प्रबंध के दूसरे अध्याय का शीर्षक **'हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाएँ और आदिवासी विमर्श'** है। इस अध्याय में हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में आदिवासी विमर्श का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन पत्रिकाओं में आदिवासी तथा गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा समय-समय पर आदिवासियों से संबंधित रचनाओं के आधार पर पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श के प्रस्थान बिंदु को जानने का प्रयास किया गया है। इसमें मुख्यधारा के समाज में हाशिये का जीवन व्यतीत करने वालों की समस्याओं के साथ-साथ हिंदी पत्रकारिता समाज से दूर जंगलों, पहाड़ों में रहने वाले आदिवासियों की समस्याओं पर भी गंभीरता से विचार कर सरकार और लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। आदिवासी विमर्श पर प्रकाशित रचनाओं पर चर्चा-परिचर्चा कर, संपादकीय टिप्पणियों और निबंधों के माध्यम से हिंदी पत्रकारिता ने आदिवासियों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, भाषायी और आदिवासी जीवन के विविध पक्षों पर गंभीर अन्वेषण कर उसके आयामों पर प्रकाश डाला है।

शोध प्रबंध के तीसरे अध्याय का शीर्षक **'हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता : आदिवासी कविता'** है। इस अध्याय में अस्तित्व और अस्मिता के लिए आदिवासियों के संघर्ष, आदिवासी स्त्री के संघर्ष, पलायन, घुसपैठ, आर्थिक आक्रमण, सामाजिक संक्रमण, आदिवासी संसाधनों पर कब्जे की राजनीति, पर्यावरणीय सरोकार, प्रतिरोधी चेतना आदि जैसे बिन्दुओं पर विचार किया गया है। साथ ही साथ आदिवासी कविताओं के माध्यम से आदिवासी स्त्री के शोषण और उसके ऊपर होने वाले अत्याचार तथा इसके विरुद्ध स्त्रियों के तेवर को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। आदिवासी समाज की प्रतिरोधी चेतना और उनकी सामाजिक सांस्कृतिक विरासत का भी विश्लेषण भी इस अध्याय में किया गया है।

चौथे अध्याय का शीर्षक **'हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता: आदिवासी कथा साहित्य'** है। इस अध्याय में आदिवासी हिंदी कहानियों के माध्यम से आदिवासियों के सामजिक-सांस्कृतिक स्वरूप, संघर्ष, प्रकृतिक संसाधनों की लूट, विस्थापन का दर्द और आदिवासी स्त्रियों की स्थिति को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। हिंदी आदिवासी कहानी को लेकर तमाम तरह के विचार-विमर्श कथा-आलोचना में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आदिवासी कहानी की सार्थकता उसके कहानीपन के फॉर्म से अधिक उसके सामाजिक सरोकारों से जुड़े जटिल मुद्दे की गम्भीरता के निरूपण में है।

शोध प्रबंध के पांचवें अध्याय का शीर्षक **'हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में आदिवासी कथेतर गद्य'** है। इस अध्याय में हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में प्रकाशित व संकलित आदिवासी कथेतर गद्य के अंतर्गत संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत और नाटक का सामान्य परिचय दिया गया है। संस्मरणों में लक्ष्मण गायकवाड़ का 'काजू-बादाम खाने वाली गांधीजी की बकरी', प्रकाश मिश्र का 'मिजोरम में कुछ दिन', डॉ० नवज्योत भनोत का 'अंडमान यात्रा', बजरंग बिहारी तिवारी का 'अंडमान यात्रा', स्वाधीन कृत 'कितनी दूर है अभी रोशनी', राघवेंद्र का 'आपातानीयों के बीच एक शाम', चंद्रकांत देवताले का 'बस्तर में कुछ दिन', डॉ. रमेश चन्द्र मीणा कृत 'जमीनी जंग के सहरिया', केदार प्रसाद मीणा का 'सावधान, नीचे आग है!', सुरेंद्र नायक कृत 'दहकते बुलबुले'; यात्रा वृतांत में हरिराम मीणा के 'भुला बिलोरिया तक जहाँ सैकड़ो आदिवासी शहीद हुए' और 'मानगढ़ : अनलिखे आदिवासी बलिदान के तहखानों तक' तथा सतीश जायसवाल का 'पलाश अरण्य में ढूंढता गाथा सूत्र' और नाटकों में विमल कुमार टोप्पो का 'कोड़ा राज्य' एंव अनीता पंडा का 'आजादी के दीवाने' के माध्यम से आदिवासियों के जीवन संघर्ष, इतिहास, उनकी समस्याओं तथा संस्कृति को सामने लाने का प्रयास किया गया है। चूँकि आदिवासी साहित्य ही आदिवासियों के जीवन संघर्ष, ऐतिहासिक उपेक्षा और जन-जीवन से जुड़ी समस्याओं से हमें परिचित कराने का विश्वसनीय माध्यम है।

छठा अध्याय का शीर्षक **'हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता और आदिवासी लोक साहित्य'** है। इस अध्याय में लोकसाहित्य को स्पष्ट करते हुए आदिवासी लोकगीतों तथा लोककथाओं में आदिवासी मिथक,पर्व-त्योहार, इतिहास एंव मानवीय मूल्यों पर विचार किया गया है। लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं से आदिवासियों के विशिष्ट

सांस्कृतिक गुण-धर्म की जानकारी मिलती है। लोकगीत, लोक कथाएँ, नाटक, पहेली आदि उनके लोक साहित्य की पूंजी है, जिसे वे सुनते-सुनाते और दोहराते आये हैं। इनके गीतों के शब्द भले ही सरल हों लेकिन भावों की उत्कृष्टता (प्रदर्शन) में कोई कमी नहीं रहती है।

शोध के सातवें अध्याय का शीर्षक **'आदिवासी साहित्य का भाषिक पक्ष'** है, जो शोध-प्रबंध का अंतिम अध्याय है। इस अध्याय में आदिवासी हिंदी कविता के अंतर्गत भाषा में सहजता, शब्द प्रयोग (तत्सम, तद्भव, आंचलिक और अंग्रेजी शब्द), अलंकार, बिंब और प्रतीक तथा शैली के जरिये कविताओं के वर्ण्य विषय और उनके भाषिक पक्ष को समझने की कोशिश किया गया है। उक्त भाषिक पक्षों के अतिरिक्त कहानी, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत और नाटक के अध्ययन हेतु जरुरी भाषिक पहलुओं को आधार बनाकर आदिवासी हिंदी कहानी और कथेतर गद्य विधाओं का अध्ययन किया गया है। चूँकि किसी भी साहित्य का सौष्ठव उसकी भाषिक संरचना और परिपक्वता पर निर्भर करता है। कथावस्तु और भाषिक पक्ष, दोनों मिलकर किसी भी साहित्य को महत्तम ऊँचाई देते हैं। भाषिक पहलुओं की बात करें तो उसमें भाषा-शैली, भाषिक शिल्प और भाषा का समेकित स्वरुप महत्वपूर्ण है।

अंत में उपसंहार के अंतर्गत शोध कार्य के लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए सम्पूर्ण शोध-प्रबंध का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही आधार व सहायक ग्रन्थ के साथ परिशिष्ट संलग्न है।

शोध-पद्धति :-

यह शोध कार्य आदिवासी समाज से संबंधित द्वितीयक स्रोत पर आधारित होने के कारण इतिहास, संस्कृति, आलोचना, व्याख्या और मूल्यांकन से संबंधित है; अतः उसी के अनुरूप इसमें ऐतिहासिक, आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक और समाजशास्त्रीय पद्धति का प्रयोग किया गया है। साहित्य और समाज के बीच 'दाँत कटी रोटी' संबंध होने के कारण परंपरा, देशकाल और परिवेश तथा रचनात्मक -व्यक्तित्व से जुड़े हुए तत्वों की पहचान करते हुए हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित और संकलित लोकसाहित्य, कहानी, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत और नाटक के साथ कविता के शिल्पगत उपादान निश्चित किये गये हैं।

इस शोध-प्रबंध के संपन्न होने में शोध-निर्देशिका आदरणीया प्रो. सी. अन्नपूर्णा जी के अमूल्य योगदान और स्नेहपूर्ण सहयोग के लिए मैं हृदय से उनके प्रति कृतज्ञता और आभार व्यक्त करता हूँ। प्रो. सी. अन्नपूर्णा जी ने समय-समय पर शोध संबंधी विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु निर्देशित किया। प्रस्तुत शोध-प्रबंध के विषय चयन के लिए मैं हिंदी विभाग के प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक जी का आभारी हूँ। मैं आदरणीय डॉ. आत्माराम जी का भी आभारी हूँ जिनके महत्त्वपूर्ण सुझावों के कारण यह शोध प्रबंध सुव्यवस्थित रूप ग्रहण कर सका। विभागाध्यक्ष आदरणीय प्रो. विष्णु सरवदे जी एवं हिंदी विभाग और दलित-आदिवासी अध्ययन एंव अनुवाद केंद्र के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. आर. एस. सर्राजू सर के स्नेहपूर्ण सहयोग और सान्निध्य के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनके सहयोग से यह शोध-कार्य अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ। मैं हिंदी विभाग के प्रोफेसर श्री वी. कृष्णा सर के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनके आशीर्वाद से मैं सकुशल अपना शोध कार्य पूरा कर सका।

मैं अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धानवत हूँ ,जिनके आशीर्वाद और प्यार से यह शोध कार्य संपन्न हो सका ;साथ ही अपने छोटे भाई और पत्नी को धन्यवाद देता हूँ कि घर की जिम्मेदारियों से मुझे मुक्त कर शोध कार्य को निष्ठा पूर्वक करने का समय दिया।

मैं अपने मित्रों भुवाल, आशीष 'अपूर्व', संजय कुमार प्रजापति, चंद्रनाथ निषाद, सतीश यादव, संजय बच्छाव, सतीश प्रजापति, मनीष चौरसिया, राजीव गुप्ता, शेलके प्रकाश और नवोदय विद्यालय दालखोला के विद्यार्थी सौरभ भौमिक और जीशान का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने अपना बहमुल्य समय देकर शोध प्रबंध को पूर्ण कराने में सहयोग किया। मैं जवाहर नवोदय विद्यालय दालखोला के प्राचार्य आदरणीय मो. रेहान के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने नवोदय विद्यालय की व्यस्ततम व्यवस्था में भी मुझे शोध कार्य हेतु प्रोत्साहित किया। इसके अलावा शोध कार्य को पूरा कराने में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वाले सभी लोगों का आभार प्रकट करता हूँ ।

दिनांक-26-05-2023 अनुराग यादव

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना	**i-vii**
पहला अध्याय: आदिवासी विमर्श : अवधारणा और स्वरुप	**01-44**
1.1. विमर्श की अवधारणा	
1.2. विमर्श के रूप	
1.2.1. दलित विमर्श	
1.2.2. स्त्री विमर्श	
1.2.3. अल्पसंख्यक विमर्श	
1.2.4. आदिवासी विमर्श	
1.2.4.1. आदिवासी: अर्थ एवं परिभाषा	
1.2.4.2. आदिवासियों की विशेषताएँ	
1.3. भारतीय आदिवासी: स्वरूप और व्याप्ति	
1.3.1. भारतीय आदिवासी और उनका समाज	
1.3.2. आदिवासियों की समस्याएँ	
1.4. अनुसूचित जनजातियों के लिए संवैधानिक प्रावधान	
1.5. आदिवासी विद्रोह	
1.6. आदिवासी विमर्श की पृष्ठभूमि	
1.6.1. आदिवासी विमर्श आदिवासियों द्वारा	
1.6.2. आदिवासी विमर्श गैर आदिवासियों द्वारा	
दूसरा अध्याय : हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाएँ और आदिवासी विमर्श	**45-69**
2. हिंदी साहित्य की प्रमुख पत्रिकाएं एवं उनका परिचय	
2.1. हिंदी पत्रकारिता: संक्षिप्त परिचय	

2.2. आदिवासी पत्रकारिता

2.3. आदिवासी विषयक पत्रिकाएं

2.4. गैर-साहित्यिक पत्रिकाएं

2.5. पत्रिकाओं के आदिवासी विमर्श केंद्रित विशेषांक

2.6. आदिवासी विमर्श के विकास में पत्रिकाओं की भूमिका

तीसरा अध्याय : हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता : आदिवासी कविता 70-126

3.1. आदिवासी स्त्री का संघर्ष

3.2. आदिवासी संसाधनों पर कब्जे की राजनीति

3.3. पर्यावरण सरोकार और विस्थापन

3.3.1. पर्यावरणीय सरोकार

3.3.2. विस्थापन

3.3.3. प्रतिरोधी चेतना

3.4. आदिवासी अस्मिता की व्यथा और सरोकार की कविता

चौथा अध्याय : हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता: आदिवासी कथा साहित्य 127-171

4.1. आदिवासी जीवन के सामाजिक- सांस्कृतिक स्वरूप

4.2. आजीविका के लिए संघर्ष

4.3. प्राकृतिक संसाधनों की लूट के शिकार

4.4. विस्थापन का दर्द

4.5. स्त्रियों की स्थिति

पाँचवाँ अध्याय : हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में आदिवासी कथेतर गद्य 172-196

5.1. संस्मरण

5.1.1. काजू-बादाम खाने वाली गांधीजी की बकरी

5.1.2. मिजोरम में कुछ दिन
5.1.3. अंडमान यात्रा
5.1.4. अंडमान यात्रा
5.1.5. कितनी दूर है अभी रोशन
5.1.6. आपातानीयों के बीच एक शाम
5.1.7. बस्तर में कुछ दिन
5.1.8. जमीनी जंग के सहरिया
5.1.9. सावधान, नीचे आग है!
5.1.10. दहकते बुलबुले
5.2. यात्रा वृतांत
5.2.1. भुला बिलोरिया तक जहाँ सैकड़ो आदिवासी शहीद हुए
5.2.2. मानगढ़: अनलिखे आदिवासी बलिदान के तहखानों तक
5.2.3. पलाश अरण्य में ढूंढता गाथा सूत्र
5.3. नाटक
5.3.1. कोड़ा राज्य
5.3.2. आजादी के दीवाने

छठा अध्याय: हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता और आदिवासी लोक साहित्य 197-239

6.1. आदिवासी लोकगीत
6.1.1. आदिवासी लोकगीतों में स्त्री
6.1.2. क्रांति के गीत
6.1.3. पर्व सम्बन्धी गीत
6.2. आदिवासी लोक-कथाएं
6.2.1. मानव उत्पत्ति की लोककथा

6.2.2. रूईदास कुँडुख बेलस की कथा (ऐतिहासिक कथा)
6.2.3. पर्यावरण संरक्षण (पौराणिक कथा)
6.2.4. महुआ फूलों की शराब (परधान गौंड समुदाय की कथा)
6.2.5. सरहुल पर्व की कथा (संताली लोककथा)
6.2.6. मनोरंजन की कथा (विमुक्त जनजाति की लोककथा)

सातवाँ अध्याय : आदिवासी साहित्य का भाषिक पक्ष **240-291**

7.1. कविता
7.1.1. भाषा में सहजता
7.1.2. शब्द प्रयोग
7.1.2.1. तत्सम
7.1.2.2. तद्भव
7.1.2.3. आंचलिक शब्द
7.1.2.4. अंग्रेजी शब्द
7.1.3. अलंकार
7.1.3.1. उपमा अलंकार
7.1.3.2. उत्प्रेक्षा अलंकार
7.1.3.3. रूपक अलंकार
7.1.3.4. मानवीकरण अलंकार
7.1.4. बिंब और प्रतीक
7.1.4.1. दृश्य बिम्ब
7.1.4.1.1 प्राकृतिक बिम्ब
7.1.4.1.2. पौराणिक बिम्ब
7.1.4.1.3. ऐतिहासिक बिंब

7.1.4.1.4. आर्थिक बिंब

7.1.4.1.5. व्यक्ति बिंब

7.1.4.1.6. सांस्कृतिक बिंब

7.1.4.2. अन्य संवेद्य बिम्ब

7.1.4.2.1. श्रवण बिंब

7.1.4.2.2. घ्राण बिंब

7.1.4.2.3. स्पर्श बिंब

7.1.5. प्रतीक

7.1.6. शैली

7.2. कहानी

7.2.1. शांबरी

7.2.2. सिराज बैंड बाजा

7.2.3. नया नगर की सुंदरी

7.2.4. अपनी कब्र खोदने वाले

7.2.5. पोन

7.2.6. अगिन देवी

7.2.7. जहेरथान

7.2.8. कनकट्टी दीदी

7.2.9. कोराईन डूबा

7.2.10. जंगल

7.2.11. मोईनी की मौत

7.2.12. कोयले पर पलते पेट

7.2.13. बैल बनी औरत

7.2.14. समायोजन
7.3. संस्मरणों का भाषिक पक्ष
7.3.1. अंडमान यात्रा
7.3.2. मिजोरम के वे कुछ दिन
7.3.3. कितनी दूर है अभी रोशनी
7.3.4. आपातानियों के बीच एक शाम
7.3.5. काजू बादाम खाने वाली गांधी जी की बकरी
7.3.6. जमीनी जंग के सहारिया
7.3.7. बस्तर में कुछ दिन
7.3.8. सावधान नीचे आग है !
7.3.9. दहकते बुलबुले
7.4. यात्रा साहित्य
7.4.1. भूला-बिलोरिया तक जहां सैकड़ों आदिवासी शहीद हुए
7.4.2. मानगढ़ अनलिखे आदिवासी बलिदान के तहखानों तक
7.4.3. पलाश अरण्य में ढूंढता गाथा सूत्र
7.5. नाटक
7.5.1. कोड़ा राज्य
7.5.2. आजादी के दीवाने
उपसंहार **292-303**
संदर्भ ग्रंथ-सूची **304-313**
परिशिष्ट

पहला - अध्याय

आदिवासी विमर्श : अवधारणा और स्वरूप

आदिवासी विमर्श : अवधारणा और स्वरूप

आधुनिक समाज में मानव सभ्यता के तेजी से बदलते परिदृश्य में जीवन के विभिन्न प्रगतिशील आयाम मानव सभ्यता को अभूतपूर्व गति दे रहे हैं। औद्योगीकरण के साथ विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सम्मिलित शक्ति ने दुनिया को वैश्विक गाँव के रूप में बदल दिया है। प्रत्येक प्रगति अपने साथ कई समस्याओं को भी जन्म देती है। वैश्वीकरण के साथ भी ऐसा ही हुआ।वैश्वीकरण के कारण बहुत सारे उपेक्षित समुदाय विलोपन की स्थिति में आ गए हैं। ऐसे में उनके संरक्षण, संयोजन और संतुलित प्रगति के लिए विमर्शों की शुरुआत होती रही है। आदिवासी, जिन्हें समाज के आदिम स्वरूप का प्रतिरूप माना जाता है, उनकी समस्याओं के अनुशीलन और समस्याओं के निराकरण के लिए किए गए संघर्ष का जीवंत दस्तावेज आदिवासी विमर्श है। आदिवासी विमर्श के विस्तृत फलक तक जाने के क्रम की शुरुआत 'विमर्श' को समझने से करना उचित होगा।

1.1 विमर्श की अवधारणा:-

'विमर्श' शब्द की अवधारणा जानने से पहले इसका कोशगत अर्थ जान लेना आवश्यक है। वृहत हिंदी कोश में विमर्श का अर्थ "विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा गुण-दोष की मीमांसा है।"[1]

आक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश में 'डिस्कोर्स'(Discourse) शब्द का तात्पर्य 'भाषण या बातचीत है।'[2]

अंग्रेजी-हिंदी कोश में 'विमर्श' का अर्थ "भाषण, प्रवचन प्रबंध है।"[3]

Merriam-webster डिक्शनरी में Discourse के बारे में लिखा गया है 'Verbal interchange of ideas especially: CONVERSATION.'

अभय कुमार दुबे विमर्श के बारे में कहते हैं- "इसका निपट अर्थ है दो वक्ताओं के बीच संवाद या बहस या सार्वजनिक चर्चा।"[4]

1.वृहत हिंदी कोश- कालिका प्रसाद, पृष्ठ संख्या- 1059
2.ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी कोश- पृष्ठ संख्या- 156
3.अंग्रेजी हिंदी शब्दकोश- पृष्ठ संख्या- 218
4.भारत का भूमंडलीकरण- संपादक अभय कुमार दुबे, पृष्ठ संख्या- 444

फादर कामिल बुल्के ने अपने अंग्रेजी हिंदी शब्दकोश में 'डिस्कोर्स' के ये समानार्थी दिए हैं- "भाषण, प्रवचन, प्रबंध, निबंध।"[5]

ऊपर दिए गए विमर्श (Discourse) के कोशगत अर्थ के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा, गुण-दोष की मीमांसा, भाषण, बातचीत इत्यादि सभी विमर्श के पर्याय हैं। इन सभी शब्दकोशों में 'विमर्श' का मतलब कहीं न कहीं बातचीत अथवा विचार विश्लेषण से संबंधित है। 'विमर्श' शब्द से जहां सामान्य अर्थ बातचीत या वार्तालाप से है वहीं साहित्य में इसका अभिप्राय किसी गंभीर या जटिल मुद्दे का गहन विवेचन-विश्लेषण और अंत में तर्क-सम्मत निष्कर्ष पर पहुंचने की कोशिश से है।

'विमर्श' के संदर्भ में सुधीश पचौरी लिखते हैं- "'विमर्श' सिर्फ 'बातचीत' तक सीमित न रहे, वह एकतामूलक क्रियाविधि के संदर्भ तक जाए।"[6]

'विमर्श' शब्द सचेतता का द्योतक है ही, साथ ही यह सामाजिक स्तर पर समस्याओं से मुक्ति भी दिलाता है। यह व्यक्ति को जागरूक कर उसे दिग्भ्रमित होने से बचाता है।

हिंदी शब्दकोश (रामचंद्र वर्मा) में विमर्श का एक अर्थ "मन में होने वाली अहं भाव की स्फूर्ति भी दिया गया है। यदि इस अर्थ के आलोक में विमर्श शब्द को देखें तो विमर्श की अवधारणा काफी हद तक स्पष्ट होती नजर आती है। डॉ॰सूर्यनारायण रणसुभे इस अर्थ को कुछ इसी प्रकार विश्लेषित करते हैं- "मन में होने वाली अहं भाव की स्फूर्ति इस अर्थ में जो अहं शब्द है उसका अर्थ अहंकार ना लेते हुए खुद के प्रति मनुष्य होने का अहसास इस अर्थ में ले तो अस्मिता की अवधारणा स्पष्ट हो सकती है।"[7]

'अहं' का कोशगत अर्थ अहंकार तथा अभिमान होता है। 'विमर्श' की इस अर्थ में 'अहं' शब्द का अर्थ अभिमान के संदर्भ में लेना है। स्वयं के प्रति! अभिमान! मनुष्य होने का अभिमान। स्वयं के प्रति अभिमान का संबंध मनुष्य की अस्मिता के साथ आता है। इस प्रकार विमर्श का संबंध अस्मिता से जुड़ता है। व्यक्ति की अस्मिता का सरोकार समूह की अस्मिता से जुड़ा रहता है। विमर्श में अस्मिता का तर्क-वितर्क इसी दृष्टिकोण से होता है, सामुदायिक अस्मिता से जुड़े सवालों, समस्याओं, परंपराओं आदि की समीक्षा विमर्श में होती है।

5.वाक्,2007, विमर्श के बारे में कुछ बातें- सुधीश पचौरी, पृष्ठ संख्या- 225

6.वाक् 2007- अंक 3, पृष्ठ संख्या- 225

7.चिंतन सृजन, वर्ष-14, अंक-2, विमर्श अवधारणा स्वरूप और प्रकार, पृष्ठ संख्या- 83

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विमर्श का अभिप्राय व्यष्टि के माध्यम से सामुदायिक अस्मिता की मीमांसा, आलोचना है। दुनिया भर के देशों में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक रूप से अनादरित, गुलाम, शोषित लोगों पर कभी गंभीरता से विचार नहीं हुआ। यह वर्ग सदैव निकृष्ट रूप में जीता रहा। पिछली सदी में जब शिक्षा का द्वार धीरे-धीरे सभी के लिए खुलने लगा, जब अवसर की समानता मिलने लगी, तब इन वर्गों में अस्मिता एवं अस्तित्व के सवाल उठने लगे। इस वर्ग की दशा पर मुख्यधारा और उपेक्षितों द्वारा जो वाद-विवाद प्रारंभ हुआ वही 'विमर्श' कहा गया। अस्मिता और मानवाधिकारों से विमर्श का गहरा संबंध है। अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के प्रति अभिमान रखते हुए जब एक दलित वर्णवादी व्यवस्था में अपने लिए स्पेस खोजता है तब नए विमर्श की शुरुआत होती है। विमर्श का संबंध व्यक्तित्व की पहचान के साथ भी है और अस्मिता की तलाश के साथ भी।

1.2. विमर्श के रूप:-

हिंदी साहित्य के संबंध में देखा जाए तो सत्तर के दशक में दलित और स्त्री विमर्श के अंकुर दिखाई पड़ते हैं। लेकिन भारतीय साहित्य के संदर्भ में देखा जाए तो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दबे-कुचले हाशिए पर जीने वाले समुदायों की अस्मिता को लेकर गंभीर बहस छिड़ चुकी थी। ज्योतिबा फुले पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हाशिए के समाज की अस्मिता के संबंध में मुख्यधारा के समाज की नीयत पर सवाल खड़े किए। फुले के उपरांत बीसवीं शताब्दी में डॉक्टर अंबेडकर इस वाद-विवाद को आगे बढ़ाते हैं और विमर्श की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। इस संदर्भ में हिंदी समीक्षक जगदीश्वर चतुर्वेदी 'नामवर सिंह और अस्मिता विमर्श' में लिखते हैं- "आधुनिक काल के इतिहास का आरंभ ही अस्मिता की राजनीति से होता है। यह निजी अस्मिता नहीं है सामुदायिक अस्मिता है।"[8]

1.2.1 दलित विमर्श:-

विभिन्न शब्दकोशों के अनुसार 'दलित' शब्द का अर्थ- बृहत् हिंदी कोश के अनुसार 'दलित' शब्द का अर्थ है- "रौंदा, कुचला, दबाया हुआ,पदाक्रांत।"[9]

8.चिंतन-सृजन वर्ष-14, अंक-2, विमर्श की अवधारणा स्वरूप और प्रकार, पृष्ठ संख्या- 85
9.बृहत् हिंदी कोश- कालिका प्रसाद, पृष्ठ संख्या- 510

प्रामाणिक हिंदी कोश के अनुसार- “1. रौंदा या कुचला हुआ। 2. नष्ट किया हुआ।”[10]

भार्गव आदर्श हिंदी शब्दकोश के अनुसार- “दला हुआ खंडित, विदीर्ण, कुचला हुआ, नष्ट किया हुआ।”[11]

नालंदा विशाल शब्दकोश के अनुसार- “1.मसला,रौंदा या कुचला हुआ 2. नष्ट किया हुआ 3.समाज का वह वर्ग जो सबसे नीचे माना गया हो अथवा दुखी हो और जिसे उच्च वर्ग के लोग उठने न देते हों।”[12]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहना उचित है कि रौंदा हुआ, कुचला, दबाया हुआ आदि सभी शब्द दलित के ही समानार्थी है। सभी कोशों में ‘दलित’ शब्द का अर्थ किसी न किसी प्रकार दलन और दमन से ही जुड़ा है। दलित चिंतक कंवल भारती लिखते हैं - "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे काम करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया है और जिस पर सछुतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की वही दलित है।”[13]

डॉ० नारायण सुर्वे के अनुसार- “समाज के सभी पीड़ित वर्ग दलित हैं।”[14]

मोहनदास नैमिशराय दलित शब्द की व्याख्या कुछ इस प्रकार- “दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के समानार्थी प्रतीत होता है। लेकिन इसमें भेद भी है दलित की व्याप्ति अधिक है, वहीं सर्वहारा की सीमित।”[15]

भारतीय समाज धर्म तथा कर्म प्रधान माना जाता है। जाति एवं उपजाति पद्धति हिंदू धर्म का मूल है।

जाति व्यवस्था का उत्स वर्ण व्यवस्था है। वर्ण व्यवस्था का मूल मनुवाद है। मनुवाद का उत्स ब्राह्मणवाद है। मनु द्वारा चार वर्ण क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बनाए गए। आगे चलकर यही वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गई। हर जाति का कार्य निश्चित है। ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन का काम करेगा, क्षत्रिय देश की सेवा व रक्षा करेगा, वैश्य व्यापार का काम करेगा

10.प्रामाणिक हिंदी कोश- रामचंद्र वर्मा, पृष्ठ संख्या- 527

11.भार्गव आदर्श हिंदी शब्दकोश- संपादक पंडित रामचंद्र पाठक, पृष्ठ संख्या- 348

12.नालंदा विशाल शब्दकोश- नवल जी, पृष्ठ संख्या- 568

13.हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- डॉ० अमरनाथ, पृष्ठ संख्या-171

14.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-मार्च 2012, आइए जाने क्यों और कैसे हुई उत्पत्ति शब्द की?, पृष्ठ संख्या- 80

15.वही, पृष्ठ संख्या- 80

तथा शूद्र इन तीनों वर्णों की सेवा का कार्य करेगा। यह प्रथा आज भी देखने को मिलजाती है। दुर्भाग्य की बात है कि जिन कथित जातियों ने इन उच्च जातियों की सेवा की, उच्च जातियों ने उन्हीं का शोषण किया। इन कथित शूद्र जातियों के अतीत में जब झांकते हैं तो भारतीय समाज का घिनौना रूप दिखाई देता है। प्राचीन समय से ही दलितों को पशुओं से भी निम्नतर माना गया, उन्हें हेय दृष्टि से देखा गया। शंबूक से लेकर महाराष्ट्र में घटित खैरलांजी घटना तक न खत्म होने वाली श्रृंखला है। दलित शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त न कर पाएँ इसके लिए सत्तासीन जातियों ने कठोर नियम बनाए। शंबूक ने रामराज्य के दौरान इस नियम को तोड़ा और ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने राम को शंबूक के वध के लिए प्रेरित किया। एकलव्य और द्रोणाचार्य प्रकरण सर्वविदित है। लेकिन यह सिलसिला त्रेता से लेकर आज भी जारी है। जाति व्यवस्था के कारण न जाने कितने एकलव्यों का अंगूठा द्रोणाचार्यों द्वारा आज भी काटा जा रहा है।

मध्यकाल में देश पर बाहरी आक्रमण बढ़ गए। शोषण, जुल्म और अत्याचारों की आंधी चरम पर थी। देश में अंधविश्वास भयंकर रूप से बढ़ा। भेदभाव, अस्पृश्यता और रूढ़-मानसिकता ने समाज में हमेशा के लिए नफरत का बीज बो दिया। नफरत की ये जड़ें इतनी अंदर तक धँसी थी कि मध्य काल के प्रसिद्ध निर्गुण संत रैदास को भी अछूत माना गया। “भारत की परंपरागत वर्ण-व्यवस्था के कारण लंबे समय से दलित असम्मान का पात्र बना रहा है, चाहे वह सर्वगुण संपन्न, कार्य-कुशल क्यों न हो।”[16]

‘दलित’ समुदाय हमेशा से पीड़ित और शोषित रहा है। उसे प्राचीन काल से ही न बोलने का अधिकार दिया गया, न ही अपनी मर्जी के अनुसार काम करने की आजादी। उसे केवल वर्ण व्यवस्था के अनुसार काम करना पड़ता था, इसी कारण उसे विपन्नता मेंजीवन बिताने के लिए अभिशप्त होना पड़ा। आज भी वह उसी स्थिति में जीवनयापन कोमजबूर है। देश आजाद हो गया लेकिन ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पोषक, समर्थक अपनी जाति-श्रेष्ठता की कुंठा से मुक्त नहीं हो सका और न ही दलितों को उचित सम्मान मिला।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दलित समाज सुधारकों, चिंतकों ने जन्म लिया।ज्योतिबा फुले, श्री नारायण गुरु, पेरियार रामास्वामी नायकर, छत्रपति शाहूजी महाराज, बी॰ आर॰ अंबेडकर

16.परंपरागत वर्ण व्यवस्था और दलित साहित्य- साक्षांत मस्के, पृष्ठ संख्या- 15

आदि ने प्राचीन काल से चली आ रही वर्णवादी व्यवस्था का विरोध किया।ज्योतिबा फुले ने अपनी पुस्तक गुलामगिरी में लिखा- "विद्या के अभाव में मति (सोचने समझने की शक्ति) नष्ट हुई। मति के अभाव में नीति नष्ट हुई। नीति के अभाव में गति (परिवर्तनशीलता) नष्ट हुई। गति के अभाव से वित्त (आर्थिक स्थिति) नष्ट हुई और वित्त के अभाव से शूद्रों का पतन हुआ। अज्ञानता के गर्त में धकेल दिए जाने के एकमात्र कारण से ही यह सब कुछ हुआ।"[17]

दलितों के उत्थान एवं राजनीतिक आंदोलन के सिलसिले में अनेक सेवकों एवं परिवर्तनकामी लोगों ने समाज में बदलाव लाने का प्रयास किया, जिसमें ज्योतिबा फूले ने दलितों के उत्थान के लिए विद्रोह की घोषणा की। उन्होंने जात-पात, अस्पृश्यता को दूर करने के लिए 1873 में सत्यशोधक समाज की स्थापना की। उन्होंने अपने वर्ग के लोगों को समझाया कि वे कर्मकाण्ड के लिए किसी ब्राह्मण पुजारी को ना बुलावें। उन्होंने शिक्षा के महत्व को समझाया तथा इसके लिए पुणे में एक विद्यालय भी खोला। उन्होंने सेवाओं और स्थानीय संस्थाओं में भी सभी जातियों के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग रखी।

तमिलनाडु में ब्राह्मणों के वर्चस्व को कम करने के लिए रामास्वामी पेरियार द्वारा आंदोलन शुरू किया गया। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में दक्षिण भारत में विमुक्ति सभा और जस्टिस पार्टी अस्तित्व में आई। 1920 में जब ये पार्टी सत्ता में आई तो उसने ब्राह्मणों के वर्चस्व को कम किया। "ब्राह्मण जाति के प्रभुत्व तथा गांधी द्वारा प्रवर्तित वर्णाश्रम धर्म के सिद्धांतों के विरुद्ध श्री ई॰वी॰ रामास्वामी नायकर ने कांग्रेस से बाहर आकर 'आत्म गौरव' आंदोलन प्रारंभ किया। उन्होंने पृथक द्रविड़ राज्य स्थापना का नारा देकर 'द्रविड़ कागजम पार्टी' की स्थापना की।"[18]

रामास्वामी नायकर पेरियार के संघर्षों के परिणामस्वरूप तमिलनाडु में सन1922 में कम्युनल जी॰ ओ॰ की घोषणा हुई, जिसमें हाशिए पर जीवन व्यतीत कर रहे समाज को शिक्षा और रोजगार में आरक्षण दिया गया।

1926 में विधान मंडल के सदस्य बनने के उपरांत अंबेडकर ने महाड़ गांव के चावदार तालाब के पानी हेतु सत्याग्रह किया। अंबेडकर के इस सत्याग्रह का उच्च जातियों ने विरोध किया। उनकी रूढ़िग्रस्त मानसिकता को आघात पहुंचा।

17.गुलामगिरी- ज्योतिराव फूले,पृष्ठ संख्या-7

18.युद्धरत आम आदमी अप्रैल-जून 2013, नई जमीन की तलाश में है आज दलित साहित्य,पृष्ठ संख्या- 59

सत्याग्रह की अगली कड़ी में नासिक के 'कालाराम' मंदिर में प्रवेश की घटना थी। 2 मार्च, 1930 को हजारों पुरुषों तथा स्त्रियों ने अंबेडकर के नेतृत्व में मंदिर में प्रवेश किया। इस सत्याग्रह का ध्येय मानवाधिकारों को प्राप्त करना था जो अस्पृश्यों को नहीं प्राप्त था। इन सामाजिक आंदोलनों ने दलित मुक्ति के लिए नए इतिहास की नींव रखी।

अंबेडकर ने दलितों में चेतना जगाई कि मुक्ति के लिए शिक्षा, संघर्ष और संगठन अपरिहार्य है। संविधान का अनुच्छेद 15(4) तथा 16(4) जिसमें सामाजिक, शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के उत्थान का प्रावधान है और नस्ल,रंग,जाति व लिंग आदि के आधार पर भेदभाव के निषेध का प्रावधान है, वे सब संघर्षों का परिणाम हैं।

वर्तमान में दलित अपने अस्तित्व की रक्षा और अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए प्रयत्नरत हैं। अस्मिता का सवाल उनकी मुख्य समस्या है ताकि बिना किसी विभेद के वे जीवन व्यतीत कर सकें।

1958 में मुंबई के मोरबाग में प्रथम दलित लेखक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के बारे में बंधु माधव कहते हैं- "जिस प्रकार लेनिन के क्रांतिकारी विचारों का रूसी लोगों ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रचार करके रूसी क्रांति की मदद की थी, उसी प्रकार बाबा साहब अंबेडकर के विचारों को गांव-गांव तक पहुंचाने का कार्य दलित साहित्यकारों का है।"[19] स्पष्ट है कि दलित लेखकों ने बाबा साहब द्वारा चलाए गए सत्याग्रहों, आंदोलनों की घोषणाओं तथा उनके संदेश को लोगों तक पहुंचाया।

दलित साहित्य के आंदोलन को निश्चित दिशा देने और उसके विकास में 'अस्मितादर्श' पत्रिका की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। नामदेव ढसाल, केशव मेश्राम, वामन इंगले, जी पी पवार, दया पवार, यशवंत मनोहर आदि दलित रचनाकारों की रचनाओं ने दलित साहित्य को मजबूत एवं समृद्ध बनाया।

दलित आंदोलन और विमर्श को सशक्त करने में दलित पैंथर का महत्वपूर्ण योगदान रहा। दलित पैंथर का प्रादुर्भाव सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विषमता के कारण हुआ। हाशिए के समाज के प्रति बढ़ते अन्याय, शोषण का बोध दलित युवकों को होने लगा। इन युवकों का मानना था कि

19.वहीं, पृष्ठ संख्या- 61

केवल कविता, कहानी आदि लिखने से ही अन्याय, शोषण बंद नहीं होगा। वे साहित्यिक आंदोलन के साथ-साथ सामाजिक आंदोलन की भी आवश्यकता को महसूस कर रहे थे। अपनी अस्मिता को हासिल करने के लिए दलितों को सबसे पहले समाज के उन लोगों के खिलाफ मुखर होना होगा जो उन्हें अधम मानकर उनके जीने का हक छीन लेते हैं। इन अधिनायकों के विरुद्ध लड़कर समाज के नजरिए में परिवर्तन लाना होगा ताकि दलितों को अपना अधिकार मिल सके। शिक्षा के अभाव की वजह से दलित जागरूक नहीं थे जिसके कारण उनके अधिकार छीनकर उन्हें हाशिए पर धकेल दिया गया। लेकिन संघर्षों के उपरांत शिक्षा का अधिकार इन्होंने प्राप्त किया। जैसे-जैसे दलित शिक्षित होते गए वैसे-वैसे ही वे अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उठ खड़े हुए। दलितों ने अपने ऊपर हुए अत्याचारों को साहित्य में वर्णित किया और समाज में फैली कुप्रथा के खात्मे का शंखनाद किया। इस तरह दलित साहित्य ने दलित अस्मिता की खोज को लेकर दलितों की चेतना को जगाया।

1.2.2.स्त्री विमर्श:-

स्त्री विमर्श शब्द दो पदों के योग से बना है- 'स्त्री' और 'विमर्श'। स्त्री का अर्थ नारी, महिला, लड़की अर्थात लिंग के आधार पर स्त्री होना। विमर्श का मतलब है विचार, विवेचन, मीमांसा, बातचीत। अर्थात स्त्रियों को लेकर होने वाले विचार विवेचन को हम स्त्री विमर्श कहते हैं। इन विमर्शों का उद्देश्य स्त्री की परंपरागत छवि के स्थान पर नई छवि का निर्माण करना। स्त्री विमर्श रूढ़ परंपराओं, मान्यताओं को नकारता है। पुरुष सत्तात्मक समाज के दोहरे मानकों, मूल्यों व अंतर्द्वंद को समझने व पहचानने की गहरी अन्तश्चेतना व वर्षों से चली आ रही पुरुषों के वर्चस्व के खिलाफ स्त्री के हक को लेकर उठाई गई आवाज स्त्री विमर्श है। समाज में पुरुषों को जो छूट दी गई है उनमें स्त्रियों ने अपने लिए भी छूट मांगना शुरू कर दिया। इन माँगों में अवसर की समानता, समान कार्य के लिए समान वेतन एवं यौन उत्पीड़न का निषेध, लैंगिक बराबरी आदि शामिल है।

आज दुनिया की शायद ही कोई ऐसी जगह होगी जहां स्त्री ने अपनी उपस्थिति दर्ज न कराई हो। वर्षों से स्त्री, पुरुषों की अधीनता में वैसे ही रहती है जिस तरह से देश अंग्रेजों की अधीनता में था। समय के अनुसार सब कुछ बदलता रहता है। स्त्रियों ने अपने अस्तित्व के लिए स्वयं संघर्ष किया। उन्होंने

अपने ऊपर लगाए गए तमाम प्रतिबंधों को दृढ़ इच्छाशक्ति और संकल्प से हटा दिया। "स्त्री विमर्श में मध्यमवर्गीय स्त्री का पूरा संघर्ष प्रमुख रूप से लैंगिक समानता, शारीरिक शोषण, सामाजिक स्वतंत्रता से लेकर आर्थिक स्वतंत्रता तक सिमटा हुआ है। इस धारा की उत्पत्ति मुख्यत: पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। परंतु स्त्री विमर्श अपने सवालों के कटघरे में पुरुष को नहीं रखती बल्कि समस्त पुरुष व्यवस्था को खड़ा करती है। अतः कहा जा सकता है कि स्त्री विमर्श का स्वरूप पितृसत्ता के इर्द-गिर्द ही खड़ा रहता है।"

स्त्री विमर्श, स्त्रीवाद, नारीवाद आदि पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उनके मूल में स्त्री के अस्तित्व, अधिकार और मुक्ति के प्रश्न निहित हैं। स्त्री विमर्शहम विविध मंचों पर या साहित्य में करते हैं अतः इसकी कोई ऐसी परिभाषा देना कठिन कार्य है जो सर्वमान्य हो।

स्त्री विमर्श के लिए अंग्रेजी में 'Feminism' शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ 'Feminism is a range of social movements, political movement and ideologies that aim to define and establish the political economic, personal and social equality of the sexes.' अर्थात् स्त्रीवाद सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों और विचारधाराओं की एक श्रृंखला है जिसका उद्देश्य लिंगों की राजनीतिक, आर्थिक, व्यक्तिगत और सामाजिक क्षमता को परिभाषित और स्थापित करना है।

स्त्री विमर्श के संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा कहती हैं कि 'नारीवादी स्त्री विमर्श है नारी की यथार्थ स्थिति के बारे में चर्चा करना ही स्त्री विमर्श है।'प्रभा खेतान का मानना है- नारीवाद न मार्क्सवाद है और न पूंजीवाद। स्त्री हर जगह है। हर वाद में है, फैलाव में है, मगर संस्कृति के विस्तृत फलक पर आज भी वह वस्तुकरण की इस पारंपरिक प्रक्रिया को पुरुष दृष्टि से नहीं बल्कि स्त्री दृष्टि से देखने और समझने की जरूरत है।"[20]

कात्यायनी के अनुसार "स्त्री विमर्श अथवा स्त्रीवाद पुरुष और स्त्री के बीच नकारात्मक भेद-भाव की जगह स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। वस्तुतः इस रूप में देखा जाए तो स्त्री विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं तथा संभावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है।"[21]

20.हंस, अक्टूबर 1996, पृष्ठ संख्या- 76

21.हंस, मार्च 2000, पृष्ठ संख्या- 95

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि स्त्री विमर्श साहित्य में प्रचलित एक विमर्श है लेकिन इसके विपक्ष में सदियों से अभी पीड़ित स्त्रियों के शोषण और उत्पीड़न की दास्तान है। आज अपने संघर्ष के बदौलत वे हर क्षेत्र में अगली रेखा पर खड़ी नजर आ रही है। अपनी बात को रखने में सक्षम हो रही है। नारीवाद की संकल्पना पाश्चात्य चिंतन की देन है। उन्नीसवीं सदी में विलियम थॉमस तथा जान स्टुअर्ट मिल ने स्त्रियों द्वारा अपने अधिकारों को लेकर किए जा रहे संघर्ष में बढ़-चढ़ कर भाग लिया। विलियम थॉमस ने अपनी पुस्तक 'अपील ऑफ वन हाफ ऑफ ह्युमन रेस' के माध्यम से शादी-शुदा स्त्रियों के दैनिक जीवन का वर्णन किया है। मिल ने अपनी रचना 'द सब्जेक्शन ऑफ वुमन' में कहा स्त्रियों की परतंत्रता न केवल अनुचित है समस्त मानव समुदाय के प्रगति में बाधक है। मिल ने स्त्री अस्मिता और अधिकारों को लेकर आंदोलन किया। इसके बाद अपनी पुस्तकों और लेखों के माध्यम से स्त्री की स्थिति पर विचार किया। इसके बाद महिला लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में स्त्रियों की स्थिति पर विचार प्रकट किया। सीमोन द बोआर का 'सेकंड सेक्स', कैथरीन रागर्स का 'थिंकिंग आफ वूमेन', कैट मिलेट का 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' और मेरी वोलस्टोल क्राफ्ट का 'आई विनडिकेशन ऑफ़ द राइटस ऑफ वुमन' (I vindication of the rights of women)आदि में स्त्री के भाव, उसकी अस्मिता तथा चेतना पर प्रकाश डालकर स्त्री उपेक्षिता की दयनीय स्थिति पर विचार-विवेचन किया गया है।

"1960-70 के दशक में पश्चिम के नारीवादियों का प्रिय नारा था 'सिस्टरहुड इज पावरफुल'। निश्चय ही इस नारे ने एक स्त्री को दूसरी स्त्री से जोड़ा। इसने वर्ग, नस्ल, भाषा और देश की सीमाओं से अलग हर स्त्री को स्त्रीत्व की नियति से जोड़कर देखा।"[22]

आज नारीवादी आंदोलन में अश्वेत मध्यमवर्गीय स्त्रियों की पहुँच कम हुई है और श्वेत मध्यम वर्ग की महिलाओं का वर्चस्व है। इन श्वेत मध्यमवर्गीय महिलाओं का पूरा ध्यान लिंग-भेद की असमानता पर केंद्रित होता है जबकि नस्ल तथा वर्ग भी स्त्रियों की दयनीय स्थिति के लिए जिम्मेदार है। इस आंदोलन में औरतों की स्थानीय समस्याओं, जातीय हिंसा आदि से कोई संबंध नहीं है। न ही कार्यस्थल पर अश्वेत महिलाओं से होने वाले विभेद से नारीवादियों पर कोई फ़र्क पड़ता। धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि पश्चिम के नारीवादी आंदोलन व

22.नागफनी, अप्रैल-जून 2021, संपादक सपना सोनकर और अन्य, पृष्ठ संख्या-2

अन्य जगह के नारीवादी आंदोलन में आधारभूत फर्क है। और इस प्रकार पश्चिम का नारीवादी आंदोलन दिशा भटकाव का शिकार हो गया। अपनी किताब 'फेमिनिज्म एक्सपीरियेन्सेज' में सुशान बेसनेट लिखती हैं -"70 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में जिस किसी अमेरिकी नारीवादी के संपर्क में आई, मैंने पाया कि वे पूरी तरह से लैंगिकता की बातों में ही डूबी हुई है। उनसे बात होने पर बहस महिलाओं के सामने हमेशा उनके यौन जीवन के दौरान आने वाली समस्याओं की ओर मुड़ जाती थी।... यौन सुख के प्रश्न असाधारण रूप से महत्वपूर्ण हो गए थे तथा महिलाओं की यौन स्वतंत्रता को ही उनकी मुक्ति मान लिया गया था।"[23]

स्त्री विमर्श को भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो आधुनिक काल में स्त्री संबंधित लड़ाइयां एक आंदोलन के रूप में नवजागरण के पुरुष समाज सुधारकों द्वारा आरंभ की गईं। राजा राममोहन राय, ज्योतिबा फुले, विद्यासागर आदि ने नारी से संबंधित मुद्दों को उठाया और समाज में स्त्रियों को उचित सम्मान व अधिकार दिलाने का प्रयास किया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय स्त्रियां अपनीअस्मिता व अस्तित्व की लड़ाई में केवल दर्शक भर थीं। स्त्रियों के अधिकारों को लेकर पुरुषवादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करने वाली स्त्रियों की लंबी परंपरा है। इसमें पंडित रमाबाई, सावित्रीबाई फूले, नवाब फेजूनेसा चौधरानी, सरोजिनी नायडू, अबला घोष आदि शामिल हैं।

"भारत की आरंभिक आंदोलनकर्ताओं में प्रमुख थीं पंडिता रमाबाई और सावित्रीबाई फुले। दोनों ही उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सक्रिय रही। पंडिता रमाबाई ने स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया, हिंदू धर्म की रूढ़िवादिता पर आघात किया तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में स्त्रियों की स्वतंत्रता की बात की। उन्होंने स्वयं सदा स्वाधीन जीवन बिताया। सावित्रीबाई फुले ने स्त्रियों की शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण काम किया। उनके लिए अलग स्कूल खोला। एक तरह से हम उन्हें देश की पहली शिक्षिका कह सकते हैं।"[24]

भारतीय समाज में नारी की स्थिति अंतर्विरोध से भरी पड़ी है। इस अंतर्विरोध का प्रारंभ ऋग्वेद से होता है जिसमें कहीं उसे पूज्य माना गया है तो कहीं मुक्ति में बाधा डालने वाली। समाज में अनादिकाल से स्त्री को नारी-शक्ति, देवी, पूजनीय या 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता।','सहस्त्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते', 'या देवी सर्वभूतेषु' कहकर उसे महिमामंडित तो करते हैं किंतु जब उसके सम्मान, मान की बात आती है तो पुरुष बिदकने लगता है। यह

23.हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- डॉ० अमरनाथ, पृष्ठ संख्या- 386
24.वहीं, पृष्ठ संख्या- 386

हमारे समाज में स्त्रियों की सच्चाई है अन्यथासीता को अग्नि परीक्षा नहीं देनी पड़ती, सत्यवादी हरिश्चंद्र दान के लिए शैव्या का विक्रय न करते और द्रौपदी जुए में दांव पर नहीं लगती। टैगोर, प्रेमचंद, प्रसाद ने स्त्रियों की गाथा लिखी जरूर परंतु उसमें उनके प्रति दया, संवेदना, सहानुभूति का भाव अधिक, अधिकारों को लेकर विचार-विमर्श नगण्य था। महादेवी वर्मा ने कहा था "पुरुष के द्वारा स्त्री का चरित्र अधिक आदर्शवादी बन सकता है, परंतु अधिक सत्यनहीं। विकृति के अधिक निकट पहुंच सकता है परन्तु यथार्थ के अधिक समीप नहीं।"[25]

हमारे साहित्य और समाज में लगभग यही विरोधाभासी रवैया विद्यमान है। जहां एक ओर उसे देवी कहकर महिमामंडित किया जाता है वहीं दूसरी तरफ उसे मुक्ति मार्ग में बाधा का कारण भी माना जाता है। इन दो अलग-अलग विचारों के बीच स्त्री की सच्चाई क्या है? फिलहाल, वर्तमान में दशा यह है कि दुनिया की जमीन का मात्र एक प्रतिशत भाग स्त्रियों के नाम है, जबकि वह आधी आबादी हैं।

1.2.3. अल्पसंख्यक विमर्श:-

अल्पसंख्यक शब्द दो शब्दों के योग 'अल्प' और 'संख्यक' से निर्मित हुआ है। अल्प का अर्थ कम या न्यून और संख्यक का अर्थ संख्या है।

प्रामाणिक हिंदी कोश में 'अल्पसंख्यक' शब्द का अर्थ है- 'वह समाज जिसके सदस्यों की संख्या औरों के मुकाबले में कम हो। गिनती में थोड़ा या कम।'[26]

बृहत् हिंदी कोश में अल्पसंख्यक शब्द का अर्थ है- "कम जनसंख्या वाला समुदाय।"[27]

आक्सफोर्ड शब्दकोश में अल्पसंख्यक को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है- 'कम संख्या या कम भाग जो संपूर्ण के आधे से भी कम का प्रतिनिधित्व करता हो; लोगों का अपेक्षाकृत छोटा समूह जो जाति, धर्म, भाषा या राजनीतिक संदर्भ की दृष्टि से दूसरों से भिन्न हो।'

"1946 में संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग द्वारा अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों के संरक्षण पर एक विशेष उप-समिति नियुक्त की गई थी जिसने

25.अप्रैल जून 2021 नागफनी- संपादक सपना सोनकर, पृष्ठ संख्या-3

26.प्रामाणिक हिंदी कोश- संपादक रामचंद्र वर्मा, पृष्ठ संख्या- 76

27.वृहत हिंदी कोश - कालिका प्रसाद ,पृष्ठ संख्या- 92

'अल्पसंख्यक' को जनसंख्या के उन गैर प्रभावी समूह के रूप में परिभाषित किया था जो अपनी उन स्थिर जातीय, धार्मिक तथा भाषाई परंपराओं या विशेषताओं को बनाए रखना चाहते हैं जो शेष जनसंख्या की जातीय, धार्मिक तथा भाषायी परंपराओं से पूर्णतः भिन्न है।"[28]

उपर्युक्त शब्दावलियों एवं परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि 'अल्पसंख्यक' ऐसे समूह हैं जिसकी आबादी, संपूर्ण आबादी के आधे से भी कम हो तथाजो दूसरे से अलग हो तथा जो विशेष रूप से जाति, धर्म, परंपराओं तथा संस्कृति, भाषा आदि की दृष्टि से मुख्य वर्ग रहा हो।

भारतीय संविधान में 'अल्पसंख्यक' को स्पष्ट नहीं किया गया है। फिर भी अनुच्छेद 29, 30, 350 (क) और 350 (ख) में 'अल्पसंख्यक' शब्द का व्यवहार किया गया है।

अनुच्छेद-29 अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण-

"भारत के राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा"[29]

"राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूल वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा"[30]

अनुच्छेद 30 में अल्पसंख्यकों की विशेष रूप से दो वर्ग बताई गई है- धार्मिक और भाषायी। बाकी दो अनुच्छेद 350 (क) तथा 350 (ख) केवल भाषायी अल्पसंख्यकों के संदर्भ में है।

अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए समय-समय पर योजनाएं बनाई जाती रही हैं। सातवें संविधान संशोधन द्वारा अल्पसंख्यकों के मातृभाषा में शिक्षा देने की बात कही गई है।

अनुच्छेद 350 (क) प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएं-

"प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा

28.राष्ट्रीय धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट,2007, पृष्ठ संख्या-3

29.भारत का संविधान 2021- विधि और न्याय मंत्रालय, पृष्ठ संख्या- 15

30.वहीं, पृष्ठ संख्या- 15

की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा और राष्ट्रपति किसी राज्य को ऐसे निर्देश दे सकेगा जो वह ऐसी सुविधाओं का उपबंध सुनिश्चित कराने के लिए आवश्यक या उचित समझता है।”[31]

अनुच्छेद 350 (ख)-

भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी-

1- “भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी होगा जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करेगा।

2- विशेष अधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह इस संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के लिए उपबंधित रक्षोपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करें और उन विषयों के संबंध में ऐसे अंतरालो पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट करें, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दें और राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा और संबंधित राज्यों की सरकारों को भिजवाएगा।”[32]

भारत के गृह मंत्रालय के संकल्प दिनांक 12 जनवरी, 1978 की परिकल्पना के अंतर्गत अल्पसंख्यक आयोग अस्तित्व में आया। इस आयोग को स्थापित करने का उद्देश्य अल्पसंख्यक वर्गों की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और राजनीतिक सुरक्षा प्रदान करना साथ ही धर्मनिरपेक्ष परंपराओं की सुरक्षा, राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देना, गैर बराबरी तथा अंतर की भावना को खत्म करना था।

अल्पसंख्यक वर्गों के कल्याण के लिए संविधान में निश्चित प्रावधान तथा आयोग की स्थापना की गई। इन प्रावधानों तथा आयोग के बावजूद अल्पसंख्यकों की अस्मिता खतरे में पड़ जाती है, दूसरे समुदायों के साथ हिंसक परिस्थितियां बन जाती हैं। इन सबका क्या कारण है? जब कारण जाना जाता है तो सबसे बड़ा सत्य जो सामने आता है वह है ‘सांप्रदायिकता’। सांप्रदायिकता इन संघर्षों की जड़ में है, क्योंकि अपनी भाषा, धर्म और संस्कृति की रक्षा करना किसी भी दृष्टि से गलत कार्य नहीं है। लेकिन कोई समुदाय जब स्वार्थवश केवल अपने धर्म और संस्कृति को श्रेष्ठ मानने लगता है और अन्य धर्मों से वैमनस्य

31.वहीं, पृष्ठ संख्या-206
32.वहीं, पृष्ठ संख्या-207

रखता है, तब यही वैमनस्य उग्र रूप लेकर हिंसा में बदल जाता है। यहां सांप्रदायिकता को जान लेना आवश्यक हो जाता है- “सांप्रदायिकता के लिए अंग्रेजी में कम्युनिलिज्म (Communalism)शब्द प्रचलित है। सांप्रदायिक आधार पर बटे दो समुदायों के बीच झगड़े और मारकाट को सांप्रदायिकता कहते हैं।”[33]

सांप्रदायिकता को उकसाने वाले प्रमुख कारण हैं- धर्म रक्षकों द्वारा धर्मांध होकर धार्मिक भावनाओं को उकसाना, नेताओं द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए धार्मिक बातों को लेकर अफवाहें फैलाना आदि। देश को सांप्रदायिकता की वजह से ऐसे जख्म मिले हैं जो आज तक नहीं भरे हैं। इसी के आधार पर देश का विभाजन हुआ फिर भी इस समस्या का समाधान आज तक नहीं हो सका। प्रसिद्ध इतिहासकार बिपिन चंद्र का मानना है “भारतीय समाज कई ऐसे संप्रदाय में बटा हुआ है जिनके हित न सिर्फ अलग हैं बल्कि एक-दूसरे के विरोधी भी हैं। अलग-अलग समुदायों और समूह के हिंदू, मुस्लिम, सिख और ईसाई सिर्फ धार्मिक ही नहीं, बल्कि धर्म से परे मामले में भी अलग-अलग समूह की तरह आचरण करेंगे क्योंकि उनके धर्म अलग-अलग हैं। धर्म से परे इन मामलों में राजनीति भी है। इसी विश्वास से सांप्रदायिक विचारधारा का जन्म हुआ और इसी वजह से धर्मधारी समाज के लोगों के धर्मनिरपेक्ष हितों को भी अलग-अलग बांटकर देखा जाने लगा।”[34]

अल्पसंख्यकों के मन में बहुसंख्यकों के प्रति और बहुसंख्यकों के मन में अल्पसंख्यकों के प्रति साज़िशन जो गलतफहमी वर्षों पहले बोई गई थी वो आज भयंकर रूप धारण किया हुआ है, जिसकी वजह से भाईचारे और सौहार्द की भावना का क्षय हुआ है। भारत में सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय मुसलमान है और दुर्भाग्य यह है कि बहुसंख्यक हिंदू कौम के साथ इनका संबंध आजादी के बाद दोबारा कभी सौहार्द पूर्ण नहीं रहा। इन कौमों में हिंसा कम होने की अपेक्षा बढ़ती गई। सांप्रदायिकता दोनों समुदायों के बीच वैमनस्य और हिंसा की मुख्य वजह है जो उनकी सोच को संकीर्ण कर देती है लेकिन इस स्थिति से तभी मुकाबला किया जा सकता है जब संकोच और आपसी अविश्वास को खत्म किया जाएगा।

सांप्रदायिकता का प्रत्यक्ष संबंध धर्म विशेष से है, जिसकी वजह से अपनी कौम विशेष की भलाई के लिए मानवता को किनारे कर दिया जाता है।

33.हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली-अमरनाथ, पृष्ठ संख्या- 367

34.वहीं, पृष्ठ संख्या-367

जबकि कोई धर्म हिंसा करना नहीं सिखाता अपितु धर्म वह अंत:प्रेरणा है जो आदमी को इंसान बनाता है न कि हैवान। प्राय: धर्म के सरपरस्त अपने स्वार्थ के लिए धर्म के नाम पर समाज में कटुता, द्वेष, ईर्ष्या को बढ़ावा देते हैं। जबकि यह नितांत निजी मामला है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'भारत एक खोज' में लिखा है- "सांप्रदायिक झगड़ों का धर्म से कोई संबंध नहीं होता, हालांकि धर्म इन मुद्दों का बहाना बना जाता है। धार्मिक मतभेदों को सांप्रदायिक लोग राजनीति के लिए इस्तेमाल करते हैं और धर्म से राजनीतिक हित साधते हैं।"[35]

अल्पसंख्यक-वर्गों को सचेत होकर अपने हक के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। बहुसंख्यकों और सत्तासीन लोगों को अल्पसंख्यकों के कल्याण के बारे में सोचना विचारना होगा जिससे अधिकारों और फर्जों का समान वितरण हो। अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के बीच जो खाई है उसको पाटना अपरिहार्य है जिसके बिना समाज और देश का विकास संभव नहीं।

1.2.4. आदिवासी विमर्श:-

'आदिवासी' शब्द को अभी तक संवैधानिक मंजूरी नहीं मिली है लेकिन स्वाधीनताआंदोलन के नेतागण विभिन्न अवसरों पर आदिवासी शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। संवैधानिक शब्द 'जनजाति' होते हुए भी जनमानस में आदिवासी शब्द ही प्रचलित है और शासन-प्रशासन द्वारा भी बिना मुमानिअत के आदिवासी शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। वैसे तो आदिवासियों के लिए बहुत से शब्दों का प्रयोग होता है जिसमें कुछ उसे निकृष्ट बताने के लिए तो कुछ धार्मिक और राजनीतिक लाभ के लिए प्रयुक्त किये जाते रहे हैं। धार्मिक और राजनीतिक लाभ के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उसमें जनजाति, वनवासी, आदिवासी तथा गिरिजन है। ये शब्द पर्याय न होकरसमानार्थी प्रतीत होने वाले भिन्न अर्थ वाले शब्द हैं। भाषा विद्वानों के अनुसार वन में निवास करने वाले समुदाय को वनवासी कहते हैं, गिरि (पहाड़) पर रहने वाले को गिरिजन कहते हैं, इसी तरह जोआदिकाल से निवास करता आया हो उसे आदिवासी कहते हैं। इन तीनों शब्दों को संवैधानिक शब्द जनजाति के दायरे में रखकर जनजातियों के लिए बनी योजनाओं से लाभान्वित किया जा रहा है। जबकि प्रसिद्ध आदिवासी साहित्यकार हरिराम मीणा आदिवासी का तर्जुमा

35.वहीं, पृष्ठ संख्या-368

अनुसूचित जनजाति उचित नहीं मानते हैं। "क्षमा करें, ट्राईब का हिंदी अनुवाद जनजाति गलत है क्योंकि आदिवासी समाज में जाति की कोई अवधारणा नहीं रही। आदिवासियों के भिन्न-भिन्न नाम या संज्ञाएँ उनके अंचल, गणचिन्ह तथा गोत्र पर आधारित रहे हैं। यह एकमात्र समाज है जो जाति की अवधारणा को अपने यहां स्थान नहीं देता।"[36]

आदिवासी समूह में रहते हैं और विशेष प्रकार की बोली-भाषा का प्रयोग करते हैं। ये मुख्यधारा से दूर जंगलों, पहाड़ों में अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करते हैं। शिक्षा का अभाव, अंधविश्वास, जादू-टोना भी उनके पिछड़ेपन की वजह है और विपन्नता में जीवन व्यतीत करने के लिए वे अभिशप्त हैं। ये आदिवासी समुदाय एक-दूसरे से बहुत मामलों में भिन्न होते हैं तथा अपनी संस्कृति और विश्वास पर अपना जीवन जीते हैं। "भारत में 292 आदिवासी समूहों की गणना की गई है। आमतौर पर देश की सामान्य धारा से संबंध होते हुए भी इनके अनेक रीति-रिवाज अब भी भिन्न है।"[37]

1.2.4.1.आदिवासी: अर्थ एवं परिभाषा:-

वृहत हिंदी शब्दकोश में 'आदिवासी' शब्द का अर्थ "किसी देश का मूल निवासी"[38] बताया गया है।

दरअसल 'आदिवासी' किसी देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है। आदिवासी पद का 'आदि' उन समुदायों के आदिम युग तक के अस्तित्व व इतिहास का परिचायक है।

आदिवासी शब्द को परिभाषित करना काफी कठिन काम है। आदिवासी शब्द के साथ Indigenous, Aboriginal, Primitive (आदिम), Native, Naive (भोला-भाला) Savage (जंगली), मूलनिवासी, गिरिजन, जंगली जैसी संज्ञाएँ प्रयुक्त होती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में मानवशास्त्री 'Tribe' की अवधारणा से बहुत प्रभावित हुए। 'Tribe' मूल्य निरपेक्ष शब्द नहीं है; इसके व्यवहार के पीछे, गहरे सामाजिक, राजनीतिक संदर्भ हैं। पश्चिम में 'ट्राईब' शब्द का अर्थ जंगली, बर्बर समूह से है जो आदिम स्थितियों में रहते हैं। "ट्राइब पद आदिवासियों के

36.प्रगतिशील वसुधा अंक 86, आदिवासी शब्द विमर्श, पृष्ठ संख्या- 205
37.भारतीय संस्कृति कोश-लीलाधर शर्मा, पृष्ठ संख्या- 98
38.वृहद हिंदी शब्दकोश- (संपादक) कालिका प्रसाद, पृष्ठ संख्या-125

इतिहास और उनके जीवन में हो रहे परिवर्तनों को नकारता है।"[39] 'ट्राईब' पद आदिवासियों की सही पहचान नहीं कराता अपितु आदिवासियों के संदर्भ में भ्रम पैदा करता है और उनके जीवन की कठिनाइयों को नकारता है। अतः यह शब्द उचित नहीं है। Indigenous, Aboriginal तथा देशज का अर्थ लगभग समान है। ये पद उन व्यक्ति-समूहों के द्योतक हैं, जो किसी स्थान विशेष के सबसे पुराने निवासी हैं। "देशज लोग, समुदाय या राष्ट्र वे हैं जिनकी, अपनी सीमाओं के अतिक्रमण व उपनिवेशीकरण से पहले, वहां विकसित समाजों से ऐतिहासिक निरंतरता रही है और वे इन सीमाओं में या इनके हिस्सों में पनप रहे समाजों के दूसरे तबकों से अपने आप को अलग मानते हैं।"[40]

इसलिए देशज लोगों को अपने रीति-रिवाज के अनुसार निश्चित करने का हक होता है। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए 'जनजाति' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द भी आदिवासियों की विशेषताओं को समाहित करने में असमर्थ है। इसी तरह आदिवासियों को बर्बर, जंगली, गिरिजन भी कहा जाता है। इन शब्दों के पीछे साजिश है जिससे आदिवासी समाज, संस्कृति को पिछड़ा बताया जा सके। इसलिए ये सारे शब्द आदिवासियों की सही व्याख्या नहीं करते हैं।

भारतीय परिदृश्य के संदर्भ में देखा जाए तो 'आदिवासी' सबसे उपयुक्त 'पद' है। यह पद आदिवासियों के संघर्ष और उनकी एकता को गहराई से उकेरता है। यह शब्द आदिवासी समाज एवं संस्कृति का सही परिचय कराता है। 'आदिवासी' शब्द में एक खासियत है जो उसे ऊपर के शब्दों से अलग करता है, वह है 'आंदोलन धर्मिता'। अतः कहा जा सकता है कि किसी देश में आरंभ से निवास करने वाला मानव सभ्यता का वह समूह जो एक समान संस्कृति, एकता, भाषा विशेषताओं को स्वीकारता है, आदिवासी है।

आदिवासी समाज की व्याप्ति तथा उनकी खूबियों पर दृष्टिपात करने से मालूम चलता है कि इस जीवित तथा विकासमान समुदाय को परिभाषा की परिधि में लानालगभग असंभव कार्य है। फिर भी समय-समय पर विद्वानों ने 'आदिवासी' शब्द को परिभाषित करने का प्रयास किया है। मानक हिंदी

39.हिंदी साहित्य में आदिवासी हस्तक्षेप- गौतम भाईदास कुंवर, पृष्ठ संख्या-14
40.आदिवासी साहित्य विमर्श- गंगा सहाय मीणा, पृष्ठ संख्या-23

शब्दकोश में जो परिभाषा लिखी है- "किसी स्थान पर रहने वाले वहां के मूल निवासी यानी आदिवासी हैं।"[41]

भारतीय संस्कृति कोश में आदिवासी की परिभाषा जो मिलती है वह इस प्रकार है- "नागर संस्कृति से दूर रहने वाले मूलनिवासी एवं आर्य और द्रविड़ इन दो मानव समाज को छोड़कर उनसे भी पूर्व भारत या अन्य विदेश से भारत के पर्वत-पहाड़ियों, जंगलों में रहने वाले अन्य जाति को आदिवासी कहा जाता है।"[42]

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में आदिवासी की परिभाषा निम्न प्रकार से है- "एकाधिक परिवारों से बने परंपरागत समाज का वह वर्ग जो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषिक तथा रक्त के स्तर पर बंधे हों और जो एक क्षेत्रीय नेतृत्व के अधीन रहते आए हो।"[43]

इंपीरियल गजेटियर के अनुसार "एक आदिम जाति परिवारों का वह समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं तथा एक सामान्य क्षेत्र में या तो वास्तव में रहते हैं या अपने को उसी क्षेत्र से संबंधित मानते हैं तथा यह समूह अंतर विवाही भी होते हैं।"[44]

रेमंड फर्थ ने आदिवासियों को परिभाषित करते हुए कहा है- "आदिवासी समुदाय विशेष एक ही सांस्कृतिक श्रृंखला का मानव समूह है जो साधारणतः एक ही भूखंड पर रहता है, एक ही भाषा-भाषी है तथा एक प्रकार की परंपराओं व संस्थाओं का पालन करता है और एक ही सरकार के प्रति उत्तरदाई होता है।"[45]

डॉ॰ गोविंद गारे आदिवासी की परिभाषा इस प्रकार देते हैं- "आदिवासी ही इस देश के मूल निवासी हैं। बाहर से आए हुए आर्यों ने भारत के सभी प्रांतों पर वर्चस्व स्थापित करते हुए साम्राज्य विस्तार किया। इसलिए आदिवासियों को जंगल, पहाड़ियों में आश्रय लेना पड़ा। परिणामस्वरूप आदिवासी हमेशा के लिए नागर संस्कृति से दूर रहे, साथ-ही-साथ अन्य लोगों ने उनकी उपेक्षा

41.मानक हिंदी शब्दकोश- संपादक शिवप्रसाद भारद्वाज शास्त्री, पृष्ठ संख्या-12
42.भारतीय संस्कृति कोष- संपादक लक्ष्मण शास्त्री जोशी, खंड-1, पृष्ठ संख्या-228
43.आदिवासी दुनिया- हरिराम मीणा, पृष्ठ संख्या-8
44.आदिवासियों के बीच- प्रो॰ प्रेमचंद जैन, पृष्ठ संख्या-18
45.आदिवासी दुनिया- हरिराम मीणा, पृष्ठ संख्या-8

की।"[46]

जॉर्ज पीटर मर्डाक ने कहा है- "यह एक सामाजिक समूह होता है जिसकी एक अलग भाषा होती है तथा विशिष्ट संस्कृति व एक स्वतंत्र राजनैतिक संगठन होता है।"[47]

डॉ॰ डी॰ एन॰ मजूमदार लिखते हैं-"एक ऐसा सामाजिक समूह जो कि भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है, एक समान है। लेकिन अलग-अलग काम करने वाला है। ऐसी जमात जो कि अपनी बोली-भाषा, वंशज को पहचानकर अन्य जमात से सामाजिक रुप में अंतर रखती है तथा अपने क्षेत्र में अधिकार का उपभोग स्वयं भोगती है, अन्य जमातों और आदिवासी जमातों में अंतर है, इस जमात की सभी कल्पनाएं प्रकृति पर आधारित हैं इसलिए आदिवासी जमात और अन्य में बहुत बड़ा अंतर है।"[48]

1.2.4.2. आदिवासियों की विशेषताएँ:-

उपरोक्त विभिन्न परिभाषाओं से आदिवासियों की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं-

(1) निश्चित भूभाग

(2) एकता की भावना

(3) सामान्य बोली

(4) अन्तर्विवाही समूह

(5) रक्त सम्बन्धों का बन्धन

(6) रक्षा की आवश्यकता का अनुभव

(7) राजनीतिक संगठन

(8) धर्म का महत्त्व

(9) सामान्य नाम

(10) सामान्य संस्कृति

(11) गोत्रों का संगठन

46.हिंदी साहित्य में आदिवासी हस्तक्षेप- गौतम भाईदास कुंवर, पृष्ठ संख्या-15
47.आदिवासी दुनिया- हरिराम मीणा, पृष्ठ संख्या-8
48.हिंदी साहित्य में आदिवासी हस्तक्षेप- गौतम भाईदास कुंवर, पृष्ठ संख्या-15

1.3. भारतीय आदिवासी: स्वरूप और व्याप्ति:-

वैश्विक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि आदिवासी दुनिया के सभी देशों में निवास करते हैं। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, भूटान आदि देशों में आदिवासियों का अस्तित्व है। इन तमाम देशों में आदिवासियों की अनेक जातियां रहती हैं। भारत में भी आदिवासी आदिमकाल से प्रकृति की गोद में रहता आया है। देश के विभिन्न राज्यों में आदिवासी निवास कर रहे हैं। हिमालय प्रदेश में थारू, मिजो, कचारी, भोट, गुज्जर, बिमसा नगा आदि; मध्य भारतीय क्षेत्र में संथाल, मुंडा, उरांव, हो, गोंड, बैगा, कोरकू, हल्खा, बिरहोर, बोंदों, खोंड, सोवर आदि; पश्चिमी क्षेत्र में मीणा, भील, गमीत, महादेव, डफसी, घोटिया, कोली आदि; दक्षिण क्षेत्र में पनियन, फादर, यारावा, अंडी, भेरुकुलू, कोंडा डोरा, इरुला आदि तथा द्वीप समूह क्षेत्र में अंडमानी, ओंगी, जारवा, सेंटेंनेलिस निकोबारी आदि जनजातियां रहती हैं। इनमें से कुछ आदिवासी समूहों ने अपनी परंपरा और साहित्य को सुरक्षित रखा है। इन आदिवासियों की नृत्य पद्धति, परिधान, अस्त्र-शस्त्र और आचार-व्यवहार विविध और कलापूर्ण है।

आज आदिवासी चेतना से लैस है। वह नए विचारों और क्रांतियों से परिचित हुआ है। अब आदिवासी देश के वर्णवादी और प्रभुत्ववादी समाज के घिनौने चेहरे को पहचान चुका है। वह अपने अधिकार, अस्तित्व तथा अस्मिता को लेकर सजग हुआ है। यह सजगता आदिवासी साहित्य में दिखाई दे रही है। आदिवासी भावों की अभिव्यक्ति वाचिक तरीके से करते थे, अब वे अपनी समस्याओं, संघर्षों को लिखित रूप में भी व्यक्त करने लगे हैं। साथ ही अपनी भाषा, संस्कृति और उदात्त जीवन पद्धति को प्रकट कर हिंदी साहित्य को भी समृद्ध कर रहे हैं। आज आदिवासियों में अपनी संस्कृति, इतिहास, भाषा आदि की तफ्तीश करने और उसे बाहरी दुनिया से परिचय कराने की चेतना भी आई है।

भौगोलिक आधार पर भारत के आदिवासियों को कई भागों में बांटा गया है। इस संबंध में बी॰सी गुहा तथा डी० एन० मजूमदार का वर्गीकरण उल्लेखनीय है। गुहा ने भारतीय जनजातियों को तीन भौगोलिक क्षेत्रों में वर्गीकृत किया है:-

1. उत्तर एवं उत्तर पूर्वी क्षेत्र- जो कि उत्तर में लेह् से लेकर पूर्व में लुशाई पर्वत तक फैला हुआ है।

2. मध्यवर्ती क्षेत्र- जो गंगा नदी के दक्षिण तथा कृष्णा नदी के उत्तर तक फैला हुआ है। नर्मदा तथा गोदावरी नदियों के बीच के पर्वतीय प्रदेश में अति प्राचीन काल की जनजातियां निवास करती हैं।

3. दक्षिणी क्षेत्र- में कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश आता है। दक्षिणी प्रदेश की समस्त जनजातियां इसी क्षेत्र में आती हैं।[49]

मजूमदार ने भौगोलिक आधार पर विभाजन किया है। भारत में आदिवासियों का वितरण विभिन्न प्रदेशों में दिखाई देता है, जिनका बंटवारा निम्न प्रकार से किया गया है-

1. **उत्तर एवं पूर्वोत्तर क्षेत्र-** भारत के इस क्षेत्र में पिरमी, लेपचा, डफला, गारो, खासी, नागा, कुकी, अबोर, चकमा, गुरुंग, लाखेर, विन गलौंग आदि प्रमुख आदिवासी जनजातियाँ हैं।

2.पश्चिम एवं पश्चिमोत्तर क्षेत्र- इस क्षेत्र में डबला, भील, गरासिया, मीणा, बंजारे, महादेव, कोली, वार्ली, कटकरी आदि प्रमुख आदिवासी जन-जाति हैं।

3.मध्यवर्ती क्षेत्र- इस क्षेत्र में देश की सर्वाधिक जनजातियां रहती हैं। संथाल, मुंडा, बिरहोर, बोंदों, खोंड, सोरा, ज्वांग, गोंड, बैगा, कोल, कोरकू, कमार, भूमिया आदि आदिवासी जनजातियों का वास है।

4.दक्षिणी क्षेत्र- इस क्षेत्र में कादर, पनियन, पुलियन, यरावा, नौकाडा, कुरावान, माला, इरुला, कोंडा डोरा, भेरूकूल, अंडी आदि आदिवासी जनजातियां रहती हैं।

5.द्वीप समूह क्षेत्र- अंडमानी, ओंगी, जारवा, निकोबारी, सेंटिनेलिस, शौम्पेन आदि।

ये आदिवासी भौगोलिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रदेशों में एक दूसरे से भले दूर हो लेकिन उनकी बोली-भाषा और प्रकृति से सह-अस्तित्व का भाव उन्हें एक सूत्र में बांधे रखता है।

49.भारतीय जनजातियां संरचना एवं विकास- हरिश्चंद्र उत्प्रेती, पृष्ठ संख्या-12

1.3.1. भारतीय आदिवासी और उनका समाज:-

आर्यों के आने के पूर्व भारतवर्ष के मूलनिवासी आदिवासी थे। वे इस धरती के आदिम निवासी थे। उनकी संस्कृति मानवीय और आदिम समाजवादी थी। उनके समाज में निजी संपत्ति जैसा कोई विधान नहीं होता था। आदिवासी समाज में कोई वर्ण व्यवस्था नहीं थी। वे प्रकृति की गोद में शांति से रह रहे थे। बाद में लगभग 3000 ई.पू.में आर्यों ने अपनी बढ़ती आबादी के कारण जमीनों और जंगलों पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया। उन्होंने आदिवासियों को आपस में लड़ा दिया और इस प्रकार आदिवासियों से उनकी संपदा छीनने लगे। आर्यों के साथ उनके संघर्ष होने लगे जिसमें आर्य जीतते गए और आदिवासियों को जंगल में सिमटना पड़ा।

प्र॰ रा॰ देशमुख का मानना है- "जब भारत देश में आर्य लोग आ गए और यहां अपनी झोपड़ी तैयार की, साथ ही अपने लोगों की संख्या और शस्त्र वृद्धि की। अर्थात लोगों की संख्या और शास्त्रों के बल पर यहां के लोगों की अनाज, गौएं, खेती और तालाब आदि पर कब्जा किया और यहां के लोगों का बड़ी संख्या में संहार किया। उसी जगह पर अपनी सत्ता स्थापित करके यहां के मूल निवासी लोगों का नाश किया।"[50]

आदिवासियों की आजीविका व अर्थव्यवस्था का एकमात्र स्रोत जंगल है। आजादी के बाद जंगलों की कटाई में बेतहाशा वृद्धि हुई है।वर्तमान में थोड़ी ही जमीन पर जंगल बचा है। अकाल के समय वनोपज पर निर्भरता बढ़ जाती है। आदिवासी जंगल को अपनी संपत्ति मानते हैं।

भारत में हाशिए के समाज की स्त्रियों की स्थिति हमेशा दयनीय रही है। आदिवासी समाज की स्त्रियों पर दृष्टिपात करने पर उनकी मनोदशा एवं जीवन-दशा की जानकारी मिलती है। गरीबी के कारण इनका दैहिक शोषण हो रहा है। आदिवासी स्त्रियां परिवार के देखभाल के लिए घर से बाहर निकलती हैं। लेकिन पुरुष बाहर उसे अकेला पाकर बाघ की तरह टूट पड़ता है। गरीबी के कारण वह गंदगी साफ करती है फिर भी लोलुप व्यक्ति उसका पीछा नहीं छोड़ता। उसे तरह-तरह की मुसीबतों कासामना करते हुए दयनीय स्थिति में जीना पड़ रहा है।

50.आदिवासी विमर्श-संपादक रानू कदम

उपभोक्तावादी संस्कृति ने आदिवासी संस्कृति को अपकृष्ट बनाने में कोई कमी नहीं छोड़ी है, जिसका सबसे ज्यादा प्रभाव आदिवासी स्त्रियों पर पड़ा है। इसमें दिकुओं द्वारा यौन शोषण प्रमुख है। उनकी गरीबी का फायदा उठाकर वे उनसे यौन संबंध स्थापित करते हैं; जब स्त्री गर्भवती हो जाती है तो भाग जाते हैं। मां बनने पर जब बच्चे के बाप का नाम पूछा जाता है तो वह बताने में अक्षम पाती है। ऐसे में आदिवासी समाज उसे समाज से बेदखल कर देता है। जंगल के साथ आदिवासी स्त्री का नाभि-नाल का संबंध है। जंगल में ही जन्म, जंगल से मित्रता और बाद में उसके बिछड़ने की पीड़ा, कसक जैसा अंतर्द्वंद अंदर ही अंदर उसके जीवन को त्रासद बना देता है।

आदिवासी प्राकृतिक संपदा से संपन्न क्षेत्रों में निवास करने के बावजूद आधारभूत सुविधाओं से कोसों दूर रहा है। उसे अपने वजूद को बचाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। दुनिया की सबसे पुरातन सभ्यता के संवाहक समाज की आज दयनीय हालत है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक आदिवासियों को बाह्य आक्रमण झेलना पड़ा है। आदिवासी प्रकृति पर आश्रित रहता है और उसी से अपनी जरूरत पूरा करता है। बदले में वह जंगल का संरक्षण करता है। लेकिन जब से बाहरी लोगों की नजर जंगलों पर पड़ी है, तबसे जंगल और आदिवासी दोनों तबाह होने के लिए विवश हैं।

बदलते समय के अनुसार कुछ आदिवासी,आरक्षण के फलस्वरूप सरकारी एवं सार्वजनिक उपक्रमों में आसीन हैं, सुखी हैं।जंगल का संरक्षण, उसका विस्तार और देख-रेख जनजातियों के लिए चुनौती का काम है जो इनके सहभाग और भागीदारी के बिना असम्भव है। बदलती परिस्थिति के अनुरूप जंगल में मुनाफे की आकांक्षा के साथ-साथवन के पर्यावरण का समान अनुपात बनाए रखने पर भी बल देना चाहिए।

साथ ही भारतीय आदिवासियों की कला का व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया गया है। अलग-अलग आदिवासी समुदायों में उच्च स्तर की कला दृष्टिगोचर होती है। गणतंत्र दिवस और स्वाधीनता दिवस के अलावा विभिन्न पर्वों एवं अन्य सांस्कृतिक अवसरों पर आदिवासी कलाओं को देखा जा सकता है। आदिवासियों पर काम करने वाले विशेषज्ञों ने आदिवासियों के नृत्य-संगीत, मूर्ति कला आदि की भूरी-भूरी प्रसंशा की है। गोंड आदिवासियों द्वारा किये जाने वाले करमा नृत्य के अवसर पर ढोल, बाँसुरी, करताल झांझ आदि अनेक प्रकार

के वाद्य यंत्रो का प्रयोग किया जाता है। आदिवासी लकड़ी और पत्थर की मूर्तियाँ बनाने के साथ चित्रकला में भी निपुण होते हैं। आदिवासी विभिन्न पर्व, अनुष्ठान के अवसर पर शरीर को तरह-तरह के रंगों से रंगते हैं और उस पर चित्रकारी करते हैं। आदिवासियों के यहाँ कौड़ियों के बने जेवर तथा टोटम के झण्डे भी कला के नमूने होते हैं। विभिन्न प्रकार की पोशाकों को तथा सिर पर पहनने वाले कपड़ों को तरह-तरह से सजाया जाता है। विवाह में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं पर आकर्षक कलात्मक आकृतियाँ बनाई जाती हैं। गृहस्थी की वस्तुओं पर भी चित्रकारी की जाती है। नृत्य में विभिन्न प्रकार के चेहरों का प्रयोग किया जाता है। चित्रों में मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं, पक्षियों और शिकार के दृश्यों का चित्र बनाया जाता है।

आदिवासियों की कला का कौशल और श्रेष्ठता की पुष्टि हाबेल के इस कथन से होती है- "आदिम जातियों की कला का क्षेत्र तकनीकी भद्देपन से लेकर उच्च कौशल तक, बालकों की सरलता से लेकर आश्यर्चजनक जटिलता तक प्रकृतिवाद तथा यथार्थवाद से रूढिगत आदर्शों तक विस्तृत है।" आदिवासियों की कला की विशेषता है कि यह कला के लिए कला न होकर जीवन के लिये कला है। ये कला-कृतियाँ रोजमर्रा के जीवन में उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं पर बनाई गई हैं। आदिवासियों में कला और तकनीकी का अद्भुत मिश्रण पाया जाता है।

वस्तुतः आदिवासी कला बहुत विस्तृत स्वरूप में है। शोध की सीमा के कारण यहाँ आदिवासी कला का विस्तृत परिचय देना उचित नहीं है।

1.3.2. आदिवासियों की समस्याएँ:-

जब से बाहरी समाज का आदिवासियों के क्षेत्र में हस्तक्षेप हुआ है तब से उनके सामने अनेक समस्याएं आ गई हैं। मुस्लिम शासन के पूर्व आदिवासी साधारणतया समाज की मुख्य धारा से अलग थे। मुस्लिम शासकों ने शासन चलाने के सिलसिले में राजस्व संग्रह करने की प्रक्रिया चलाई। मुस्लिम शासकों ने राजस्व तो लिया परन्तु आदिवासियों के रीति-रिवाजों और परम्पराओं में कोई दखल नहीं किया। आदिवासियों का शोषण अंग्रेजों के आने के बाद प्रारंभ हुआ। इसके निम्न कारण थे-

(क) अंग्रेज आदिवासियों पर हुकूमत करना चाहते थे।

(ख) प्राकृतिक संपदा से संपन्न आदिवासी क्षेत्रों को अंग्रेज अपने अधिकार में

लेना चाहते थे।

(ग) तर्क के बहाने ये लोग आदिवासियों को इसाई धर्म की शिक्षा देते थे।

सरकार की अनेक योजनाओं के संचालित होने के बावजूद भी आदिवासी समाज स्वास्थ्य, शिक्षा, आय, पीने का साफ पानी आदि मूलभूत सुविधाओं के लिए आज भी तरस रहे हैं। वर्षों से शोषित यह समाज यथास्थिति में जीने के लिए अभिशप्त है। आदिवासियों की समस्यायें प्राकृतिक तो होती ही हैं साथ ही यह मानवनिर्मित भी होती हैं। विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों की समस्या थोड़ी बहुत अलग हो सकती है किन्तु बहुत हद तक यह एक समान ही होती है। आदिवासी क्षेत्रों की प्रमुख समस्याएं निम्नलिखित हैं-

(1) अस्तित्व के लिए संघर्ष:-

आज आदिवासियों के सामने अपने अस्तित्व को बचाए रखने की बहुत बड़ी समस्या पैदा हो गई है। वे अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए लगातार संघर्ष कर रहे हैं। आज जरुरत है कि गणतन्त्र दिवस और स्वतंत्रता दिवस की झांकी से आगे बढ़कर आदिवासियों के अस्तित्व की रक्षा और उनके समग्र संयोजित विकास पर बात हो। वर्तमान में आदिवासी खुद दुविधाग्रस्त में हैं। यह दुविधा नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के बीच संघर्ष से पैदा हुई है।

(2) भूमि हस्तान्तरण:-

आदिवासी अपनी आजीविका के लिए जंगल या कृषि पर आश्रित होते हैं। अधिकांश आदिवासी कृषक हैं। बढ़ती आबादी के कारण भूमि की मांग में बेतहाशा वृद्धि हुई है जिसके चलते बाहरी लोगों द्वारा सस्ते दामों पर आदिवासियों की जमीन को खरीदा-बेचा जाने लगा। इस जमीन पर अब बाहरी लोग अपना आशियाना बना रहे हैं या व्यवसाय कर रहे हैं। भूमि हस्तान्तरण की वजह से आदिवासियों की स्थिति सोचनीय है। आदिवासी जब से मुख्यधारा की आर्थिक संस्थाओं के संपर्क में आए है, उनकी भूमि का हस्तांतरण बढ़ गया है। प्रत्येक खर्च के साथ आदिवासी को धन की आवश्यकता पड़ी लेकिन आय का अन्य स्रोत उसके पास नहीं रहा, परिणामस्वरूप उन्होंने अपनी जमीन को गिरवी रखा या उसको बेच दिया।सरकार ने विकास और औद्योगीकरण के नाम पर उनकी जमीनों पर ज़बरन अधिकार कर लिया। भूमि हस्तांतरण के मूल कारणों में से कर्ज भी एक है। सरकार ने कानून बनाकर आदिवासियों की जमीन

का स्थानान्तरण या बिक्री को प्रतिबंधित करने से भूमि का गैर-आदिवासियों के हाथों में पहुँचने का सिलसिला रुका ज़रूर है लेकिन ख़त्म नहीं हुआ है।

(3) कर्ज की समस्या:-

आय के साधनों के अभाव में आदिवासियों की ऋणग्रस्तता बढ़ गयी। महाजनों और साहूकारों ने ऊंची ब्याज दर पर कर्ज देकर गरीबी बढ़ा दी। इन महाजनों और साहूकारों द्वारा आदिवासियों को आसानी से कर्ज मिल जाता है जिसकी वजह से आदिवासियों में शराब का सेवन, शादी में स्त्रीधन की रकम में बढ़ोत्तरी हुई है। इस प्रक्रिया को समाप्त करने के लिए सरकार ने कानून बनाई परन्तु इसकी उपेक्षा कर आदिवासियों की जमीन हड़पी जा रही है। इन प्रभावशाली कारणों से प्रेरित होकर राज्य सरकार ने साहूकारों को आदिवासी क्षेत्रों में पहुँचने से रोक दिया। राज्य ने बैंक और सहकारी सोसायटी को प्रेरित किया कि वे अपेक्षित रूप से थोड़े व्याज में आदिवासियों की सहायता करें। सरकारी संस्थाओं के द्वारा कर्ज की जटिल प्रक्रिया और आदिवासियों में शिक्षा का अभाव भी कर्ज की समस्या का कारण है।

(4) पलायन की समस्या:-

विस्थापन की समस्या आदिवासियों की प्रमुख समस्याओं में से एक है। आदिवासी शुरू से ही सीमित और संयमित रहा है, उसने प्रकृति से उतना ही लिया जितने से उसका काम चल जाए लेकिन पूंजीपतियों की लोलुप दृष्टि और तथाकथित विकास ने उन्हें अपनी ही जमीन से बेदखल कर दिया। अधिकतर खनिज भंडार आदिवासी क्षेत्रों में हैं। इन खनिजों के कारण आदिवासियों को विस्थापित होने के लिए मजबूर होना पड़ता है। आजीविका के लिए उन्हें दर-दर भटकना पड़ता है।

(5) बंधुआ मजदूर:-

एक दौर था जब आदिवासियों की अपनी स्वतंत्र अर्थव्यवस्था हुआ करती थी। जल-जंगल-जमीन पर वहां के स्थानीय आदिवासियों का अधिकार होता था। प्रकृति के विभिन्न संसाधनों पर उनका सामूहिक अधिकार होता था और सामूहिक हित में उनका उपयोग होता था।वह मुख्यधारा में प्रचलित‘मुद्रा’ जैसी किसी भी अवधारणा से अपरिचित था। उसके पास जितना था उसी से वह संतुष्ट था। अतिरिक्त पूंजी निर्माण और मुनाफाधर्मी सभ्यता से उसका कोई लेना देना नहीं था। किन्तु पूंजीवादी सभ्यता के आनेसे आदिवासियों की परम्परागत

अर्थव्यवस्था ढह गई। जंगल आदिवासी अर्थव्यवस्था की रीढ़ थी उस पर पूंजीपतियों की नजर लग गयी। क्षुद्र सामंती-साम्राज्यवादी स्वार्थों के लिए पहले पशुबल से और फिर वैध-अवैध तरीकों से आदिवासियों को उनकी भूमि और जंगलों से बेदखल कर दिया गया, जिसकी वजह से आदिवासियों में नितांत गरीबी बढ़ी और आय एकदम शून्य हो गई। परिणामस्वरूप बेगारी और बंधुआ मजदूरी का फंदा उनके गले में डाल दिया गया जिससे मुक्ति मिलना एक दुष्कर कार्य है।

(6) कृषि स्थानान्तरण:-

आदिवासियों की बहुत बड़ी समस्या कृषि स्थानान्तरण है। इसे कई नामों से जानते हैं। उत्तर पूर्व में यह 'झूम' कहलाती है। बिहार में इसे 'खोलू' कहते हैं। उड़ीसा के 'खोण्ड' और पराजन आदिवासियों में यह प्रथा 'कोडू' नाम से जानी जाती है। कृषि स्थानान्तरण का आशय जंगल और विशेष करके पहाड़ी क्षेत्र की जमीन को काट देना या खाली किये स्थान पर बीज को छिड़क देना होता है। इस तरह के खाली किये हुए भू-भाग पर अरहर, मक्का एवं बाजरे की खेती की जाती है। यहाँ हल से खेती नहीं की जाती, केवल बीज को छिड़क दिया जाता है। इस भाँति एक दो बार जंगल और पहाड़ की भूमि पर फसल की जाती है तथा पाँच-सात वर्षों बाद इस प्रक्रिया को दोहराया जाता है।

(7) अशिक्षा:-

शिक्षा मानव के विकास में सहायक होती है। शिक्षा का अभाव आदिवासी समाज के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। आदिवासी समाज का शिक्षा से कम सरोकार होने से कई समस्यों का सामना करना पड़ता है जिससे वे आसानी से बच सकते हैं। यथा कर्ज, भूमि हस्तांतरण, गरीबी, बेरोजगारी, स्वास्थ्य, बेगारी, बंधुआ मजदूरी आदि कई समस्यायें हैं जो शैक्षिक जागरूकता से प्रभावित होती हैं। आदिवासी समुदायों पर औपचारिक शिक्षा का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। इन सब समस्यों को ध्यान में रखकर आदिवासियों को शिक्षित करने के लिए सरकार ने शिक्षा से जुड़ी कई योजनाएं चलाई हैं। आजादी मिलने के पहले तक सरकार की आदिवासियों को शिक्षित करने की कोई निश्चित योजना नहीं थी। संविधान के प्रभावी होने के उपरान्त आदिवासियों को शिक्षित करना सरकार का उत्तरदायित्व हो गया है। जनगणना के आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि वर्ष 1991 की जनगणना में भारत के अनुसूचित

जनजातियों की साक्षरता दर 29.6 प्रतिशत थी जो वर्ष 2001 में बढ़ कर 47.1 प्रतिशत हो गई।

(8) स्वास्थ्य और पोषण की समस्या:-

प्रायः आदिवासियों का स्वास्थ्य बढ़िया होता है लेकिन शिक्षा का अभाव होने होने के कारण और जागरूकता के अभाव में वे अपने स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं दे पाते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और अस्पताल बहुत दूर होते हैं जिसकी वजह से उनको असुविधा का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी स्थिति बहुत गंभीर हो जाती है तो उस दौरान अस्पताल का न होना या दूर होना रोगी के लिए जीवन-मृत्यु का प्रश्न बन जाता है। सरकार द्वारा प्रत्येक गाँव में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोलने का प्रयास किया जा रहा है।

1.4. अनुसूचित जनजातियों के लिए संवैधानिक प्रावधान:-

जनजातीय विकास को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में अनेक प्रावधान किये गये हैं। संक्षेप में इन प्रावधानों की चर्चा संविधान में निहित अनुच्छेदों के क्रम में इस प्रकार है—

(1) संविधान के अनुच्छेद-15 (भाग-3) के अनुसार धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध है ऐसा इसलिए कि आरम्भ से ही आदिवासियों के साथ धर्म, प्रजाति आदि के आधार पर विभेद होता आया है। संविधान के इस उपबंध से आदिवासियों को वे अधिकार मिले, जिनसे वे क़ानूनी तौर पर वंचित थे।

(2) संविधान के अनुच्छेद-164 (भाग-6) के अनुसार झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश और ओड़ीसा राज्यों में जनजातियों के कल्याण भार साधक एक मंत्री होगा।

(3) संविधान के अनुच्छेद-275 (भाग-12) के अनुसार अनुसूचित जनजातियों के कल्याण कार्यों व उनसे सम्बन्धित प्रशासनिक कार्यों में सुधार हेतु केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को विशेष अनुदान देने सम्बन्धी व्यवस्था है।

(4) संविधान के अनुच्छेद-334 (क) (भाग-16) के द्वारा अनुसूचित जनजातियों व जातियों के लिये लोक सभा व राज्यों की विधान सभा में प्रतिनिधित्व प्रदान करने हेतु जनसंख्या के आधार पर दस वर्षों तक सीटें

सुरक्षित रखे जाने का उपबंध किया गया है। इस प्रावधान को समय-समय पर बढ़ाया गया है।

(5) संविधान के अनुच्छेद-365 (भाग-4) के द्वारा सार्वजनिक सेवाओं, अर्द्धशासकी सेवाओं व सरकारी नौकरियों में जनजातियों हेतु स्थान सुरक्षित रखने का उपबंध है।

(6) संविधान के अनुच्छेद-338 (क) के अन्तर्गत अनुसूचित जनजातियों के लिए एक आयोग होगा जो राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग नाम से जाना जायेगा। राष्ट्रपति आयोग अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति करेगा जिसका प्रमुख कार्य जनजातीय कल्याण हेतु व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत करना है।

(7) संविधान के अनुच्छेद-339 के अनुसार, संविधान में यह प्रावधान है कि राष्ट्रपति अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण कार्यों की रिपोर्ट (संविधान लागू होने के दस वर्ष पश्चात अथवा पहले भी) मांग सकता है। यह तथ्य दर्शाता है कि यदि प्रशासन तंत्र जनजातियों के विकास व संरक्षण में उचित ढंग से सक्षम न हो तो रिपोर्ट मांगकर उचित आदेश के माध्यम से जनजातीय विकास हेतु नवीन व्यवस्था कायम की जा सके। इसी के साथ-साथ यह भी उपबंध किया गया है कि केन्द्र सरकार राज्यों को अनुसूचित जनजातियों व जातियों के संरक्षण हेतु निर्देश दे सकती है। यह उपबंध इस बात को ध्यान में रखकर किया गया है कि यदि राज्य सरकारें जनजातीय कल्याण हेतु उचित ध्यान न दें तो केन्द्र सरकार निर्देश देकर अनुसूचित जनजातियों के विकास हेतु वैधानिक दबाव बना सके।

(8) संविधान के अनुच्छेद-340 में उपबंध किया गया है कि राष्ट्रपति किसी भी समय अनुसूचित जनजातियों, जातियों व पिछड़े वर्ग के विकास का अध्ययन कर सुझाव हेतु आयोग गठित कर सकताहै।

(9) संविधान के अनुच्छेद-342 के तहत राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान है कि वह सम्बन्धित राज्य की सलाह अनुशंसा से किसी भी जनजाति को अनुसूचित जनजाति घोषित कर सकताहै।

(10) संविधान के अनुच्छेद-244 (भाग-10) से संबंधित पांचवीं अनुसूची के अन्तर्गत जनजातीय सलाहकार परिषद की स्थापना की व्यवस्था की गयी है।

(11) संविधान के भाग-10 एवं पांचवी, छठी अनुसूचियों के अन्तर्गत जनजातीय क्षेत्रों के संबंध में विशेष व्यवस्थाओं का उपबंध किया गया है।

(12) संविधान के अनुच्छेद-46 (भाग-4) के अन्तर्गत जनजातियों की शिक्षा की उन्नति व आर्थिक हितों की सुरक्षा हेतु राज्यों को विशेष ध्यान देने का प्रावधान है।

इस तरह संविधान में आदिवासियों के हित को ध्यान में रखकर कई उपबंध किये गए हैं जिससे आदिवासियों का समग्र विकास हो सकेऔर उन्हें विकास की मुख्यधारा में शामिल किया जा सके।

1.5 आदिवासी विद्रोह:-

भारत में स्वाधीनता आंदोलन खड़ा करने में आदिवासी आंदोलनों की महती भूमिका रही है। सर्वप्रथम आदिवासियों ने ही स्वाधीनता आंदोलन के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। आदिवासियों और अंग्रेजों के मध्य संघर्ष की अनगिनत घटनाएं हैं तथा इन लडाइयों से संबंधित नायक भी अनगिनत हैं। यहां पर महत्वपूर्ण आदिवासी आंदोलनों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा जिससे एक दृश्य सामने आ सके और स्वाधीनता आंदोलन में आदिवासियों के योगदान के बारे में प्रारंभिक सूचना मिल सके।

संथाल क्रांति:-

इसे संथाल हूल नाम से भी जाना जाता है। इसे इसी नाम से प्रचारित प्रसारित किया गया। 'हूल' का अर्थ विद्रोह होता है। आदिवासियों द्वारा किये जाने वाले विद्रोहों में यह एक बड़ा वप्रसिद्ध विद्रोह था। इसका नेतृत्व सिदो, कान्हू, चांद और भैरों ने किया। संथाल भारत की प्राचीन जनजातियों में से एक है। यह समुदाय झारखंड, बिहार व पश्चिम बंगाल के इलाकों में रहता है। संथाल जनजाति के लोगों का मुख्य काम कृषि था यही इनका व्यवसाय था। ये जंगलों को काटकर उस जमीन को खेती लायक बनाकर कृषि किया करते थे। इनके प्रमुख निवास स्थान कटक, पलामू, छोटा नागपुर, हजारीबाग, पूर्णिया, भागलपुर इत्यादि थे। संथालों का अपना राजनीतिक ढांचा भी था। परहा पंचायत के माध्यम से समस्त क्षेत्रों पर उनके प्रतिनिधियों के द्वारा शासन किया जाता था।

ऐसा माना जाता है कि औपनिवेशिक समय में संथाल आदिवासी समाज का बहुत बड़े भू-भाग पर आधिकार था और वे खुशहाल जीवन व्यतीत कर रहे थे। संथाल लोगों की खुशहाली व इनका विस्तृत भू-भाग अंग्रेजों की आंखों की किरकिरी बन गया था। इसी किरकिरी को खत्म करने के लिए अंग्रेजों ने संथालों की जमीन जमींदारों को देना प्रारम्भ कर दिया। जमीन का वास्तविक अधिकार अंग्रेजों के पास रहा और जमींदार संथालों से भूमि पर कृषि कराने लगे। बदले में कर लेने लगे, जिससे संथालों की समृधि कम होती गयी।

अंग्रेजों, जमीदारों व साहूकारों के शोषण से परेशान होकर संथालो ने विद्रोह का रास्ता चुना। सबसे पहले संथालो ने महाजनों व साहूकारों को निशाना बनाया व उनकी धन संपत्ति को लूटना शुरू किया। 30 जून 1855 को सिदो, कान्हू, चांद व भैरव की अगुवाई में भगनाडीही गांव में एक विशाल बैठक हुई जिसमें इन चारों नेताओं समेत लगभग दस हजार संथाल लोगों ने भाग लिया। इस बैठक में शपथ ली गई कि संथाल लोग ज़मीदारों, साहूकारों व अंग्रेजों का शोषण नहीं सहेंगे और इसका मुंहतोड़ जवाब देंगे। बैठक के बाद यह छोटा सा विद्रोह एक शक्तिशाली विद्रोह में बदल गया। संथालो के विद्रोह का भयंकर रूप देखकर अंग्रेजी सरकार के पसीने छूट गये और अंग्रेजी सरकार ने इसका हल खोजना शुरू कर दिया। संथालों ने महाजनों एवं जमींदारों पर हमला शुरू किया। साहूकारों के मकानों को उन दस्तावेजों के साथ जला दिया गया जो गुलामी के प्रतीक थे। पुलिस स्टेशन, रेलवे स्टेशन और डाक ढोने वाली गाड़ियों को जला दिया गया, रेलवे इंजीनियर के बंगलों को जला दिया गया, फसलेंजला दी गईं। संथालों ने अपने परंपरागत हथियारों का इस्तेमाल किया। वे तीर धनुष एवं भाले का प्रयोग करते थे जबकि ब्रिटिश सैनिक अत्याधुनिक हथियारों से लैस थे।

संथालों के इस विद्रोह में अंग्रेजों, जमीदारों व साहूकारों को जमकर निशाना बनाया जाने लगा। इस दौरान अंग्रेज अफसरों के साथ जमकर लूटमार और मारपीट की जा रही थी और इस विद्रोह से घबराकर या यूँ कहें डर कर अंग्रेजी सरकार ने इस विद्रोह को समाप्त करने के लिए दमनकारी नीति को अपनाया।संथाल विद्रोह को खत्म करने के लिए अंग्रेजों ने जमकर हथियारों का प्रयोग किया। इस संगठित विद्रोह को कुचलने के लिए सेना का सहारा लिया गया।मेजर जनरल बरो के नेतृत्व में सेना की टुकड़ियाँ भेजी गईं। उपद्रव ग्रस्त क्षेत्र में मार्शल लॉ लागू कर दिया गया और विद्रोही नेताओं की गिरफ्तारी के

लिए इनामों की भी घोषणा की गयी। लगभग दस हजार संथाल आदिवासी शहीद हुए।गांव के गांव उजाड़ दिए गए, संथाल नेता सिदो और कान्हू को पकड़ लिया गया। उसके बाद संथाल विद्रोह कमजोर पड़ गया और इस विद्रोह का अंत हो गया।संथाल विद्रोह एक संगठित आंदोलन था जिसने करीब साठ हजार से ज्यादा लोगों को एकजुट किया। यह विद्रोह एक सशस्त्र क्रांति के रूप में उजागर हुआ था। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की सुनियोजित सत्ता से टकराना था।

संथाल विद्रोह के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को संथालों की दशा के बारे में सोचना आवश्यक हो गया और उन्हें इस स्थिति से निकालने के लिए ब्रिटिश सरकार ने जायज कदम उठाने शुरू कर दिए।ब्रिटिश सरकार द्वारा संथालो को उनकी भूमि पर अधिकार दे दिया गया व संथालोंका क्षेत्र अलग से संथाल परगना बना दिया गया।संथाल परगना टेनेंसी एक्ट को लागू किया गया। अंग्रेजों और संथालों के बीच संवाद स्थापित करने के लिए ग्राम प्रधान को मान्यता दी गयी।और इस तरह संथाल विद्रोह औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ पहला सशस्त्र विद्रोह बना।

जगदलपुर (बस्तर) विद्रोह:-

सन् 1857 के विद्रोह को अंग्रेजों द्वारा दबा दिया गया था लेकिन बस्तर क्षेत्र में आदिवासी असंतोष अंग्रेजों के विरुद्ध संभावित विद्रोह की तैयारी में लगा था। बस्तर के आदिवासी, जमींदारों और सरकारी कर्मचारियों को अंग्रेजी सत्ता का समर्थक मानते थे और उन्हें शोषक के रूप में देखते थे। वे इनसे छुटकारा पाने के लिए बेचैन थे। 'डारा और मीरो' (आम की हरी शाखा और लाल मिर्च) के जरिये विद्रोह का आरम्भ हुआ। इस प्रतीक को गाँव-गाँव, घर-घर पहुंचाया गया और आदिवासियों को संगठित किया गया। सन् 1910 में बस्तर में अल्पवयस्क महाराजा रूद्रप्रताप देव का राज था। वास्तविक शासन सत्ता की बागडोर अंग्रेजों के हाथ में थी। लगभग एक लाख से अधिक आदिवासी क्रांतिकारी जगदलपुर के भीतर और बाहर एकत्रित हो गये थे। सरकारी इमारतों को आग के हवाले कर दिया गया और पहरेदारी कर रहे पुलिस व अन्य राजकर्मियों की हत्या कर दी गई। क्रोधित आदिवासियों के सामने जो कुछ आया उसे समूल नष्ट कर दिया गया।

विद्रोह को दबाने के लिये फ़ौज को भेजा गया। यह दस्ता इन्द्रावती नदी के तट पर पहुंचा। इस दस्ते का नेतृत्व करने वाला कर्नल गेयर आदिवासी विद्रोह से काफी डरा हुआ था। उसने एक चाल चली। उसने माटी किरिया जिसे आदिवासियों की सबसे बड़ी कसम कहा जाता है, का नाटक रचकर शांति का संदेश आदिवासी मुखियाओं के पास भेजा। इससे आदिवासी झांसे में आ गये। अंग्रेजी फ़ौज इसी बहाने इन्द्रावती नदी पार कर ली। नदी पार करने के बाद आदिवासियों को विश्वास में रखने के लिए गेयर ने पुनः कसम खाई और आदिवासियों को विश्वास में ले लिया। आदिवासी गेयर के व्यवहार पर विश्वास कर ढीले पड़ गये। कर्नल गेयर ने मौका देखकर आधी रात को आदिवासियों पर हमला कर को गोलियों से भून डाला। इस नृशंस नरसंहार में बड़ी संख्या में आदिवासी शहीद हुए।

ताना भगत आंदोलन:-

ताना भगत आंदोलन की शुरुआत 'जतराउरांव' के नेतृत्व में, वर्ष 1914 ई. में छोटानागपुर के उरांव आदिवासी समुदाय में हो रही कुरीतियों को रोकने और जमींदारों की नीतियों का विरोध करने के लिए झारखंड (तत्कालीन बिहार) में हुई थी। यह आंदोलन 'बिरसा मुंडा आंदोलन' की समाप्ति के एक दशक बाद शुरू हुआ। यह ऐसा धार्मिक आंदोलन था, जिसके राजनीतिक लक्ष्य थे। यह आदिवासियों को एकजुट करने के लिए नये 'पंथ' के निर्माण का आंदोलन था। इस मायने में यह बिरसा आंदोलन का ही विस्तार था। मुक्ति-संघर्ष के क्रम में बिरसा ने जनजातीय पंथ की स्थापना के लिए सामुदायिकता के आदर्श और मानदंड निर्धारित किये थे। जतरा उरांव को जतरा बाबा और ताना बाबा नाम से जाना जाने लगा। उनके अनुगामी उन्हें ताना भगत कहने लगे। धीरे-धीरे इस आन्दोलन का विस्तार दूर-दूर तक होने लगा और बड़े पैमाने पर आदिवासी इस आन्दोलन से जुड़ने लगे। जतरा उरांव ने घोषणा की कि 'दिकुओं' को जल्द ही उनके क्षेत्र से बाहर कर दिया जाएगा तथा वह उरांवों का पहला राजा बनेगा। उसने अपने लोगों को लगान नहीं देने और बेगार न करने की सलाह दी।

जतरा के आन्दोलन के बढ़ते रूप को देखकर सरकार घबरा गयी। 23 अप्रैल 1923 को शांति भंग करने व लोगो के इकट्ठा करने के आरोप में जतरा उरांव को गिरफ्तार कर लिया गया। इस आन्दोलन को ब्रिटिश हुकुमत द्वारा बार-बार दबाया गया। देश के स्वाधीनता आन्दोलन में भी इस आन्दोलन का

इस्तेमाल किया गया। यह आन्दोलन लंबे समय तक चला किन्तु ठोस रूप में कुछ हासिल करने में असमर्थ रहा।

इस आंदोलन का मूल मंत्र था सरकार की खिंचाई करो। खिंचाई को स्थानीय बोली में 'ताना' कहते हैं आदिवासियों ने गीत के द्वारा इसे व्यक्त किया जो निम्नलिखित तरीक़े से था-

"ताना बाबा ताना तान,

तुम ताना गोल से लेन

ताना बे लेन

ताना हुकुम, मान ताना

ताना थनानन ताना पुलिसाना ताना"[51]

इसी आधार पर इस आंदोलन का नाम ताना भगत आंदोलन चल पड़ा।

मुंडा विद्रोह:-

आदिवासी आंदोलनों में सबसे विस्तृत व संगठित बिरसा आंदोलन था। इस आंदोलन के नेता बिरसा मुंडा थे। इस विद्रोह को 'उलगुलान' नाम से भी जाना जाता हैं, जिसका अर्थ महाविद्रोह होता है। जमींदारों के द्वारा खुंटकुटी के अधिकारों का उल्लंघन, औपनिवेशिक शोषण की नीतियाँ तथा बढ़ती बेगारी इस आंदोलन के मूल कारणों में प्रमुख थे। इस विद्रोह का उद्देश्य आंतरिक शुद्धीकरण, औपनिवेशिक शासकों से मुक्ति व स्वतंत्र मुंडाराज्य की स्थापना करना था।

आदिवासी समाज में खुंटकुटी व्यवस्था मौजूद थी। यह व्यवस्था सामूहिक भू–स्वामित्व पर आधारित कृषि व्यवस्था थी। अंग्रेज सरकार ने इस व्यवस्था को समाप्त कर निजी भू स्वामित्व की व्यवस्था उन पर लागू कर दी, साथ ही कर को बढ़ा दिया। भूमि का अनुपजाऊपन तथा परंपरागत तरीके से कृषि कार्य करने से पैदावार बहुत कम होती थी। बढ़ी लगान देने में किसान असमर्थ थे।लगान देने किए लिए किसान साहूकारों और महाजनों से कर्ज लेते थे और वे इस कर्ज-जाल में फंसते चले गए। लगान नहीं देने वाले किसानों की भूमि अंग्रेजों

51.आदिवासी दुनिया- हरिराम मीणा, पृष्ठ संख्या-63

के द्वारा जब्त कर ली जाती थी। अपनी ही भूमि से बेदखल होने की वजह से आदिवासियों में आक्रोश था।

इस शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध बिरसा मुंडा ने आंदोलन चलाया। बिरसा ने अपने समाज को एकजुट किया। उन्होंने मुंडा समाज को परम्परा से चले आ रहे रीति रिवाजों से हटकर ईश्वर पर आस्था रखने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने नैतिक आचरण की शुद्धता, आत्म सुधार एवं एकेश्वरवाद का उपदेश दिया। अपने लोगों को अलग-अलग देवी देवताओं की उपासना को छोड़कर एक ईश्वर सिंहबोंगा की आराधना करने को कहा। उन्होंने खुद को ईश्वर का दूत घोषित किया और घोषणा की कि ईश्वर ने मुंडा को गुलामी से मुक्ति एवं एक सभ्य समाज की स्थापना के लिए भेजा है। उन्होंने अपने अनुयायियों से राजनीतिक अधिकारों की बात की तथा अंग्रेजी सत्ता के अस्तित्व को नकारते हुए सरकार को लगान नहीं देने की नसीहत दी। बिरसा की बातों से लोग प्रभावित होने लगे तथा धीरे धीरे बिरसा आंदोलन का विस्तार समस्त आदिवासी क्षेत्रमें हो गया।

विद्रोह का आरम्भ ईसाई मिशनरियों, साहूकारों, अंग्रेज अधिकारियों आदि पर आक्रमण द्वारा हुआ। इसके उपरांत बिरसा को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें दो वर्ष की सजा हुई। महारानी विक्टोरिया की हीरक जयंती के अवसर पर 1898 में बिरसा को कैद से मुक्त कर दिया गया। उन्होंने पुनः आंदोलन को संगठित करना शुरू कर दिया तथा ब्रिटिश शासन के खिलाफ संघर्ष के लिए लोगों को तैयार किया। बिरसा के अनुयायियों ने यूरोपीय मिशनरियों पर छापेमारी की। रांची, खूंटी, तमार आदि जगहों पर हिंसक झड़पें हुईं। नतीजन सरकार ने आंदोलन को दबाने और बिरसा की गिरफ्तारी के लिए तैयारी शुरू कर दी। फरवरी 1900 को बिरसा को फिर से गिरफ्तार कर लिया गया। जेल में हैजा की बीमारी से उनकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद इस आंदोलन को दबा दिया गया।

यद्यपि इस आंदोलन का दमन कर दिया गया लेकिन इसके परिणाम सकारात्मक तथा उत्साहवर्धक रहे। इस आंदोलन के उपरांत मुंडा आदिवासी समाज में आंतरिक सुधार की भावना जागी।

खासी विद्रोह:-

यह विद्रोह 1830 से 1833 के मध्य उत्तर-पूर्व की पहाड़ियों में हुआ। स्थानीय आदिवासियों को जबरदस्ती सड़क निर्माण कार्य में लगाना इस विद्रोह का कारण बना। इस विद्रोह के नेता तीरथ सिंह थे। खासी आदिवासी भारत के मेघालय तथा असम क्षेत्रों में निवास करते हैं। मातृकुलमूलक ये आदिवासी, खासी तथा जयंतिया की पहाड़ियों में रहते हैं। इन पहाड़ियों में अंग्रेजों के आने से पहले ही खासी आदिवासी छोटे-छोटे क्षेत्रों गणतांत्रिक तरीके से शासन करते थे। सभी गणतंत्रों के आपस में अच्छे संबंध थे। असम के निचले भाग पर अधिकार होने के बाद अंग्रेजों की निगाह खासी क्षेत्र पर पड़ी। अंग्रेजों ने खासी पहाड़ी से होकर असम के निचले भाग तक सुदृढ़ रास्ता तैयार किया जिससे ब्रिटिश सेना को आने जाने की सुविधा मिल सके और खासियों द्वारा शासित क्षेत्रों पर नियंत्रण किया जा सके। अंग्रेजों के इस कदम पर तीरथ सिंह ने विद्रोह किया। 4 अप्रैल, 1829 को उन्होंने अपने साथियों के सहयोग से अंग्रेजों पर हमला कर दिया। तीरथ सिंह द्वारा अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष हेतु सूचना अन्य खासी मुखियाओं को भेजी गई। संघर्ष के लिए आदिवासी एकजुट होने लगे। विद्रोह को कुचलने के लिए कैप्टन लिस्टर के नेतृत्व में सेना भेजी गई। तीरथ सिंह के पर ईनाम रख दिया गया। उनके प्रभाव वाले क्षेत्र को अंग्रेजी सेना द्वारा चारों ओर से घेर लिया गया जिससे अन्य जगहों से मिलने वाली मदद कम या न के बराबर हो गई। चौतरफा दबाव और कमजोर होती लड़ाई की वजह से तीरथ सिंह ने आत्म समर्पण कर दिया। तीरथ और उनके साथियों पर मुकदमा चलाया गया तथा उन्हें दोषी साबित कर ढाका जेल भेज दिया गया जहाँ सन 1841 में उनका निधन हो गया।

फूकन और बरुआ का विद्रोह:-

सन् 1830 के शुरू में पियालियर वरगोहाई के अगुआई में असम के एक अभिजात्य वर्ग ने अंग्रेजों के आधिपत्य एंव श्रेष्ठता के विरुद्ध विद्रोह किया। विद्रोह में 400 सशस्त्र लोगों ने इकट्ठा होकर रंगपुर की ओर कूच किया और अंग्रेजों की छावनी पर पहरा देने वाले सुरक्षा कर्मियों को मार दिया और रंगपुर को अधिकार में करने की योजना बनायी गई। पियालियर वरगोहाई तथा पियाली वरफूकन ने अन्य आदिवासियों के नेताओं को संघर्ष में शामिल होने का सन्देश भेजवाया। अन्य आदिवासियों की मदद मिलने पर 25 मार्च, 1880 को

रात का समय हमले के लिए निश्चित किया गया। लेकिन विद्रोहियों के एक साथी ने धोखा दे दिया। उसने हमले की सूचना पहले ही अंग्रेजों को दे दी जिससे अंग्रेज सावधान हो गये और उन्होंने हमले से बचने के लिए पूरी व्यवस्था कर ली। विद्रोहियों ने योजना के अनुसार अंग्रेजी शस्त्रागार पर हमला कर दिया लेकिन अंग्रेजी सेना ने वहां पहले से अपनी एक टुकड़ी तैनात कर दी जिसने विद्रोहियों पर पलटकर आक्रमण कर दिया। अचानक से हुए इस आक्रमण से विद्रोहियों में भगदड़ मच गई। बड़ी संख्या में विद्रोहियों को पकड़ लिया गया और उनके हथियार जब्त कर लिये। पियालियर बरगोहाई अपने पुत्र के साथ पहाड़ियों में छिपने में सफल रहे। पकड़े गये आदिवासियों पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया। पियाली बरफूकन और जीवराम दुलिया बरूआ को फांसी की सजा सुनाई। अगस्त 1830 में दोनों को फांसी पर चढ़ा दिया गया। उनकी सम्पत्ति को जब्त कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हवाले कर दिया गया।

भूटिया लेपचा विद्रोह:-

दार्जिलिंग और उसके आस-पास के क्षेत्रों में चाय बागानो में काम करने वाले भूटिया और लेपचा आदिवासियों द्वारा यह विद्रोह किया गया। चाय-बागानों के मालिक, अंग्रेज आदिवासियों पर तरह-तरह के अत्याचार करते, उनका शोषण करते जिसके परिणामस्वरूप आदिवासियों में असंतोष पैदा हुआ। इसी असंतोष के कारण हजारों आदिवासियों ने वहां की पुलिस चौकी पर हमला बोल दिया।

इन विद्रोहों और घटनाओं से मालूम होता है कि देश के विभिन्न प्रांतों में आदिवासियों ने अंग्रेजो के द्वारा किए जा रहे अन्याय और शोषण के खिलाफ जमकर लोहा लिया।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में आदिवासियों ने अपने प्राणों की परवाह किए बिना आजादी के संघर्ष की शुरुआत की थी। उन्होंने बिना किसी स्वार्थ के देश की सेवा की है। “आदिवासी इतिहास की कई विशेषताएं हमारे सामने हैं। आदिवासियों का इतिहास सत्ता और राज पाठ के बदलने का साम्राज्यवादी व सामन्ती इतिहास नहीं है।यह शोषण के विरुद्ध जीवन के लिए आजादी के लिए लगातार किए जाने वाले संघर्ष का इतिहास है।”[52]

52.बयान,मार्च2010, मोहनदास नैमिशराय, पृष्ठ संख्या-45

अबेर्दीन की लड़ाई:-

अंग्रेजों ने सन् 1789 अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया था। लेकिन प्रतिकूल परिस्थितियों के चलते सन् 1796 में इस द्वीप समूह को छोड़ दिया। निकोबार द्वीप समूह पर निकोबारी व शोम्पेन आदिवासी रहते हैं तथा अण्डमान द्वीप समूह में जारवा, ओंगी सेन्टीनेली और ग्रेट अण्डमानी आदिवासी समुदाय।

सन् 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने इस द्वीप समूह पर फिर से कब्ज़ा कर लिया। अंग्रेजों ने यहाँ अपनी फौजी छावनियां विकसित की। आजादी के लड़ाई में भाग लेने वाले स्वतंत्रता सेनानियों को बतौर सजा के रूप में यहाँ की कुख्यात सेल्यूलर जेल में रखा जाता था। 'कालापानी' की सजा पाने वाले इन लोगों से दिन-रात कड़ी हाड़तोड़ मेहनत करवाई जाती थी। इस मेहनत से अंग्रेज अधिकारियों, सेना एंव अंग्रेजी हुकूमत से संबंधित अन्य अधिकारियों और कर्मियों को अनुकूल परिस्थितयां उपलब्ध कराई जाती थीं। इस क्रम में वहां के स्थानीय आदिवासियों से जी तोड़ मेहनत कराई जाती थी, श्रम का शोषण तथा उन पर अत्याचार होता था। इन आदिवासियों के लिए गोरों का हस्तक्षेप एंव उनके द्वारा किये जा रहे शोषण बर्दाश्त से बाहर था। अंग्रेजों द्वारा उत्पन्न की गई स्थिति को प्रकृति के बीच रहने वाले आदिवासी मानसिक रूप से स्वीकार करने में असमर्थ थे।

मई 1859 में आदिवासियों विशेषकर ग्रेट अण्डमानियों ने उग्र रूप अख्तियार कर सेल्यूलर जेल एवं पोर्ट ब्लेयर के बाजार पर हमला बोल दिया। आदिवासी अपने परम्परागत हथियार तीर-कमान, भाला से लैस थे वहीं अंग्रेज फौज आधुनिक बन्दूकों एवं अन्य हथियारों से सुसज्जित तथा अच्छी तरह से प्रशिक्षित थी।चूँकि अबेर्दीन बाज़ार में यह संघर्ष हुआ इसलिए इस संघर्ष को अबेर्दीन की लड़ाई नाम से जाना जाता है। इस लड़ाई में बड़ी संख्या में आदिवासी सम्मिलित हुए थे, लेकिन आधुनिक हथियारों से लैस ब्रिटिश सेना ने उनके प्रतिरोध को दबा दिया। बड़ी संख्या में आदिवासी शहीद हुए। कईयों को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। शेष आदिवासी घने जंगलों में रहने को विवश हो गये।

17 मई, 2009 को अबेर्दीन के संघर्ष की 150 वीं सालगिरह मनाई गई, जिसमें अण्डमान निकोबार द्वीप समूह के तत्कालीन उप राज्यपाल एवं

ले.जनरल (सेवानिवृत्त) भूपेन्द्र सिंह के नेतृत्व में शहीद आदिवासियों को श्रद्धांजली दी गई थी।

1.6. आदिवासी विमर्श की पृष्ठभूमि:-

आदिवासी जंगलों में रहने वाला समुदाय है।जंगल और उसमें रहने वाले जानवरोंको वे अपने कुटुंब की इकाई मानते हैं, जीवन निर्वाह के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते हैं लेकिन प्रकृति से अपनी जरूरत भर की चीजें लेते हैं, साथ ही वे वृक्षारोपण और बागवानी करके प्रकृति का संरक्षण भी करते हैं। प्रकृति और आदिवासी एक दूसरे के पूरक हैं। आदिवासियों के जीवन, संस्कृति, उत्सव में प्रकृति अनिवार्य रूप से शामिल होती है और यह रूप उनके साहित्य में भी देखने को मिलता है। "आदिवासी साहित्य और आदिवासी विमर्श मूलतः लोकजीवन, लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति, पर्यावरण के प्रकृति विमर्श का पर्याय है। आदिवासी साहित्य के इस आंतरिक और प्राकृतिक स्वर को समय रहते ही समझ जाना चाहिए।"[53]

आदिवासियों को शुरू से ही छला गया। उनका छल रहित व्यवहार ही उनका दुश्मन हो गया। मुख्यधारा ने उन्हें सभ्यता से बहिष्कृत कर जंगलों में रहने के लिए विवश कर दिया और बुनियादी अधिकारों से भी वंचित रखा। आदिवासियों ने जंगलों में भी संस्कृति की विरासत बरकरार रखी और आत्मसम्मान के साथ जीवन व्यतीत किया। लेकिन आज पूंजीपतियों एंव सत्ता के गठजोड़ से उनकी सांस्कृतिक-सामाजिक संरचना और प्रभुता पर खतरा मंडराने लगा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत आदिवासियों के कल्याण के लिए बहुत सारी योजनाएं बनीं और उसके लिए सरकार ने अरबों-करोड़ों रुपए जारी किए, लेकिन विडंबना है कि उसका लाभ आदिवासी नहीं उठा पाते।

उदारीकरण और वैश्वीकरण के कारण आदिवासी समाज में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की घुसपैठ बढ़ी है और उनके जीविका के संसाधनों जल, जंगल, जमीन एवं समाज तथा संस्कृति के साथ उनके अधिकारों का अतिक्रमण बड़े पैमाने पर शुरू हुआ है जिस वजह से आदिवासियों का सरकार एंव बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खिलाफ संघर्ष तेज हुआ है। इस संघर्ष ने आदिवासियों के सामने अस्तित्व एवं अस्मिता के प्रश्न को जन्म दिया तथा इससे आदिवासियों के लिए आगे कुआं पीछे खाई वाली स्थिति उत्पन्न हो गई है। यदि वे अपनी संस्कृति को वरीयता देते हैं

53.वाक्, अंक-19, 2014, आदिवासी विमर्श सैद्धांतिक विवेचन, पृष्ठ संख्या- 165

तो उनका अस्तित्व खतरे में पड़ता दिखाई देता है और वे अपने अस्तित्व को महत्व देते हैं तो सांस्कृतिक पहचान खतरे में पड़ जाती है। यहां ध्यान देने की बात है कि यूनेस्को ने 196 जन भाषाओं के वजूद पर खतरा बताया था, जिसमें से अधिकतर भारत की आदिवासी भाषाएं है। यही कारण है जिसने अस्तित्वगत एवं अस्मितागत व्याकुलता को अलग तथा स्वतंत्र धारा के रूप में आदिवासी विमर्श की संभावनाओं को शक्ति प्रदान किया।

इस तरफ इशारा करते हुए हरिराम मीणा कहते हैं - "हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठितलेखकों से हमें अपेक्षा थी कि वे स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक, आदिवासी एवं हाशिए पर डाली जाती रही अन्य अस्मिताओं को अपेक्षित अभिव्यक्ति देते, वह अपेक्षा पूरी नहींहुई। यही वजह है कि इन आदिवासियों से जुड़े लेखकों को एक मुहिम के तौर पर हिंदी साहित्य में हस्तक्षेप करना पड़ा और अपनी पहचान बनाने के लिए जूझना पड़ा।"[54]

मुख्यधारा के रचनाकारों ने वंचित तबके के साथ न्याय नहीं किया। इस बात की शिकायत इस वर्ग के लोगों को हमेशा रही जिसके कारण इस समाज के लेखकों को स्वयं आगे आना पड़ा। गंगा सहाय मीणा लिखते हैं- "1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज हुई आदिवासी शोषण की प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरुप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी साहित्य है।"[55]

1.6.1.आदिवासी विमर्श आदिवासियों द्वारा:-

विगत तीन-चार दशकों में हिंदी जगत में आदिवासी रचनाकारों ने अपनी दखल और पहचान बनाई है। वर्तमान में आदिवासी लेखन राष्ट्रीय स्तर तक प्रभावी बन चुका है। आदिवासी रचनाकार पत्र-पत्रिकाओं में अपनी लेखनी के माध्यम से नियमित उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं। "सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण के लिहाज से एन ई होरो, निर्मल मिंज, रोज केरकेट्टा, प्रभाकर तिर्की, सूर्य सिंह बेसरा और महादेव टोप्पो का योगदान अर्थपूर्ण और महत्वपूर्ण है। पत्रकारिता में विवेचना, साक्षात्कार या रिपोतार्ज की शैली में अपने संवाद को प्रभावी बनाने के लिहाज से बासवी, दयामनि बरला, सुनील मिंज और शिशिर टुडू ने अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करवायी है।"[56]

54.http://sarthaksamwad.blogspot.com/2018/09/blog-post.html

55.आदिवासी साहित्य विमर्श- गंगा सहाय मीणा, पृष्ठ संख्या- 9

56.http://sarthaksamwad.blogspot.com/2018/09/blog-post.html

प्राय: देखा गया है आदिवासी लेखकों में अपने समाज-राजनीति-संस्कृति से इतर की दुनिया के मामलों के संबंध में खामोशी दिखाई देती है और यही वजह है कि देश और दुनिया की बेहतरी के लिए इनकी फिक्र और ख्वाब अपने परिवेश तक ही सीमित है। आदिवासी विमर्श को साहित्य-लेखन की पृष्ठभूमि पर देखा जाए तो आदिवासी रचनाकारों ने कविता, कहानी, उपन्यास और संस्मरण में प्रमुख रूप से कलम चलाई है। साहित्य की अन्य विधाओं में इनका लेखन शैशवावस्था में है। आदिवासी तथा गैर-आदिवासी रचनाकारों द्वारा साहित्य की विभिन्न विधाओं में आदिवासी विमर्श किया गया है जिनका विवरण आगे आने वाले अध्यायों में मिलेगा।

1.6.2. आदिवासी विमर्श गैर आदिवासियों द्वारा:-

मुख्यधारा के साहित्यकारों ने भले ही हाशिए के समाज की व्यथा-कथा को अपनी रचना में जगह न दिया हो फिर भी छिटपुट चित्रण तो मिलते ही हैं। हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद की रचनाओं में देखा जाए तो कुछ रचनाओं में आदिवासियों की झलक मात्र देखने को मिलती है। जिन रचनाओं में आदिवासियों की चर्चा मिलती है वह 'गोदान' और 'सद्गति' है। 'गोदान' प्रेमचंद का सबसे प्रसिद्ध उपन्यास है। गोदान में शिकार प्रकरण में मेहता और मालती का दल शिकार खोजते- खोजते जंगल के ऐसे भाग में पहुंच जाता है, जहां उनकी भेंट आदिवासी लड़की से होती है। प्रेमचंद्र आदिवासी लड़की का वर्णन करते हुए उसे असुंदर बताया है लेकिन उसके शरीर के गठन का वर्णन करते हुए मेहता का उसके प्रति आकर्षण और उसकी खातिरदारी की प्रशंसा करते हुए दिखलाया है।

सद्गति कहानी में चिखुरी गोंड़ विद्रोही चेतना से लैस पात्र है। वह दुखी को पंडित घासीराम के अत्याचार से बचाने का पूरा प्रयास करता है, किंतु धर्मसत्ता के आत्मसातीकरण से उत्पन्न डर की वजह से दुखी उससे बाहर नहीं आ पाता और दुखद मौत का शिकार होता है। दुखी की मौत के बाद चिखुरी ही दलितों की बस्ती में जाकर दलितों को इस अन्याय की सूचना देता है और आंदोलित करने का प्रयास करता है। यह कहानी हिंदू धार्मिक संस्कारों से मुक्त

एक आदिवासी के माध्यम से वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष की कहानी है, जिसमें दलित और आदिवासी को एक साथ आने की ओर इशारा भी है।

प्रेमचंद आदिवासी रचनाकार नहीं हैं फिर भी उन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से तत्कालीन महाजन व्यवस्था के खिलाफ कलम चलाई जिनकी दखल अंदाजी वर्तमान में आदिवासी जीवन, समाज में भी यथावत जारी है और जो उनके शोषण के उत्स वर्तमान(मौजूद) है। इसलिए केदार प्रसाद मीणा ने कहा है कि 'प्रेमचंद, रेणु, संजीव और रणेंद्र आदि का साहित्य आदिवासी साहित्य न सही, पर आदिवासियों की समस्याओं पर लिखा गया है महत्वपूर्ण साहित्य है।' प्रेमचंद की रचनाओं में आदिवासी उतना ही दिखाई देता है जितना उस क्षेत्र में इनकी आबादी है। लेकिन वे सवाल भी करते हैं कि आदिवासी राजनीति के माध्यम से आदिवासियों की जमीनों की खरीद-फरोख्त का जो रास्ता तैयार किया जा रहा है उसमें प्रेमचंद क्या कर सकते हैं? उनका कहना है कि "आदिवासी समस्याओं पर रणेंद्र और संजीव जैसे अच्छे लेखकों की रचनाओं के पात्रों की ऐसी डायरियों, जिनमें आदिवासी समाज का दर्द दर्ज है, को यह उनकी निजी डायरी कह कर इसके बहाने संपूर्ण रचना को खारिज कर रहे हैं। संजीव-रणेंद्र के आदिवासी इलाकों में काम करने वाले पात्र: सुदीप्त और किशन आदि सभी 'दिकू' नहीं कहे जा सकते। इनकी डायरियाँ महज उनकी निजी डायरियाँ नहीं हैं। ये आदिवासी विस्थापन और उसके खिलाफ संघर्ष के दस्तावेज भी हैं, क्योंकि न तो सरकारें इन्हें दर्ज करती हैं और न विस्थापित करने वाली कंपनियाँ। निरक्षर आदिवासी तो दर्ज कर ही नहीं सकते। ऐसे में इन लेखकों की रचना और इनके पात्रों की डायरियों का महत्व बढ़ जाता है। इसलिए इन लेखकों के साहित्य को 'दिकू' साहित्य कहना आदिवासी विमर्श का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।"[57]

निष्कर्षत:भारत एक बहुजातीय और बहुधर्मी देश है। आदिवासी इस देश के आदि वंशज हैं। इनकी विशिष्ट भाषा-बोली और संस्कृति होती है।जल, जंगल और जमीन उनकी संपत्ति है।वह प्रकृति के गोद में पलता है, खेलता है।अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए वह प्रकृति पर निर्भर रहता है। वह प्रकृति से उतना ही लेता है जितनी उसे जरूरत होती है। लेकिन आज विकास के नाम पर जंगलों का बेतहाशा दोहन हो रहा है। आदिवासियों की संपत्ति छीनी

57.http://sarthaksamwad.blogspot.com/2018/09/blog-post.html

जा रही है; जिसके परिणामस्वरूप उनको अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ रहा है। अपनी जमीन पर दूसरों के अधिकार का आदिवासी प्रबल विरोध करता है। स्वाधीनता आंदोलन में देश के विभिन्न क्षेत्रों में आदिवासियों ने सशस्त्र विद्रोह भी किया है और शोषणकारी ताक़तों का सामना भी किया है। तेज़ी से बदलती दुनिया के बीच संतुलन बना पाना आदिवासी समाज के लिए बड़ी चुनौती है लेकिन शिक्षा और अवसरों की समानता के साथ सरकारी संरक्षण, न केवल आदिवासी संस्कृति की रक्षा करने में मददगार होगा बल्कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रकृति के साथ संतुलन को भी बेहतर बनाएगा।अगले अध्याय में आदिवासी विमर्श के विकास में साहित्यिक पत्रिकाओं की भूमिका का विवेचन किया गया है।

दूसरा : अध्याय

हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाएँ और आदिवासी विमर्श

हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाएँ और आदिवासी विमर्श

हिंदी में आदिवासी विमर्श के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस अध्याय में मैंने आदिवासी विमर्श के विकास में हिंदी पत्रिकाओं की भूमिका को दिखाने का प्रयास किया है। आदिवासी विमर्श के विकास एवं उसकी दशा और दिशा तय करने में हिंदी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

2. हिंदी साहित्य की प्रमुख पत्रिकाएं एंव उनका परिचय:-

2.1. हिंदी पत्रकारिता: संक्षिप्त परिचय:-

हिंदी पत्रिकाओं का उदय औपनिवेशिक काल में हुआ। इसके परिणामस्वरूप हिंदी पत्रकारिता ने व्यापक जन-आंदोलन का कार्य किया। हिंदी पत्रकारिता के अतीत में झाँक कर देखने से यह स्पष्ट होता है कि पत्रिकाओं ने जनक्रांति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जेम्स आगस्ट हिक्की ने 'बंगाल गजट' के नाम से पत्रिका निकाल कर भारत में पत्रकारिता की नींव रखी। इस पत्रिका में बंगाल के गवर्नर जनरल, मुख्य न्यायाधीश, ब्रिटिश अधिकारियों एंव उनकी नीतियों की आलोचनाएँ छपती थीं। यानि प्रेस की स्थापना ही जन क्रांति के लिए हुई जिसका असर आम जनमानस पर पड़ना स्वाभाविक था। समाज को नई गति और दिशा देने में विचार की क्रांति महत्वपूर्ण साधन रही है। आन्दोलनों की शुरुआत और उसे आगे बढ़ाने के कार्य में पत्रिकाओं ने महती भूमिका निभाई।

पंडित जुगल किशोर शर्मा द्वारा कलकत्ता से 24 मई 1826 को हिंदी भाषा का पहला समाचार पत्र ‘उदन्त मार्तण्ड’ प्रकाशित किया गया। तब से भारत के बहुआयामी विकास में हिंदी पत्रकारिता की उल्लेखनीय भूमिका रही है। हिंदी पत्रकारिता ने समाज में हाशिए की जिन्दगी जी रहे स्त्रियों, दलितों और अल्पसंख्यकों की समस्याओं के साथ आदिवासियों के साथ हो रहे अन्याय पर भी गंभीरता से विचार किया है। प्रेमचंद ने ‘हंस’ पत्रिका के मार्च 1930 के अंक में ‘उपन्यास का विषय शीर्षक लेख में उपन्यास के विषयों के संदर्भ में विस्तारपूर्वक

विचार किया है। उनका मानना था कि अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहार करने पर ही हिंदी पत्रकारिता अपना विकास कर सकेगी।

आदिवासी विमर्श पुराना विषय है। सभ्यताओं के प्रादुर्भाव के साथ ही 'आदिवासी' होने का प्रश्न भी आया है। यद्यपि अकादमिक गलियारों और साहित्यिक मंचों से इसे सबसे नया विमर्श बताया जाता है। इसके पीछे यह तर्क दिया जाता है कि आदिवासी विमर्श का आगमन दलित तथा स्त्री विमर्श के उपरांत हुआ। लेकिन हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा ने 'सरस्वती में प्रकाशित आदिवासी आलेखों के माध्यम से सिद्ध करने की कोशिश की है कि हिंदी साहित्य और पत्रकारिता में आदिवासियों की फ़िक्र हमेशा रही। उन्होंने अपने लेखों के माध्यम से स्थापित किया कि 'सरस्वती'ने अन्य विषयों की भांति आदिवासी विषय को भी वरीयता दी। स्पष्ट है, साहित्य में आदिवासी विमर्श एकदम नया विमर्श नहीं है। सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप से देखा जाए तो 'आदिवासी विमर्श' दुनिया में जितनी भी सभ्यताएं हुईं है, उन सबमें सबसे प्राथमिक विमर्श रहा है। यह सच है कि आजादी के बाद पुरातन संघर्ष और विमर्श होने के बाद भी, आदिवासी सवालों के जवाब न देने की प्रवृत्ति में बढ़ोतरी हुई है। आदिवासी विमर्श को साहित्य, समाज और राजनीति में नजरअंदाज किया जाने लगा। इस ओर इशारा करते हुए रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण में लिखते हैं- "हिन्दी की आधुनिक पत्रिकाओं, साप्ताहिक पत्रों आदि को देखने से लगता है कि आदिवासी भारत की जनता की ओर शिक्षितजनों का ध्यान अब कम जाता है। द्विवेदी जी ने इस सम्बन्ध में जो निबंध प्रकाशित किये, उनमें किसी गम्भीर समाजशास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न नहीं है। किन्तु इन परिचयात्मक लेखों का अपना महत्व है। इन लेखों के प्रकाशित होने से शिक्षितजनों ने देखा, एक भारत और है जिसकी चर्चा उनके साहित्य में, राजनीतिक लेखन में कम होती है। इन गण-समाजों की व्यवस्था दूसरे ढंग की है। ये अधिकतर वन्य जीवन बिताते हैं, सभ्यता में पिछड़े हुए हैं, फिर भी इनमें अनेक गुण ऐसे हैं जिन्हें अधिक सभ्य कहलानेवाले लोग अपनायें तो उन्हें लाभ होगा।"[1]

यद्यपि रामविलास जी ने "सरस्वती में प्रकाशित लेखों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सरस्वती में आदिवासियों से सम्बन्धित जो कुछ छपा वह

1.महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण- डॉ० रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या-175

परिचयात्मक और समाजशास्त्रीय अधिक था और उनका मानना था कि 'द्विवेदीजी ने समाजशास्त्र पर जो सामग्री प्रकाशित की, उसके काफी बड़े हिस्से का सम्बन्ध भारत के आदिवासियों से है। आदिवासियों से सम्बन्धित विवरण अधिकतर अंग्रेज लेखकों द्वारा एकत्र की हुई सामग्री पर आधारित है और उसमें उनके रीति-रिवाजों का परिचय दिया गया है। अंग्रेजों के विरुद्ध उनके संघर्ष और अंग्रेजी राज में उनके शोषण का वृत्तांत प्रायः नहीं है। फिर भी यह विवरण महत्वपूर्ण है और वह हिन्दी पाठकों को इस तथ्य के प्रति सजग करता है कि भारत का काफी हिस्सा भिन्न सामाजिक अवस्था में रहता है और वह भी भारत का अंग है।"[2]

वर्तमान में भी लगभग यही प्रवृत्ति समाज और साहित्य में बनी हुई है। आदिवासी समस्या के मूल प्रश्नों को वरीयता देने की अपेक्षा आदिवासियों को पहेली और अनजान दुनिया के रूप में प्रस्तुत करने का क्रम निरंतर जारी है।

हिंदी पत्रकारिता ने आरम्भ से ही 'कल्पना कम, सत्य अधिक का विचार अपनाया है। फलतः आदिवासी समाज का यथार्थ चित्र पाठकों के समक्ष लाने में हिंदी पत्रकारिता सफल दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचंद कहते हैं – "शिक्षित-समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाडी, ऐंग्लो इंडियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिंदी बोलते पाए जाते हैं, लेकिन यह अपवाद है- नियम नहीं, पर ग्रामीण बात-चीत कभी-कभी हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा। वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावों का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। अगर लेखक आशावादी है, तो उसकी रचना में आशावादिता छलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है, तो बहुत प्रयत्न करने पर भी वह अपने चरित्रों को जिन्दा दिल न बना सकेगा।"[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचंद हिंदी पत्रकारिता के जरिये मनुष्यों को अंदर से जानने की अपेक्षा करते हैं।

1930 में भारतीय चित्र-कला का विकास, लोक-शिक्षण आदि स्तंभों को 'हंस' में जगह देकर उन्होंने आदिवासी विमर्श की चर्चा शुरू की थी। आज़ादी से पहले प्रेमचंद ने सामाजिक विकास के लिए वर्ग-चेतना के विभिन्न विकासोन्मुख पहलुओं

2.वहीं, पृष्ठ संख्या- 168

3.हंस',वर्ष-1, अंक-1, मार्च 1930, संपादक-प्रेमचंद, उपन्यास का विषय, पृष्ठ संख्या- 18

की पड़ताल हंस के संपादकीय में की है। राजेन्द्र यादव ने प्रेमचंद की परंपरा आगे बढ़ाया।

राजेंद्र यादव ने हंस के अगस्त 1986 के अंक में लिखा था – "हम इस 'हंस' को प्रेमचंद की परम्परा से ही जोड़ना चाहते हैं, सामाजिक समानता, अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष, रूढ़ियों और आडम्बरों के खिलाफ जिहाद.. प्रेमचंद हमारे लिए मूर्ति या आदर्श से अधिक एक प्रेरणा और अंकुश है..।"[4]

स्वतंत्रता प्राप्ति तक आदिवासी विमर्श वरीय बना हुआ था, इसकी जानकारी हमें तत्कालीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के विचारों और सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्य में हो रही गतिविधियों से मिलती है। संभवतः स्वतंत्रता मिलने के पहले तक भारत को राष्ट्र मानने की औपचारिक घोषणा नहीं हुई थी। यह ऐसा दौर था जब देश में विभिन्न संस्कृतियाँ, राजे–रजवाड़े, देशी रियासतें, विभिन्न धर्म के लोग, दलित, स्त्री आदिवासी, आदि नए राष्ट्र में अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार अपने-अपने हिस्से पर अधिकार का दावा कर रहे थे। इनमें भी मुख्य टकराव हिन्दू-मुस्लिम, हाशिये पर जीवन व्यतीत करने वालों का था। परिणामत: पचास के दशक के आस-पास इन सामाजिक-सांस्कृतिक समुदायों के प्रश्न वरीय बने हुए थे, इनसे जुड़े विमर्श चरम पर थे। इसमें भी मुख्य द्वंद्व और विमर्श, आदिवासी तथा गैर-आदिवासी सभ्यता-संस्कृति के मध्य था। क्योंकि आदिवासियों के मुकाबले अन्य समाज कई भागों में विभाजित होने के बावजूद नस्लीय रूप से संगठित थे।

वर्तमान आदिवासी विमर्श के बनिस्बत पचास एंव उसके आस-पास के दशक का आदिवासी विमर्श अधिक उदार, बेहद संयत, और ईमानदार था। उस समय साहित्य, नृतत्वशास्त्र और समाजशास्त्र आदि की समझ रखने वाले एक दूसरे से विचारों को का आदान-प्रदान कर रहे थे, आपस में सार्थक संवाद कर रहे थे। एक दूसरे की बात के साथ-साथ आदिवासियों को सुनते हुए अपने पूर्वाग्रहों पर अटल होने के बावजूद भी पॉलिसी व कार्यक्रमों में बदलाव कर रहे थे। यथा मानवशास्त्री वेरियर एल्विन का सुझाव राजनीतिज्ञ नेहरु मान रहे थे तो दूसरी ओर जयपाल मुंडा और पूर्वोत्तर के आदिवासियों से नेहरु निरंतर बातचीत कर रहे थे। एल्विन,ठक्कर

4.हंस, वर्ष-1, अंक-1 ,अगस्त 1986, संपादक-राजेंद्र यादव, पृष्ठ संख्या- 5

बापा,घुर्ये आदि मानवविज्ञानियों, राजनीतिज्ञों व सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच विचारों को लेकर बहसों का क्रम लगातार जारी था। इन सबने आधुनिक भारत में अपने-अपने दृष्टिकोण से आदिवासियों को परिभाषित किया और समाजशास्त्रीय व राजनैतिक अवधारणाएं गढ़ीं। यह पचास के दशक के आदिवासी विमर्श का ही नतीजा है कि इन लोगों ने अपने विचारों के सादृश्य ही सही, लेकिन समाज, साहित्य और राजनीति में एक विशिष्ट नस्ल व प्राचीनतम सभ्यता-संस्कृति जो की अपने आप में विलक्षण है, के स्रष्टा और वाहक के रूप में आदिवासियों को स्वीकार किया।

प्रेमचंद के विचारों को समाज की ओर उन्मुख करने का सफल प्रयास राजेन्द्र यादव द्वारा किया गया। कथाकार संजीव, अफ्रीकी कथाकार रिचर्ड राइव, फखर जमान की 'एक मरे बंदे की कहानी' आदि भविष्य में आदिवासी विमर्श को मजबूती प्रदान करने वाले रचनाकारों की रचनाएँ छापकर कर राजेंद्र यादव ने 'आदिवासी विमर्श' को विस्तार के साथ दिशा प्रदान की। रामशरण जोशी की किताब 'आदिवासी समाज और शिक्षा की 'हंस' में प्रशंसा करआदिवासी विमर्श पर बहस शुरू की। रमणिका गुप्ता जी के 'सीता' उपन्यास पर 'हंस' में चर्चा की। हिंदी पत्रकारिता ने समय-समय पर आदिवासियों के प्रति निरंतर शोषण, अत्याचार, अन्याय और संघर्ष सहित प्रकृति के अनियंत्रित दोहन का वस्तुपरक और तथ्यपूर्ण दस्तावेज प्रस्तुत किया है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कई पत्रकारों ने दलितों, स्त्रियों के साथ-साथ आदिवासी समाज की समस्याओं और संघर्षों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

मोहनदास नैमिशराय, नाग बोडस, रमणिका गुप्ता, शैलेंद्र सागर, कमलेश्वर, प्रभाष जोशी आदि लेखकों ने 'पत्रकार' के रूप में आदिवासी समाज का अध्ययन कर अपने आलेखों में समय-समय पर 'आदिवासी विमर्श' को आगे बढाया है। दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श का विरोध करने वाले पत्र-पत्रिकाओं पर मोहनदास नैमिशराय ने 'हंस'के माध्यम से तीखा प्रहार किया। "गैर-दलित बस्तियों में दलितों के खिलाफ नफरत उग रही थी, जिसे हवा देने का भरसक प्रयास स्थानीय अखबार कर रहे थे, वे अखबार दलित नहीं सवर्ण चलाते थे जो अपने धर्म तथा संस्कृति के पक्षधर थे भले ही उन दोनों में से ही सड़ांध आने लगी हो।"[5]

5.हंस' वर्ष-12, अंक-4 नवंबर 1997, संपादक राजेंद्र यादव ,पृष्ठ संख्या- 53

अपनी पत्रिका 'बयान' में दलित चिन्तक मोहनदास नैमिशराय ने दलित विमर्श के साथ आदिवासी विमर्श को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया हुआ है। लेपचा, डफला, पिरमी, गारो, खासी, नागा (उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र), भील, गरासिया, मीणा, महादेव कोली, वार्ली (पश्चिमी तथा उत्तर पश्चिमी क्षेत्र) संथाल, मुंडा, उराव, गौंड, कोल, भूमिया (मध्यवर्ती प्रदेश) टोडा, वायनाड, अंडमानी, ओंग (दक्षिण क्षेत्र) क्षेत्रों का विवेचन प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे के प्रमुख आदिवासी हिंदी पत्र- पत्रिकाओं में प्रतिवेदन, आलेख और साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यम से स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

लेखक एवं शिक्षाविद प्रो. मधुसूदन त्रिपाठी कहते हैं कि आज भारत आर्थिक विकास के पथ पर तेज गति से आगे बढता जा रहा है। भारत के हर हिस्से और हर वर्ग के चेहरे पर विकास की झलक देखी जा सकती है। इस सबके बावजूद आज भी समाज का एक वर्ग ऐसा है जो हजारों साल पुरानी अपनी परंपराओं के साथ जी रहा है। भारत के आदिवासी आज भी जंगली परिस्थितियों में किसी तरह से अपना जीवन यापन कर रहे हैं। संख्या में आदिवासी काफी है लेकिन विकास की बयार उन तक नहीं पहुँच पा रही है। आदिवासी समुदाय हमारे समाज का अभिन्न हिस्सा हैं लेकिन आज भी वे समाज की मुख्यधारा में शामिल नहीं हो पाये हैं और जरुरत इस बात की है कि आदिवासियों की समस्या को समझ कर उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल करने के प्रयास किये जाएँ।

हिंदी पत्रकारिता ने भी इसी धारणा को आगे बढाया है। विष्णु पराडकर, पं० सुंदरलाल, भीमराव अम्बेडकर, गणेश शंकर विद्यार्थी, महात्मा गांधी, राजेंद्र यादव, आधी दुनिया के संपादक मधुसूदन त्रिपाठी, युद्धरत आम आदमी की संपादिका रमणिका गुप्ता, अरावली उद्घोष के सम्पादक बी.पी वर्मा से लेकर समर लोक की संपादिका मेहरुन्निसा परवेज, लोकमत के संपादक अमिताभ श्रीवास्तव, कथन के संपादक रमेश उपाध्याय, चक्रवाक के संपादक निशांत केतु आदि तक साहित्यिक पत्रिकाओं में आदिवासियों की सामाजिक बुनावट, उनकी संस्कृति, धर्म, पर्व-त्योहार, संविधान में उनके अधिकारों के लिए किये गए उपबंधों और आदिवासी

विकास की नीतियों को प्रकाशित कर आदिवासी विमर्श को सशक्त करते हुए परिलक्षित होते हैं।

हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में आदिवासी समाज और जीवन से सम्बंधित जो सामग्री छप रही है वह अभी भी अन्य समाज की अपेक्षा में काफी कम है। आदिवासी समाज से आने वाले लेखक अपनी सच्चाई को निडर होकर लिख रहे हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपने समाज की सच्चाई को चित्रित कर उसे पत्र-पत्रिकाओं के जरिये अन्य समाज के सम्मुख ला रहे हैं। मनुष्य ने विकास के लिए कितना विनाश किया है उसकी कल्पना उसने कभी नहीं की।

हिंदी की कई साहित्यिक पत्रिकाओं ने आदिवासियों की दयनीय स्थिति की तरफ ध्यान आकृष्ट किया। दलित समाज से भी बदतर जीवन इन आदिवासियों के हिस्से में आया और यह समाज आज भी विपन्नता में जीवन बिताने के लिए अभिशप्त है। भूमंडलीकरण के इस दौर में देश के आदिवासी आज भी पेट भरने के लिए जंगलो पर निर्भर हैं। जंगली फल, पक्षी, हिरणों, सूअरों आदि का शिकार कर वे अपनी भूख को शांत करते हैं। जितेन्द्र श्रीवास्तव कहते हैं– “मानव सभ्यता के इतिहास में शायद ही कोई ऐसी जाति मिले, जो पराधीनों के लिए उदार रही है। यहाँ यह कहने में संकोच नहीं है कि ‘संस्कृति के दस्तावेज प्रायः बर्बरता के भी दस्तावेज होते हैं।’ गुलामी सबसे बड़ा अभिशाप होता है, वह सामाजिक- राजनीतिक हो अथवा शारीरिक–मानसिक।”[6]

<u>2.2. आदिवासी पत्रकारिता:-</u>

‘आदिवासी साहित्य’ पत्रिका के लोकार्पण के अवसर पर आदिवासी कवयित्री वंदना टेटे ने कहा था कि आज से ढाई सौ साल से भी पहले 11 फरवरी, 1750 को हमारे पुरखा लड़ाका जबरा पहाड़िया उर्फ तिलका माँझी का जन्म हुआ था। गुलाम भारत में अंग्रेजों से पहली लड़ाई उन्होंने ही लड़ी थी। झारखंड के राजमहल की पहाड़ियों पर, जंगल की तराई में। हम सभी देशवासियों को जानना चाहिए कि

6.भारतीय समाज की समस्याएँ और प्रेमचंद- जितेंद्र श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या-13

जबरा पहाड़िया उर्फ तिलका माँझी इस देश के स्पार्टाकस हैं। सबसे पहले आदिविद्रोही। भारतीय इतिहासकारों ने इतिहास में और साहित्यकारों ने साहित्य में, आदिविद्रोही बाबा तिलका के बारे में कुछ नहीं लिखा। क्यों? क्योंकि वे एक आदिवासी हैं। आदिवासियों में भी आदिम आदिवासी-पहाड़िया। उनके जन्मदिन पर 'आदिवासी साहित्य'का लोकार्पण का अर्थ है, इतिहास की संगति और चेतना से आदिवासी अभिव्यक्ति के एक नये दौर का आगाज। साहित्य में आदिवासी दर्शन यानी आदिवासियत की नई धमक। आज का दिन इसलिए भी ऐतिहासिक है कि स्वतंत्र भारत में राष्ट्रीय स्तर पर पहली बार आदिवासी समाज अपनी बात कहने के लिए कोई पत्रिका लोकार्पित कर रहा है। हम आदिवासी जो इस भारतीय भू-भाग के फर्स्टपीपल हैं, आजादी के सातवें दशक में 'आदिवासी साहित्य' के प्रकाशन से अपने लिए एक अखिल भारतीय मंच बनाने की शुरुआत कर पा रहे हैं- एक ऐसा साहित्यिक मंच जिसके अगुआ, लेखक, सम्पादक, प्रकाशक, वितरक- हम आदिवासी स्वयं हैं। हम शुक्रगुजार हैं उन तमाम लोगों के जो कभी-कभार हम पर विशेषांक निकालते हैं, गाहे-बगाहे हमारी रचनाओं को अपनी पत्र-पत्रिकाओं में, साहित्यिक मंचों पर जगह देते हैं। पर 'आदिवासी साहित्य' हम आदिवासियों की पहली स्वतंत्र पहल है। हम चाहेंगे कि इस आदिवासी पहल को भारतीय साहित्यिक जगत और गैर-आदिवासी बौद्धिक समाज अपना रचनात्मक समर्थन दे, जिससे भारतीय साहित्य समृद्ध हो और सच्चे अर्थों में उसका लोकतांत्रिक विस्तार हो।

"देश की पहली साहित्यिक आदिवासी पत्रिका करीब 87 साल पहले निकली थी, जिसका सम्पादक और प्रकाशक मुंडा समुदाय की एक आदिवासी महिला थी। 1928 में प्रकाशित वह आदिवासी पत्रिका हिन्दी भाषा में निकाली गई थी और विशुद्ध रूप से साहित्य की पत्रिका थी। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने उसकी अनदेखी की। उस पत्रिका के ग्राहक-पाठक गांधी जी भी थे। उस सम्पादक-प्रकाशक आदिवासी महिला का नाम है सुशीला सामद।"[7]

आरम्भ में सुशीला जी को वह स्थान नहीं मिला जिसकी वह अधिकारी थीं। 'आदिवासी' और 'चाँदनी' आदिवासियों के अपने दो प्रकाशन थे जो तीस के दशक के आसपास वर्तमान थे। इनमें 'आदिवासी' का प्रकाशन राँची से 'छोटा नागपुर उन्नति

7.वाचिकता- वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या-98

समाज' द्वारा और 'चाँदनी' का प्रकाशन देवेन्द्रनाथ सामद द्वारा चाईबासा से हो रहा था। इन दोनों पत्रिकाओं ने आदिवासी आंदोलनों और उनकी अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। देवेन्द्रनाथ सामद सुशीला जी के बहनोई थे। सुशीला जी शुरू में इन्ही पत्रिकाओं के लिए लिखती थीं। सुशीला जी स्वाधीनता संग्राम की लड़ाई में महिला मोर्चे पर नेतृत्वकारी भूमिका में थीं। वह नमक सत्याग्रह (डांडी मार्च) में झारखंड की आदिवासी महिलाओं के साथ थीं। उन्होंने 1948 में हुए खरसावां गोलीकांड में जख्मी आन्दोलनकारियों का इलाज-परिचर्या की। उन्होंने हिंदी और अपनी मातृभाषा में समान रूप से कविताएँ लिखीं। उनके दो काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जो क्रमशः 1934 और 1948 में प्रकाशित हुए। 1934 में प्रकाशित काव्य संग्रह की भूमिका 'सरस्वती' के तत्कालीन सम्पादक देवीदत्त शुक्ल ने लिखी जबकि 1948 में प्रकाशित उसके दूसरे काव्य संग्रह की भूमिका नलिन विलोचन शर्मा ने लिखी। दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी साहित्य ने इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया। "देश की इस पहली आदिवासी महिला कवयित्री और सम्पादक - प्रकाशक का नाम भारत के हिन्दी साहित्य के इतिहास से मठाधीशों ने फाड़कर फेंक दिया। इसलिए कि आदिवासी लोग हिन्दी के आरम्भिक काल से ही लिख रहे थे, इस सचाई को वे दबाना चाहते थे। वे महिलाओं को साहित्य लेखन का श्रेय देने को तैयार नहीं थे। इस दृष्टि से हिन्दी और भारतीय साहित्य का समूचा इतिहास-लेखन आधी-अधूरी, नस्लीय, सामन्ती और लैंगिक भेदभाव से भरा है।"[8]

आदिवासी पत्रकारिता के इतिहास में दूसरी महत्त्वपूर्ण पत्रिका 'आदिवासी सकम' है जो जयपाल मुंडा के संपादकत्व में जुलाई 1940 में जमशेदपुर से निकली। 'सकम' मुंडारी भाषा का शब्द है और जिसका अर्थ- पत्ता, अर्थात् पत्र होता है। 'आदिवासी सकम' में हिन्दी, मुंडारी, नागपुरी व अंग्रेजी में रचनाएँ छपती थीं। 'आदिवासी सकम' पत्रिका के बारे में वंदना टेटे लिखती हैं- "भारतीय साहित्य और पत्रकारिता के इतिहास में 'आदिवासी सकम' की वही भूमिका और महत्त्व है जो अजीमुल्ला खाँ द्वारा 8 फरवरी, 1857 को दिल्ली से प्रकाशित 'पयामे बाजादी', 1895 में मेघालय से 'खासी' आदिवासी भाषा में प्रकाशित 'यू खासी ता' यानी 'समकालीन खासी, इलाहाबाद से 1900 में शुरू हुई 'सरस्वती', 03 में उत्तर-पूर्व की

8.वहीं, पृष्ठ संख्या- 98

'खासी' आदिवासी पत्रिका 'यू नोङफिरा' यानी 'पहरेदार', 1906 में प्रकाशित बांगला का 'युगांतर'; 26 फरवरी, 1917 को मद्रास से अंग्रेजी प्रकाशित 'जस्टिस', 1922 की 'चाँद' या 1924 में पेरियार द्वारा शुरू की गई कुडी अरासु' यानी 'गणतंत्र' का है।"[9]

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में आरम्भ हुई आदिवासी पत्रकारिता और साहित्य, एक विकासमान परम्परा है। इस परम्परा में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दिनों में अनेक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। यहाँ उन सबका विवरण नहीं देते हुए केवल पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख किया जायेगा जो वर्तमान में हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। इनमें 'झारखंडी भाषा साहित्य-संस्कृति अखड़ा', 'अरावली उद्घोष' उदयपुर (राजस्थान) से, 'दलित आदिवासी दुनिया' दिल्ली से व 'आदिवासी सत्ता' मध्य प्रदेश से प्रकाशित हो रही है। इनमें भी साहित्यिक दृष्टि से केवल 'झारखंडी भाषा साहित्य-कृति अखड़ा' और 'अरावली उद्घोष' का महत्व है। यद्यपि हिन्दी की तुलना में आदिवासी भाषाओं में निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं की सूची बहुत लम्बी है। भारत के आदिवासी साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में 'आदिवासी सकम' और मेघालय की 'यू खासी माइंता' पत्रिकाओं का ऐतिहासिक महत्त्व है जिसमें आदिवासी दर्शन, साहित्य और समाज का वस्तुनिष्ठ और प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत किया गया है, साथ ही आदिवासियों के ब्रिटिश और आन्तरिक उपनिवेश विरोधी सांस्कृतिक स्वर को कलात्मक अभिव्यक्ति भी दी गयी है।

आज आदिवासी विमर्श को बहस के केंद्र में लाने में हिंदी पत्रकारिता सफल मानी जाती है। विभिन्न हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में आदिवासी समाज की विभिन्न समस्याओं, संघर्षों का वर्णन करने वाले पत्रकारों एवं लेखकों को हिंदी पत्रकारिता ने उचित स्थान दिया है। हिंदी पत्रकारिता ने आदिवासियों के भविष्य-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आज हिंदी पत्रकारिता का जो उन्नत रूप दिखाई देता है, उसमें सामाजिक पत्रकारिता का महत्वपूर्ण योगदान है।

9.वहीं, पृष्ठ संख्या- 99

हिंदी पत्रकारिता नए वातावरण के निर्माण की क्षमता रखती है। मुख्यधारा के समाज में हाशिये का जीवन व्यतीत करने वालों की समस्याओं के साथ-साथ हिंदी पत्रकारिता समाज से दूर जंगलों, पहाड़ों में रहने वाले आदिवासियों की समस्याओं पर भी गंभीरता से विचार कर सरकार और लोगों का ध्यान आकृष्ट करा रही है। आदिवासी विमर्श पर प्रकाशित रचनाओं पर चर्चा-परिचर्चा कर, संपादकीय टिप्पणियों और निबंधों के माध्यम से हिंदी पत्रकारिता ने आदिवासियों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, भाषाई, राजनीतिक जीवन के विविध पक्षों पर गंभीर अन्वेषण कर उसके विविध आयामों पर प्रकाश डाला है।

हिंदी साहित्य की पत्रिकाओं में समकालीन भारतीय साहित्य, पहल, मधुमती, हंस, कथन, बया, चिंतन सृजन, भाषा, आलोचना, अक्षरा, आलेख, वागर्थ, अकार, अक्षर पर्व, आजकल, साहित्य अमृत, वाक्, नया ज्ञानोदय, कथादेश, कथाक्रम, बहुवचन, प्रगतिशील वसुधा, साक्षात्कार, दस्तावेज, वांग्मय, युद्धरत आम आदमी, तद्भव, बनास जन,पाखी, आदिवासी साहित्य, पक्षधर आदि प्रमुख हैं; जिनमें आदिवासी जीवन और समाज के विभिन्न मुद्दों को केंद्रित कर रचनाएं हो रही हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पत्रिकाएं भी हैं जिनमें विशेष रूप से आदिवासी केंद्रित रचनाएं प्रकाशित होती हैं; उनके नाम अरावली उद्घोष, युद्धरत आम आदमी, आदिवासी साहित्य, समन्वय पूर्वोत्तर, प्रतिमान, अखड़ा, ककसाड़, समकालीन, जनमत, समयांतर, योजना आदि हैं। इन पत्रिकाओं में नियमित रूप से आदिवासी जीवन व समाज संबंधी रचनाएं प्रकाशित होती रही हैं। शुरुआत में कुछ पत्रिकाओं ने आदिवासी विमर्श को अस्वीकर किया एवं उदासीन रवैया अपनाया, लेकिन कई पत्रिकाओं ने इसको सहर्ष स्वीकार किया एवं स्वागत किया।

ऊपर जिन पत्रिकाओं का नामोल्लेख किया गया है, उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है-

<u>वर्तमान साहित्य :-</u>

सन् 1980 से नियमित रूप से प्रकाशित हो रही साहित्य अकादेमी की द्वैमासिकी 'समकालीन भारतीय साहित्य' एक पत्रिका ही नहीं, राष्ट्र की साहित्यिक अनुगूँज भी है। इसमें मौलिक हिंदी रचनाओं के साथ साहित्य अकादमी द्वारा

मान्यता प्राप्त 23 अन्य भारतीय भाषाओं की महत्त्वपूर्ण रचनाओं के हिंदी अनुवाद भी छपते हैं। यह पत्रिका भारतीय भाषाओं में सृजित कविता, कहानी, निबंध, यात्रावृत्तांत, संस्मरण, आत्मकथा, साक्षात्कार, पुस्तक समीक्षा तथा अन्य विधाओं की भी श्रेष्ठ रचनाओं को मंच प्रदान करती है, जो अपने समय की वस्तुस्थिति से पाठकों का परिचय कराती हैं। राष्ट्र के विशिष्ट साहित्य को समेटता इसका हर अंक पठनीय ही नहीं, संग्रहणीय भी होता है। समकालीन भारतीय साहित्य के अतिथि संपादक श्री बलराम प्रेम नारायण हैं।

पहल :-

पहल हिन्दी की एक अनियतकालिक पत्रिका थी। यह पत्रिका 1973 में शुरू हुई और 2021 में अपने 125वें अंक के साथ बंद हो गयी। पत्रिका का प्रकाशन वर्ष 1973 में शुरू हुआ और इसने विश्व स्तर को प्राप्त किया। 'पहल' के जरिए इसके संपादक ज्ञानरंजन ने लगातार जड़ता को तोड़ने के काम किया। पत्रिका ने आदिवासियों से जुड़े मुद्दों को भी भरपूर जगह दी। पहल अपने गंभीर लेखन व विचारों के कारण पत्रिकाओं के बीच शीर्ष स्थान पर रही।

हंस :-

देश की सर्व प्रतिष्ठित एवं सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली हिंदी साहित्यिक मासिक पत्रिका 'हंस' की शुरुआत 1930 में प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद ने की थी। आमतौर पर तो यह एक कथा पत्रिका थी, पर अपने सशक्त लेखों द्वारा हंस ने उस समय के बहुत से महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी मुद्दों को उजागर किया। हंस का सौभाग्य रहा कि कुछ समय के लिए महात्मा गाँधी ने भी सम्पादन मण्डली में सलाहकार के रूप में भूमिका निभायी।

अनेक वर्षों तक हंस का प्रकाशन बन्द रहा। बाद में मुंशी प्रेमचंद की जन्मतिथि (31 जुलाई) को ही सन् 1986 से अक्षर प्रकाशन ने कथाकार राजेन्द्र यादव के सम्पादन में इस पत्रिका को एक कथा मासिक के रूप में फिर से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया।

हिंदी साहित्य और समाज से जुड़े अनेक प्रासंगिक और महत्वपूर्ण मुद्दों पर बहस, और विमर्श की शुरुआत हंस से ही हुई, जिनके प्रभाव से इस क्षेत्र में अनेक

सकारात्मक बदलाव भी आए। तभी तो कहा जाता है कि हंस महज़ सौ पन्नों की पत्रिका ही नहीं, एक प्रथा और परंपरा है।

सन् 2013 में राजेन्द्र यादव की मृत्यु के बाद हंस का प्रकाशन और प्रबंध निदेशन उनकी पुत्री रचना यादव द्वारा किया जा रहा है और हिंदी के प्रख्यात कहानीकार संजय सहाय अब हंस के संपादक हैं।

आलोचना :-

"आलोचना, हिन्दी साहित्य जगत् में मूलतः आलोचना केंद्रित पत्रिकाओं में सर्वप्रथम, सर्वाधिक लंबे समय तक प्रकाशित एवं शीर्ष स्थानीय पत्रिका है। इसका प्रकाशन राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड के द्वारा होता है। बीच में दो बार प्रकाशन-क्रम भंग होने के बाद फिलहाल इस पत्रिका के प्रकाशन का तीसरा दौर जारी है। विभिन्न विचारधाराओं के श्रेष्ठ विद्वानों ने समय-समय पर इसका संपादन किया है। डॉ० नामवर सिंह सबसे अधिक समय तक इस के संपादन से जुड़े रहे हैं। अधिकांशतः सारगर्भित एवं विचारोत्तेजक आलेखों के प्रकाशन, विभिन्न समसामयिक मुद्दों में प्रभावकारी हस्तक्षेप तथा अनेक महत्वपूर्ण विशेषांकों के प्रकाशन के द्वारा इस पत्रिका ने संपूर्ण हिंदी साहित्य जगत् में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है"[10]

अक्षरा :-

अक्षरा मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति भोपाल से प्रकाशित प्रतिष्ठित पत्रिका है इसके प्रधान संपादक श्री कैलाश चंद्र पंत, संपादिका डॉ. सुनीता खत्री हैं। पत्रिका अपनी अच्छी एवं पठनीय रचनाओं के लिए जानी जाती है। अक्षरा पत्रिका, हिंदी भाषा के प्रचार प्रसार के उद्देश्य से देश के नामवर रचनाकारों की ही नहीं बल्कि विख्यात भाषाविद एवं साहित्यकारों के साथ साथ नव रचनाकारों की भी रचनाएं प्रकाशित करती है, तथा इसमें उन्हें न्यूनतम मानदेय का भी प्रावधान है।

बया :-

हिन्दी में आज कई महत्वपूर्ण पत्रिकाएं प्रकाशित हो रहीं रही हैं। ऐसी ही एक महत्त्व पूर्ण पत्रिका है–बया। गौरीनाथ जी के संपादन मे निकलने वाली यह पत्रिका

10.**(https://www.hmoob.in/hi)**

पहले छमाही प्रकाशित होती थी, लेकिन अब यह त्रैमासिक हो गयी है। यह पत्रिका 'अंतिका प्रकाशन' से प्रकाशित इस पत्रिका में पढ़ने के लिए भरपूर सामग्री रहती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक मुद्दों के विश्लेषण, विभिन्न विधाओं की आलोचनात्मक पड़ताल और अपने विचारोत्तेजक लेख के लिए भी जानी जाती है।

वागर्थ :-

"भारतीय भाषा परिषद की मासिक पत्रिका वागर्थ हिंदी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में एक है। इसका प्रकाशन 1995 से नियमित रूप से हो रहा है। अक्टूबर 2020 तक इसके 300 अंक प्रकाशित हो चुके हैं। यह पत्रिका विभिन्न साहित्यिक विधाओं की उत्कृष्ट रचनाएं प्रकाशित करती हैं। यह हिंदी के वरिष्ठ लेखकों के अलावा नई पीढ़ी के लेखकों की भी अपनी पत्रिका है।"[11] वर्तमान में इसके संपादक श्री शंभुनाथ हैं।

अक्षर पर्व :-

अक्षर पर्व, देशबंधु समूह की हिन्दी की एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका है। प्रगतिशील सोच के साथ रायपुर से प्रधान संपादक ललित सुरजन एवं संपादक सर्वमित्रा सुरजन द्वारा निकाली गयी यह पत्रिका छत्तीसगढ़ी साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका के रूप में सर्वोपरि स्थान रखती है।

इस पत्रिका ने साहित्य की विभिन्न विधाओं जैसे कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक, जीवनी, आत्मकथा, चिंतनपरक लेखों के साथ-साथ नवीन पुस्तकों का 'सृजन, समीक्षा, साहित्यिक संगोष्ठीयां, लोकार्पण, पुरस्कार, कला एवं साहित्य से संबंधित समाचारों को स्थान देकर भारतीय साहित्य को संवारने का काम किया।

आजकल :-

'आजकल' भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा काफी समय तक हिन्दी एवं उर्दू दोनों भाषाओं में प्रकाशित होने वाली पत्रिका का नाम है। यह पत्रिका हिन्दी भाषा में भारत सरकार के प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली से प्रकाशित होती है। वर्तमान में इसकी संपादिका फरहत परवीन हैं। यह पत्रिका साहित्यिक अभिरूचि के

11. **(https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/about-us/)**

सामान्य एवं विशिष्ट दोनों वर्गों के पाठकों को ध्यान में रखकर समय-समय पर विभिन्न विषयों पर विशेषांक निकालती है। पत्रिका के अधिकतर विशेषांक इसके साधारण अंको के आकार का ही होता है, उसमें छपी सामग्री संबंधित व्यक्ति या विषय पर केंद्रित होती हैं।

<u>वाक् :-</u>

वाक् पत्रिका की शुरुआत प्रसिद्ध समीक्षक प्रो. सुधीश पचौरी के संपादन में की गई थी। उन्होंने वाक् के कुल 31 अंकों का संपादन किया उसके बाद पत्रिका का प्रकाशन स्थगित हो गया।

<u>नया ज्ञानोदय :-</u>

'नया ज्ञानोदय' हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं में से एक है। यह पत्रिका भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका है। आरम्भ में यह पत्रिका जनवरी, 1949 से फरवरी, 1970 तक 'ज्ञानोदय' नाम से प्रकाशित होती थी 2003 में जब इसका पुन: प्रकाशन हुआ तब इसे 'नया ज्ञानोदय' नाम दिया गया।

<u>कथाक्रम :-</u>

'कथाक्रम' हिन्दी की एक त्रैमासिक पत्रिका है। यह लखनऊ से प्रकाशित होती है। यह पत्रिका प्रायः हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर लेखनी चलाने वाले लेखकों को साहित्यिक मंच प्रदान करती है। यह पत्रिका कहानी, यात्रावृतांत, संस्मरण, निबन्ध, कविता आदि सहित विचारोत्तेजक एंव शोधपरक लेखों का विपुल संग्रह है जो की हिन्दी पाठकों को साहित्यिक गतिविधियों से परिचित कराती है। शैलेन्द्र सागर जी 1998 से साहित्यिक त्रैमासिकी 'कथाक्रम' का नियमित सम्पादन कुशलतापूर्वक कर रहें है।

<u>बहुवचन :-</u>

बहुवचन हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण पत्रिका है। इस पत्रिका का प्रकाशन महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र से होता है। इसके संपादक अशोक मिश्र हैं।

प्रगतिशील वसुधा :-

'प्रगतिशील वसुधा' पत्रिका का प्रकाशन 'वसुधा' नाम से 1956 में प्रारंभ हुआ। हिंदी के प्रख्यात व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई इसके संस्थापक संपादक थे। दो वर्षों के प्रकाशन के उपरांत इसका प्रकाशन बंद हो गया था। मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा नब्बे के दशक में इसका पुनः प्रकाशन हुआ। 62 वें अंक तक यह पत्रिका 'वसुधा' नाम से प्रकाशित होती रही। 63 वें अंक से इसका नए रूप में प्रकाशन शुरू हुआ और नाम हुआ 'प्रगतिशील वसुधा। स्वयं प्रकाश एवं राजेन्द्र शर्मा इसके संपादक रहे हैं।

दस्तावेज :-

'दस्तावेज' गोरखपुर से प्रकाशित होने वाली साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका है। 1978 से प्रकाशित इस पत्रिका संस्थापक-संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी हैं। 'दस्तावेज' पत्रिका ने आरंभ से ही अपने संपादकीय के माध्यम से साहित्यिक चर्चाओं और विमर्शों में यथेष्ट हस्तक्षेप किया। हिंदी में शायद ही किसी साहित्यिक पत्रिका ने साहित्य, भाषा, संस्कृति, धर्म, समाज आदि पर इतनी तल्ख और संतुलित टिप्पणियाँ लिखी होगी जैसी 'दस्तावेज' में देखने को मिलती है। 'दस्तावेज' से निकले निबंध, आलोचना, नाटक, कहानी व संस्मरण आदि विधाओं से हिंदी का भंडार समृद्ध हुआ है।

वांग्मय:-

'वांग्मय' पत्रिका डॉ॰ एम. फीरोज अहमद के संपादकत्व में अलीगढ़ से निकलती है। यह पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की मान्यता प्राप्त शोध पत्रिकाओं की सूची में भी शामिल है। पत्रिका सामान्य अंकों के साथ-साथ कई महत्वपूर्ण विशेषाक भी प्रकाशित कर चुकी है। अधिकाश अंक हाशिये पर जीवन व्यतीत करने वालों के ऊपर केंद्रित हैं यथा दलित विशेषांक, नारी विशेषांक, आदिवासी विशेषांक, वृद्ध विमर्श एवं थर्ड जेंडर विशेषांक आदि। उक्त विशेषांक काफी चर्चित रहे और सराहे गए। पत्रिका के संपादक डॉ॰ एम.फ़ीरोज़ अहमद की संपादकीय दृष्टि और परिश्रम विशेषांकों में साफ़ दिखाई देता है।

तद्भव :-

"तद्भव हिन्दी की एक पत्रिका है। यह पत्रिका हर बार आधुनिक रचनाशीलता पर केन्द्रित एक विशिष्ट संचयन होती है तथा विशुद्ध साहित्यिक सामग्रियों को प्रकाशन में महत्त्व देती है। समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य के एक प्रमुख हस्ताक्षर अखिलेश ने इस पत्रिका का प्रकाशन मार्च, 1999 से प्रारंभ किया। इसका प्रकाशन लखनऊ, उत्तर प्रदेश से होता है। यह एक त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने अपनी निर्दिष्ट पत्रिकाओं की सूची में इस पत्रिका को शामिल किया है।"[12]

पाखी-

'पाखी' हिन्दी की मासिक पत्रिका है। सितंबर, 2008 नोएडा से नियमित प्रकाशित इस पत्रिका के संपादक अपूर्व जोशी हैं। इस पत्रिका ने हिन्दी साहित्य की पत्रिकाओं की भीड़ में अलग पहचान बनाई है। इसके प्रवेशांक का लोकार्पण हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह ने किया। पाखी पत्रिका अब तक ज्ञानरंजन, राजेन्द्र यादव, नामवर सिंह, संजीव आदि पर विशेषांक निकाल चुकी है। इसके अलावा समय-समय पर समसामयिक एंव आदिवासियों के मुद्दों पर लेख छापते रहते हैं।

पक्षधर :-

'पक्षधर' हिंदी की मुख्य पत्रिका है। हिंदी जनक्षेत्र के साहित्यिक और सांस्कृतिक निर्माण में रचनात्मक सहयोग करना इस पत्रिका का उद्देश्य है। इस पत्रिका का पहला अंक 1975 में दूधनाथ के संपादकत्व में निकला लेकिन पहले अंक के प्रकाशन के बाद आपातकाल लग जाने के कारण इसका प्रकाशन स्थगित हो गया। पुनः 2007 में विनोद तिवारी के संपादन में इसका प्रकाशन शुरू हुआ।

हिंदी और गैर हिंदी दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सामग्री और वैविध्य के चलते इस पत्रिका में सभी अंकों का सराहना मिली। पत्रिका, हिन्दी के बुद्धिजीवियों,

12.**(https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%A4%E0%A4%A6%E0%A5%8D%E0%A4%AD%E0%A4%B5_(%E0%A4%AA%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%95%E0%A4%BE)**

साहित्यकारों और अकादमिक संस्थानों में छात्रों के अतिरिक्त सामान्य पाठकों के द्वारा व्यापक रूप से पढ़ी ही जाती है।

कथन :-

'कथन' साहित्य और संस्कृति की त्रैमासिक पत्रिका है। इसके संस्थापक संपादक वरिष्ठ कथाकार रमेश उपाध्याय थे। वर्तमान में इसके संपादन की जिम्मेदारी उनकी पुत्री संज्ञा उपाध्याय उठा रही हैं। 'कथन' ने अपनी शुरूआत से ही विकल्पहीनता के भ्रम को तोड़ते हुए सही विकल्पों की दिशा में सोचने-समझने का प्रयास किया। इसीलिए पत्रिकाओं की भीड़ में इसकी अपनी अलग और विशिष्ट पहचान बन सकी।

युद्धरत आम आदमी :-

'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका की शुरुआत 1986 में हिन्दी की चर्चित लेखिका, कवयित्री एवं जुझारू महिला नेत्री रमणिका गुप्ता ने त्रैमासिक पत्रिका के रूप में हजारीबाग से की थी। इसका निबंधन 1988 में हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य आदिवासियों, दलितों, अल्पसंख्यकों और महिलाओं की सृजनशीलता को मंच प्रदान करना था। बाद में इसका प्रकाशन दिल्ली से होने लगा और वर्ष 2013 के अक्टूबर माह से इसे मासिक पत्रिका में परिणत कर दिया गया। रमणिका जी के निधन के बाद से ही पत्रिका बंद हो गई।

'युद्धरत आम आदमी' नामक पत्रिका आदिवासी, महिला, साम्प्रदायिक सद्भाव, जनवादी आन्दोलन पर तथा अनुवाद के क्षेत्र में शोध-परक कार्य करती है। इन मुद्दों पर अनेकानेक विशेषांक भी निकाले जा चुके हैं। यह हिन्दी की सम्मानित पत्रिका मानी जाती है। इसके माध्यम से आदिवासी, दलित व महिला लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं को प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त हुआ है। ये पत्रिका देश में आदिवासियों, दलितों व महिलाओं की स्थिति का एक आइना प्रस्तुत करती है। युद्धरत आम आदमी में दलित, आदिवासी, महिला तथा जनवादी लेखन से सम्बधित दो तिहाई सामग्री प्रकाशित होती है।"[13]

---

13. **(http://yuddhrataamaadmi.blogspot.com/)**

2.3. आदिवासी विषयक पत्रिकाएं:-

वर्तमान समय में आदिवासी समाज-संस्कृति, लोक-परंपराओं और साहित्य पर केन्द्रित कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। कुछ साहित्य उनकी भाषा में और कुछ मुख्यधारा की विभिन्न भाषाओं में छपकर सामने आ रहा है। यहाँ हिंदी में आदिवासियों पर केंद्रित पत्रिकाओं का परिचय दिया जा रहा है जिसमें आदिवासियों द्वारा निकाली जा रहीं पत्रिकाएं शामिल हैं।

अरावली उद्घोष :-

आदिवासी विषयक पत्रिका 'अरावली उद्घोष' के संस्थापक-संपादक स्व.बी. पी. वर्मा 'पथिक' थे। जुलाई 1988 से सतत प्रकाशित, अपनी सीमाओं के बाद भी अरावली उद्घोष आदिवासियों की एक मुकम्मल पत्रिका रही है। राजस्थान और उसके सटे राज्यों गुजरात और मध्य प्रदेश के आदिवासियों की चिंताएं इसके केंद्र में रही हैं।

अरावली उद्घोष ने आदिवासी साहित्य लेखन की जो परंपरा प्रतिष्ठित की है वह आदिवासी लेखन के क्षेत्र में असाधारण हैं। इस पत्रिका ने कथा-कहानी, कविता, संस्मरण, आलोचनात्मक लेख, शोधपरक लेख, समीक्षा आदि के साथ-साथ विशेषांक निकालकर आदिवासी साहित्य लेखन के क्षेत्र में एक नई अलख जगाई है।

आदिवासी साहित्य :-

'आदिवासी साहित्य' दिल्ली से प्रकाशित होने वाली आदिवासी विषयक पत्रिका है। जनवरी 2015 से प्रकाशित इस पत्रिका के संपादक गंगा सहाय मीणा हैं। पत्रिका की संपादकीय टीम में देशभर के सभी प्रमुख आदिवासी साहित्यकार शामिल हैं। यह त्रैमासिक पत्रिका विभिन्न स्तंभों में बँटी हुई है- कहन-गायन, मुंहामुंही, दर्शन-वैचारिकी, रंग-रोगन, देस-दिसुम, सकम और अखड़ा। पत्रिका ने बहुत कम समय में ही हिंदी जगत में अपनी विशिष्ट पहचान बना ली है।

अखड़ा :-

झारखण्डी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, आदिवासियों से संबंधित पत्रिकाओं में से एक है। वर्ष 2004 से यह पत्रिका नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। वंदना टेटे इसकी संस्थापक संपादक हैं। प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन,,रांची द्वारा प्रकाशित इस पत्रिका ने झारखंड के अतिरिक्त देश के अन्य हिस्सों के लेखकों, रचनाकारों को जोड़कर आदिवासी साहित्य के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण व मानसिकता तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

निरंग पझरा :-

आदिवासियों की विभिन्न समस्याओं एवं मुद्दों को लेकर एक पत्रिका 'निरंग पझरा' विगत कुछ वर्षों से बंगाल से प्रकाशित हो रही है। इसके संपादक ओलिवा अर्जुन इंदवार हैं। यह पत्रिका न केवल आदिवासी समस्या, संघर्ष, साहित्य, संस्कृति, इतिहास के बारे में बात करती है बल्कि उनके आर्थिक विकास के बारे में भी चिन्ता व्यक्त करती है, आदिवासी समाज में आ रहे परिवर्तन एवं आकांक्षा को भी दर्शाती है। इसके अलावा पत्रिका में आदिवासी जीवन से संबंधित कहानी, कविता, संस्मरण आदि भी प्रकाशित हैं।

आदिवासियों से संबंधित अनेक उपयोगी संवैधानिक प्रावधानों तथा कल्याणकारी योजनाओं के प्रति आदिवासियों को जागरूक करना तथा आदिवासियों की लेखकीय क्षमता को प्रोत्साहित करना भी इस पत्रिका का उद्देश्य है।

समन्वय पूर्वोत्तर :-

'समन्वय पूर्वोत्तर' पूर्वोत्तर भारत में हिंदी और स्थानीय भाषा, साहित्य, संस्कृति से जुड़ी परंपराओं एवं अकादमिक विमर्शों पर केंद्रित केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पूर्वोत्तर क्षेत्रीय केंद्रों की संयुक्त पत्रिका है। इसका प्रकाशन संस्थान के शिलांग केंद्र द्वारा त्रैमासिक आधार पर किया जाता है।

समन्वय पूर्वोत्तर ने हिंदी तथा पूर्वोत्तर की भाषाओं के बीच सेतुबंधन का उल्लेखनीय कार्य किया है। इसने पूर्वोत्तर के आधुनिक व समकालीन और लोक साहित्य से हिंदी समाज को परिचित कराया है। इसके जरिये हम पूर्वोत्तर की

जनजातीय कविता का आरंभिक आकलन करते हुए देख सकते हैं कि वहां जनजातीय कवियों में अपने समय के उलझावों को पहचानने और उससे सामना करने का विलक्षण साहस है।

<u>ककसाड़ :-</u>

जनजातीय सरोकारों की राष्ट्रीय पत्रिका 'ककसाड़' दिल्ली से डॉ.राजाराम त्रिपाठी के संपादक में 2015 से निकल रही है। इस पत्रिका ने पाठकों को जनजातीय चेतना, कला, संस्कृति एंव परंपराओं को समझने-बूझने के लिए एक अलग दृष्टिकोण दिया।

2.4. गैर-साहित्यिक पत्रिकाएं:-

साहित्यिक और आदिवासी केंद्रित पत्रिकाओं के अलावा गैर-साहित्यिक पत्रिकाओं में भी समय-समय पर आदिवासी जीवन, समाज, संस्कृति, लोक साहित्य और उनके सामयिक मुद्दों को लेकर लिखा जाता रहा है। आदिवासी विमर्श को आगे बढ़ाने में इनका भी योगदान महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसी कुछ पत्रिकाओं का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

<u>समकालीन जनमत :-</u>

1980 के बिहार के किसान आन्दोलन के गर्भ से पैदा हुई इस पत्रिका का प्रकाशन कई बार शुरू हुआ और संसाधनों के अभाव के चलते कई बार स्थगित किया गया। कभी इसका मुख्यालय पटना बनाया गया तो कभी दिल्ली। वर्तमान में इसका मुख्यालय इलाहाबाद है और संपादक के के पाण्डेय हैं।

'जनमत' की शुरुआत पटना से हुई थी। अग्निपुष्प, नवेन्दु और श्रीकान्त जैसे लेखक व पत्रकार इसके आरंभिक संपादक थे। "यह क्रान्तिकारी वामपंथी लेखक महेश्वर की प्रतिभा, परिश्रम और साथ था जिससे 'जनमत' में न सिर्फ राजनीतिक-वैचारिक गहराई आयी बल्कि इसके पाठकों का दायरा भी बढा। 'आदमी को निर्णायक होना चाहिए' इस वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ ताजिन्दगी संघर्ष करने

वाले महेश्वर के लिए ‘जनमत’ उनका वैचारिक व सांस्कृतिक मंच था। ‘जनमत’ इसी प्रक्रिया में ‘समकालीन जनमत’ हुई।”[14]

<u>प्रतिमान :-</u>

मूल रूप से यह समाज विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका है। यह पत्रिका हिंदी में प्रकाशित होती है और अभय कुमार दुबे इसके प्रधान संपादक तथा आदित्य निगम, रविकांत और राकेश पाण्डेय इसके संपादक हैं। यह हिन्दी में संभवत: ऐसी पहली पत्रिका है जिसमें समाज-विज्ञान और मानविकी से जुड़ी इतनी गंभीर सामग्री एक जगह पढ़ने को मिलती है।

<u>योजना :-</u>

‘योजना’ 1957 से प्रकाशित विकास को समर्पित मासिक पत्रिका है। इसका प्रकाशन भारत के 'सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय' के अधीन प्रकाशन विभाग द्वारा किया जाता है। पत्रिका में सरकारी थिंक टैंक और नीति निर्माताओं सहित विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों और वरिष्ठ लेखकों एंव पत्रकारों द्वारा गहन विश्लेषण के रिपोर्ट एंव लेख होते हैं।

<u>2.5. पत्रिकाओं के आदिवासी विमर्श केंद्रित विशेषांक:-</u>

ऊपर चर्चित साहित्यिक और आदिवासी केंद्रित पत्रिकाओं में से कई पत्रिकाओं ने आदिवासी साहित्य विमर्श पर विशेषांकों का प्रकाशन किया है। गैर-साहित्यिक पत्रिकाओं में भी आदिवासी समाज, संस्कृति, जीवन को लेकर विशेषांक निकले हैं। वर्ष 2005 में ‘युद्धरत आम आदमी’ पत्रिका में अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक निकला। वर्ष 2011 में ‘सब लोग’ पत्रिका में आदिवासी विशेषांक प्रकाशित हुआ। वर्ष 2011 के ही ‘कथाक्रम’ के अक्टूबर-दिसम्बर अंक में आदिवासी विशेषांक प्रकाशित हुआ। 2012 में जनवरी-जून के अंक में ‘इस्पातिका’ में आदिवासी साहित्य-विमर्श पर विशेषांक आया। वर्ष 2019 में पक्षधर पत्रिका का संयुक्तांक: 25, 26 जुलाई-दिसम्बर, 2018 - जनवरी-जून, 2019 में आदिवासी विशेषांक प्रकाशित हुआ। यहाँ पर विभिन्न पत्रिकाओं में आदिवासियों पर निकाले गए आदिवासी विशेषांक की सूची दी जा रही है-

14. **(https://www.bhadas4media.com/old/samkalin-janmat/)**

1. युद्धरत आम आदमी (अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक) अंक-80, वर्ष-2005

2. पूर्वग्रह, जुलाई-सितम्बर, वर्ष-2010

3. सबलोग, जनवरी, वर्ष- 2011

4. अखड़ा, सितम्बर-नवम्बर, वर्ष-2011

5. कथाक्रम, अक्तूबर-दिसंबर, वर्ष-2011

6. बहुवचन, अक्तूबर-दिसंबर, वर्ष-2011 (संयुक्तांक)

7. इस्पातिका, जनवरी-जून, वर्ष-2012

8. अरावली उद्घोष, अप्रैल, वर्ष-2013

9. वांङ्मय, मई- जुलाई, वर्ष-2013 (आदिवासी विशेषांक-एक)

10.वांङ्मय, अक्तूबर, 2013-मार्च, 2014, वर्ष-2014 (आदिवासी विशेषांक-दो)

11. साहित्यमाला, वर्ष-2015, (DSK-II)

12. पक्षधर, जुलाई-दिसम्बर, 2018-जनवरी-जून, 2019, वर्ष-2019 (संयुक्तांक)

13.योजना (भारत में जनजातियाँ) जुलाई, वर्ष-2022 (गैर साहित्यिक पत्रिका)

2.6. आदिवासी विमर्श के विकास में पत्रिकाओं की भूमिका:-

पत्रिकाओं की पूंजी उसके पाठक और उनका उत्साह है। आज हिंदी में सैकड़ों साहित्यिक पत्रिकाएं मौजूद हैं और बड़ी संख्या में इनके पाठक भी हैं। कई पत्रिकाएं अपने ढांचे में लचीलापन लाकर आदिवासी विमर्श (जिसे अब तक का नया विमर्श माना गया है) जैसे नए विषय से संबंधित रचनाकारों की रचनाओं को जगह देकर उनका उत्साहवर्धन कर रही हैं। इसका लाभ यह हुआ कि आदिवासी रचनाकारों की रचनाओं ने आदिवासी समाज को लेकर फैली नितांत भ्रामक धारणाओं को तोड़ने का काम किया, साथ ही उसके आदिवासी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र को सुस्पष्ट स्वरूप दिया।

विगत कुछ वर्षों में आदिवासियों को लेकर जो साहित्यिक और वैचारिक आन्दोलन हुए हैं उनमें साहत्यिक पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका हैं। उपर्युक्त

पत्रिकाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी विमर्श के विकास में साहित्यिक और आदिवासी केंद्रित पत्रिकाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आदिवासी केंद्रित पत्रिकाओं का मुख्य स्वर प्रतिरोध का है। हम इन्हें समाज-विशेष की लघु पत्रिका बताकर उसके उद्देश्यों का सरलीकरण कर देते हैं, जो कि उचित नहीं है। ये पत्रिकाएं अपने समाज की समस्याओं के निदान हेतु हस्तक्षेप करती हैं। आदिवासी समाज को जिस आश्चर्य और कौतूहल से देखा जाता था उस सोच में परिवर्तन करने का महत्वपूर्ण कार्य इन पत्रिकाओं द्वारा ही संपादित हुआ है। धारणाओं में आने वाले इन बदलावों में सकारात्मक भूमिका निभाकर उनका परिचय मुख्यधारा के समाज कराना तथा उन्हें विकास के मुख्यधारा से जोड़ने का कार्य एक महत्वपूर्ण कदम था जिसमें पत्रिकाओं ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आदिवासियों के मुद्दों और उनकी साहित्यिक रचनात्मकता को पत्रिकाओं में स्थान देकर हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं ने अपनी उदारता का परिचय दिया है, साथ ही संप्रेषण शक्ति और सृजन धर्मिता को एक नई पहचान और गतिशीलता प्रदान की है।

आदिवासी सर्जक अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने अधिकार की बात की मुखर कर रहे हैं, इसमें इनका सहयोग पत्र-पत्रिकाएं कर रही हैं। इन पत्रिकाओं में आदिवासी और गैर-आदिवासी लेखक अपनी लेखनी के जरिये आदिवासियों का शोषण करने वाली, उनके साथ अन्याय करने वाली शक्तियों का विरोध कर आदिवासियों का समर्थन कर रहे हैं। इन रचनाओं में प्रतिरोध के स्वर मुख्य होते हैं। ये पत्रिकाएं विभिन्न समस्याओं से जुझते हुए आदिवासियों और उनको लेकर सरकार की केन्द्रीय नीतियों पर भी नज़र रखती हैं।

साहित्यिक पत्रिकाओं को संकीर्णता के दायरे से बाहर निकलने की आवश्यकता है। पूर्वाग्रह और व्यावसायिक उद्देश्य से निकलने वाली पत्रिका, साहित्यिक और विमर्शकारी पत्रिका नहीं हो सकती। बहुत सी पत्रिकाओं के संपादकों के प्रायः विशिष्ट वैचारिक पूर्वाग्रह होते हैं, जिसके अतिक्रमण की जरूरत है। इन पत्रिकाओं के संपादकों को राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचने के साथ आँचलिक स्तर पर भी सशक्त पाठक वर्ग तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए। बाज़ारवाद के कारण पत्रिकाओं में आज विचार और मूल्य का क्षेत्र सिमट रहा है। ऐसे में पत्रिकाएं अपने वजूद को बचाए रखना चाहती हैं तो उसे व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त होना पड़ेगा।

पूँजीवाद विभिन्न रूपों में सामने आ रहा है। इसीलिए हाशिए के समाज के ज्वलंत सामाजिक मुद्दों से हटकर केवल शुद्ध साहित्य की बात करना अपनी जिम्मेदारी से पलायन करना है। पूंजीवादी संस्कृति ने आदिवासियों के साथ पत्रिकाओं पर भी अपना कुत्सित प्रभाव डाला है। आज कई पत्रिकाएं व्यावसायिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर अपनी जनपक्षधरता को खत्म कर रही हैं। चरम पूँजीवादी सभ्यता के दौर में भूमिकाएं, सवाल तथा परिप्रेक्ष्य वास्तविकता से उत्पन्न होते हैं। पत्रकारिता ने अपने शुरूआती दौर से ही विवादों और विचारों के माध्यम से बौद्धिक परिदृश्य और वातावरण की रचना की। लेकिन आज विवादों में जहाँ विचार की संभावना है, उसे संपादक और रचनाकारों द्वारा नजरंदाज किया जा रहा है।

वर्तमान में हिंदी की छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में आदिवासियों को वाणी मिली है। आदिवासी साहित्य को साहित्यिक और गैर साहित्यिक पत्रिकाएं स्थान दे रही हैं, जो उसकी बदली हुई भूमिका का सूचक हैं। पहले पत्रिकाएं आदिवासियों की रचनाओं को कलात्मक नहीं है या सौंदर्यशास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं है-कह कर वापस कर देती थीं। आज आदिवासी साहित्य में न्याय की कसौटी के रूप में स्वीकृति का श्रेय भी पत्रिकाओं को जाता है।

पत्रिकाओं के बदलते संसार ने विविधता से भरे आदिवासी समाज एवं उनके मुद्दों को महत्त्व दिया है जो कि नब्बे के दशक के पूर्व बहुत कम दिखाई देती है। आज पत्रिकाएँ आदिवासी और गैर-आदिवासी की बहस से आगे बढ़कर आदिवासियों के बुनियादी माँगों और जटिल समस्याओं के समाधान के लिए आवाज उठा रही हैं।

समाज से संवेदनाओं का क्षरण हो रहा है इसके लिए आदिवासी समुदाय सामूहिकता, सहजीविता, सहअस्तित्व, समता, सहभागिता और सामंजस्य के आधार पर संवेदनशील समाज का निर्माण चाहता है। साहित्यिक पत्रिकाएं दलित, स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक, किन्नर आदि वंचित तबकों को उचित स्थान देकर कलावाद और वैचारिक शास्त्रवाद से मुक्त हो रही हैं।

तीसरा : अध्याय

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता : आदिवासी कविता

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता : आदिवासी कविता

पिछले कुछ दशकों से हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में आदिवासियों से संबंधित रचनाओं में महत्त्वपूर्ण बढ़ोत्तरी हुई है, जिससे आदिवासी विमर्श को गति मिली है। आदिवासी विमर्श स्वतंत्रता के उपरांत नवें दशक में आए दलित और स्त्री विमर्श के बाद का विमर्श है। आज आदिवासी एवं उनके जनजीवन से जुड़े मुद्दों पर आदिवासी व गैर-आदिवासी साहित्यकारों द्वारा साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखन हो रहा है। पत्र-पत्रिकाओं, सभाओं-संगोष्ठियों आदि में आदिवासियों के जीवन पर नए-नए आयामों से विचार-विमर्श हो रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि आदिवासी साहित्य के माध्यम से आदिवासी अस्मिता और संघर्ष एक नया स्वरूप धारण कर रहा है।

कविता आदिवासी साहित्य की महत्वपूर्ण विधा रही है। महत्वपूर्ण इसलिए कि आदिवासियों की संस्कृति में लोकगीतों की समृद्ध परंपरा रही है। शुरुआती आदिवासी साहित्य गीत या कविता के माध्यम से ही हमारे सम्मुख आता है। आदिवासी कवियों में प्रमुख रूप से हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन, जसिंता केरकेट्टा आदि का नाम लिया जा सकता है। इन कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से अनुभूत यथार्थ के साथ-साथ सामाजिक जीवन संघर्ष को अभिव्यक्त किया है। आदिवासी कविताओं में स्त्री-जीवन के संघर्ष, पलायन, अस्मिता और शिक्षा, घुसपैठ, आर्थिक आक्रमण, सामाजिक संक्रमण आदि जैसी समस्याएं प्रमुख रूप से उल्लेखित हैं। पुरुषों के बराबर दावेदार कही जाने वाली आदिवासी स्त्री क्या अपनी अस्मिता और अस्तित्व के सवाल से मुक्त है? एक समय था जब आदिवासी स्त्री पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलती थी। किंतु तथाकथित सभ्य समाज की पूँजी-लोलुप घुसपैठ ने आदिवासी स्त्रियों का

अधिकार न केवल छीन लिया बल्कि उन्हें दोयम दर्ज़े का जीवन जीने के लिए विवश कर दिया है।

3.1.आदिवासी स्त्री का संघर्ष:-

औपनिवेशिक काल से पहले आदिवासी समाज में महिला और पुरुष सभी काम समान रूप से करते थे, संपत्ति पर दोनों का हक बराबर था। अंग्रेजों के आने के बाद और सभ्य समाज के हस्तक्षेप ने स्त्रियों को संपत्ति के अधिकार से वंचित कर तथा उन्हें हल चलाने, छप्पर छाने, तीर धनुष चलाने आदि कामों से दूर कर दिया। आज आदिवासी स्त्री एक तरफ बाजारवाद की वजह से समाज के मुख्यधारा से उत्पीड़ित है तो दूसरी ओर स्त्री होने के कारण अपने ही समाज में शोषित है। इस दोहरे शोषण के संत्रास में भी वह अपनी अस्मिता को नहीं भूलना चाहती। निर्मला पुतुल अन्याय का विरोध करते हुए कहती हैं-

"जानती हूं कि अपने गांव बागजोरी की धरती पर

जब तुम ने चलाया था हल

खूंटे में बांधकर खिलाया था भूसा"[1]

आदिवासी लड़कियों व स्त्रियों का जमीदारों, मुखिया एवं कथित पूँजीवादी सभ्य समाज के पुरुषों द्वारा शोषण होता आया है। इन्हीं शोषकों के द्वारा मानव-तस्करी जैसे घृणित और क्रूर कृत्यों में इन लड़कियों को बड़े-बड़े महानगरों में बेचा जाना भी शामिल है। नौकरी, शादी आदि के नाम पर इन मासूम लड़कियों को इन महानगरों में लाया जाता है जहाँ इन्हें कोठे पर धंधा करने या नाचने के लिए

1.कथादेश, मई 2004, कुछ मत कहो सजोनी किस्कू, पृष्ठ संख्या- 67

बार में भेज दिया जाता है। जहाँ से उनके घर-वापसी के सारे रास्ते बंद हो जाते हैं। शराब और रुपये के प्रलोभन में खुद उनके समाज का व्यक्ति अपनी बहन-बेटियों का सौदा करता है, जिसे निर्मला पुतुल अपनी कविता में व्यक्त करती हैं-

"कैसा बिकाऊ है तुम्हारी बस्ती का प्रधान
जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में रख देता है
पूरे गांव को गिरवी
और ले जाता है लड़कियों को गठ्ठर की तरह
लादकर अपनी गाड़ियों में तुम्हारी लड़कियों को हजार- पांच सौ हथेलियों पर रखकर"[2]

स्त्रियों का शोषण केवल पुरुषों द्वारा होता है। ऐसा नहीं है; इसमें स्त्रियां भी शामिल हैं। कई बार ऐसा हुआ है जिसमें कुछ आदिवासी स्त्रियाँ अपने समाज की लड़कियों को भुलावा देकर शहर में लाती हैं-

"और हां- पहचानो!

अपने ही बीच की उस कई-कई ऊंची सैंडिल वाली

दिल्ली की आया बनाने वाली फैक्ट्रियों में

कर रही हैं कच्चे माल की तरह सप्लाई"[3]

बाहरी लुटेरों ने तो पहले आदिवासियों के समाज को उजाड़ा। फिर उनकी स्त्रियों के साथ घिनौना पूँजीवादी खेल कर रहा है। आज जंगल उजड़ रहे हैं,

2.कथादेश, मई 2004, चूड़का सोरेन से, निर्मला पुतुल, पृष्ठ संख्या- 72

3.वहीं, पृष्ठ संख्या 72

आदिवासियों का पलायन हो रहा है, उन्हें रोजी-रोटी नहीं मिल रही है, ऐसे में उनकी गरीबी और मजबूरी का फायदा लेने में कथित सभ्य समाज कोई कसर नहीं छोड़ रहा है। रोजगार के लिए बड़े शहरों में गयी हुई कई स्त्रियां गुम हो गईं जिनका कभी भी कोई पता न चल सका। अपने समाज की स्त्रियों को शहर में ढूंढती हुई निर्मला पुतुल कहती हैं-

"मैं इलाके की उन गुम हो गई लड़कियों को

ढूँढना चाहती हूँ

बची है उनकी आंखों में या नहीं

देखना चाहती हूं मैं"[4]

आदिवासी स्त्रियों ने कविता के माध्यम से कथित मुख्यधारा को चुनौती देते हुए अपनी सार्थक और चुनौती भरी भागीदारी प्रस्तुत की है। अपने जीवन की बुनियादी समस्याओं यथा जीवन-संघर्ष, दुख, त्रासदी आदि को कविता के माध्यम से व्यक्त किया है।कथित सभ्य समाज की धारणा में प्रायः आदिवासी स्त्रियों को निम्न दर्जे का माना जाता है। आदिवासी कविता, स्त्री अस्तित्व के अनेक प्रश्नों पर चर्चा चाहती है जो सुलझाए नहीं गए और मुख्यधारा के लोग और साहित्य तो सदैव ही इन विषयों से किनारा करते आया है। आदिवासी स्त्रियाँ अपने अनुभव के संसार का फैलाव करते हुए कविताओं को गढ़ रही हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भले ही आदिवासी स्त्रियां पीछे हों लेकिन सामाजिक विसंगति बोध को लेकर उनमें चेतना जागृत हुई है। उनकी लेखनी अब शोषकों को चुनौती दे रही है। आदिवासी कवियों ने अपने अस्तित्व के संघर्ष को अपने आत्मसम्मान से जोड़कर पहचान के संघर्ष और मूल्यों का पर्याय बना दिया है।

4.हंस, मई-2005, आपके शहर में आपके बीच रहते आपके लिए, पृष्ठ संख्या- 50

आदिवासी स्त्रियां आदिवासी समाज का मुख्य स्तंभ होती हैं। श्रम भी पुरुषों से अधिक ही करती हैं। आदिवासी कविताओं में इन स्त्रियों के जीवन संघर्ष, उन पर हो रहे अत्याचार आदि का जीवंत चित्रण किया गया है। विपरीत परिस्थितियों में भी हिम्मत बनाए रखने वाली इन स्त्रियों के साहस से आदिवासी कविताएँ भरी पड़ीं हैं।

स्त्रियों का शोषण हर समाज में होता आया है। हमारा समाज एक ओर सैद्धांतिक तरीके से स्त्री को श्रद्धा और सम्मान का पात्र बताता है और "यत्र नार्यन्ति पूज्यंते रमन्ते तत्र देवता" जैसी सूक्तियाँ बाँचता है तो दूसरी तरफ उसे दासता की बेड़ियों में बांधकर रखता है। वस्तुवादी और भोगवादी ग्रंथि से ग्रसित पितृसत्तात्मक समाज स्त्रियों के लिए ऐसी भाषिक अभिव्यक्तियाँ गढ़ लेता है जो स्त्री को केवल उपभोग की वस्तु के रूप में सीमित कर देती है। विभिन्न आदर्शमूलक घोषणाओं के बावजूद स्त्रियां स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार से वंचित हैं। आदिवासी समाज में जब से बाहरी लोगों की घुसपैठ हुई है, आदिवासी स्त्रियां निम्न दर्जे की समझी जाने लगी हैं। इन स्त्रियों को उनकी अपनी मौलिक और सामाजिक पहचान से दूर रखे जाने का प्रयास किया जा रहा है। वे अपनी मूल पहचान, आदिवासियत के साथ जीना चाहती हैं और इस पहचान के लिए निरंतर संघर्षरत हैं। आज के इस भागदौड़ भरी जिंदगी में अपना घर तलाशते हुए पुरुष समाज से सवाल भी करती हैं-

"क्या तुम जानते हो

पुरुष से भिन्न

किस तरह एक ही समय में

स्वयं को स्थापित और निर्वासित करती है एक स्त्री ?"[5]

5.अरावली उद्घोष, क्रमांक 92, निर्मला पुतुल की कविता, पृष्ठ संख्या- 55

आज आदिवासी स्त्री अस्मिता के लिए संघर्ष करती नजर आ रही है। स्त्रियों की पहचान पर आए इस संकट के लिए वैश्वीकरण जिम्मेदार है, जिसने हर वस्तु को बाजार में बदल दिया है। इस वैश्वीकरण ने स्त्रियों को भी बाजार में वस्तु की पंक्ति में खड़ा कर दिया है। वैश्वीकरण से बढ़ता आर्थिक दोहन देश की अखंडता के लिए भी खतरा बन गया है। आदिवासी कविता में आदिवासी स्त्री की आदिवासियत, प्रकृति संरक्षण की चिंता, पहचान के संघर्ष आदि को देखा जा सकता है। आदिवासी कविता, स्त्री अस्मिता की तलाश एवं शोषण के विभिन्न रूपों को उजागर करने वाला प्रतिरोध का साहित्य है।

आदिवासी स्त्री अपने मौलिक अधिकार और स्वतंत्रता की खोज में बेचैन है। आदिवासी स्त्रियां दुर्गम प्रदेशों में रहती हैं, वहाँ की कर्ताधर्ता हैं परंतु आज वे विकास के नाम पर हो रहे विस्थापन, पलायन और संगठित लूट से उपजे शोषण में जीवन जीने को अभिशप्त हैं। कविता में चित्रित आदिवासी स्त्री में वह सामर्थ्य है जो स्त्रियों को नया रास्ता दिखाता है एवं अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई में प्रेरक और मार्गदर्शक के रूप में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

समकालीन आदिवासी कविता का मुख्य विषय शोषण से मुक्ति व अस्मिता को फिर से हासिल करना है। आदिवासी समाज अत्याचार एवं अमानवीय जीवन से मुक्ति का सपना देखता है। साथ ही कथित मुख्यधारा के समाज की उपेक्षा से उनके अंदर आक्रोश भी है। आदिवासी कविता में, अनुभूत यथार्थ, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक समस्याओं का सहज चित्रण व आदिवासी प्रतिरोध के स्वर की मुखर अभिव्यक्ति मिलती है। इन कविताओं में आदिवासी स्त्रियों का संघर्ष, अस्मिता की लड़ाई, पलायन तथा शिक्षा जैसी प्रमुख समस्याएं देखी जा सकती हैं। निर्मला पुतुल इन समस्याओं को सतर्कता से रखती हैं व उसका रेखांकन भी करती हैं-

"पर अफसोस !

आपको मेरी बातों में दिलचस्पी कम

मेरी आंखों में उजड़ते जंगलों का बियावान दृश्य है

पलायन कर रहे लोगों की भीड़ है"[6]

आदिवासी स्त्रियों ने अपने अधिकारों के लिए पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम किया है। उन्होंने तीर और तरकश के साथ युद्ध में अपने समुदाय पर होने वाले किसी भी आक्रमण का डटकर मुकाबला किया है। साथ ही दूसरी ओर समाज के नियम-कानून और वंचनाओं का भी मुकाबला किया है। आदिवासी कविता, स्त्री अस्मिता के सवालों को निडरता से उठाती है। आदिवासी कवियों का मानना है कि जब अस्तित्व ही संकट में हो तो ऐसे में विद्रोह के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं है-

"तीर कमान हम सब तैयार कर लें

देखेंगे और सामना करेंगे, उस राक्षस दिकु को"[7]

भारतीय शास्त्रों, कला-ग्रंथों आदि में स्त्री के महिमामंडन का वर्णन देवी के रूप में लगातार होता रहा है। भारतीय मिथकों में स्त्री और पुरुष को एक दूसरे का पूरक मानकर पुरुष को अर्धनारीश्वर की संज्ञा दी गई और स्त्री को पुरुष का पूरक तत्व माना गया। वहीं धरातल पर इसके उलट समाज में नारी लांछित, पीड़ित और अपमानित है।

6.हंस, मई 2005,आपके शहर में आपके बीच रहते आपके लिए, पृष्ठ संख्या- 50

7.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, बिरसा सभा, पृष्ठ संख्या- 255

यह आज के कथित और बहु-उल्लेखित सभ्य समाज का कटु सत्य है। आदिवासी स्त्री इस मिथकीय अवधारणा से बाहर आना चाहती है। वह अपनी अलग पहचान स्थापित करना चाहती है। वह खुद मनुष्य की दृष्टि से अपने को और दूसरों को देखना चाहती है। निर्मला पुतुल इस बात को अपनी कविता 'इतनी दूर मत ब्याहना बाबा' शीर्षक में कहती हैं-

"उस देश में ब्याहना
जहाँ ईश्वर कम आदमी ज्यादा रहते हों
बकरी और शेर
एक घाट में पानी पीते हो जहाँ"[8]

ग़ैर-आदिवासी समाज के सभ्यतावादी आदिवासी स्त्रियों को बरगलाकर उनका शोषण करते हैं। आदिवासी कवि इस षड्यंत्र को समझ चुके हैं। और इस मामले में ग़ैर-आदिवासी स्त्री विमर्शकारों से आगे निकल जाते हैं। निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्री को सावधान करते हुए लिखती हैं-

"वे दबे पांव आते हैं तुम्हारी संस्कृति में
वे तुम्हारे नृत्य की बढ़ाई करते हैं

तुम्हारी लड़कियां सब्ज बाग देखने
कलकत्ता और नेपाल के बाजारों में उतरती हैं।"[9]

सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहजीविता, समानता, सामुदायिकता आदिवासी ज्ञान परंपरा और संस्कृति के बुनियादी तत्व हैं। आदिवासी कवि कविताओं के

8.अक्षरा, जनवरी-फरवरी 2004,पृष्ठ संख्या- 66
9.कथादेश,मई- 2004, बिटिया मुर्मू के लिए, पृष्ठ संख्या-71

माध्यम से सहजीवी समाज का निर्माण करना चाहता है। वह ऐसा समाज चाहता है जहाँ नारी को पुरुषों के बराबर सम्मान मिले। बाहरी लोगों की घुसपैठ ने आदिवासी स्त्री को कथित सभ्य समाज की स्त्री की ही तरह भोग की वस्तु बना दिया है। जिसका परिणाम यह हुआ कि आए दिन स्त्रियों से मारपीट की घटनाएँ बढ़ गई हैं, पति शराब के नशे में डूबा रहता है। निर्मला पुतुल इन सबसे सजग करती हैं-

"उसी के संग ब्याहना जो
कबूतर के जोड़े और पांडक पक्षी की तरह

जो बजाता हो बांसुरी सुरीली
और ढोल मांदल बजाने में हो पारंगत"[10]

आदिवासी की स्त्रियों की स्थिति बहुत दयनीय है। एक ओर जहाँ मुख्यधारा का समाज उन्हें भोग की वस्तु और दयनीय समझता है, वहीं दूसरी ओर वे स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होने के बावजूद अपने ही समाज के बनाए नियम कानून में पुरुषों से नीचे हो गई है। आदिवासी स्त्री कथित मुख्यधारा के समाज के साथ-साथ अपने समाज के द्वारा शोषित प्रताड़ित हो रही है। स्त्री मन की व्यथा को जोबा मुर्मू अपनी कविता 'आँसू' में बयां करती हैं-

"युग-युगांतर से बह रहा आंसू
यही है स्त्रियों की

और बहाए खून के आंसू
डटी रही सदा विपदा की घड़ी में...."[11]

10.अक्षरा, जनवरी-फरवरी 2004,पृष्ठ संख्या-67

11.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-2014, आंसू, पृष्ठ संख्या 50

हर वर्ष न जाने कितनी आदिवासी स्त्रियां पैसे और भुखमरी से बचने के लिए बड़े शहरों में काम के लिए जाती हैं। इसमें कुछ स्त्रियां घरवालों की मर्जी से जाती है तो कुछ अपनी विवशता से तो कुछ बहकावे में आकर ऐसा कर रही हैं। किस्मत सही होती है तो वे वापस आ जाती हैं, जिनकी किस्मत सही नहीं होती वे महानगर की उबाऊ और घुटन भरी चारदीवारी में कैद हो जाती हैं-

"मेरे प्यारे बाबा

गलती हो गई

मुझे मजबूर किया

तुम्हारी मदद करना चाहती थी"[12]

मुख्यधारा के समाज की भूमिका आदिवासी स्त्री की छवि को प्रस्तुत करने में देखी जाए तो कथित सभ्य समाज ने आदिवासी स्त्री के जन-जीवन को जानने-समझने और उसके उत्थान के लिए कोई प्रयास नहीं किया है। इसके बजाय मुख्य समाज इन्हें बरगलाने में अधिक लगा है। मुख्यधारा का समाज आदिवासी स्त्री की छवि हेय और निकृष्ट की तरह प्रस्तुत करता है, उसकी निगाह सदैव उसकी देह को खोजती है। जबकि आवश्यकता है कथित मुख्यधारा का समाज आदिवासी स्त्री के जीवन की मानवीय छवि, समस्याओं और संघर्षों को देखे और उसका समाधान निकालने में आदिवासी समाज का सहयोग करे। आदिवासी स्त्री को केवल भोग की वस्तु समझने वाले सभ्य समाज को जसिंता केरकेट्टा अपनी कविता के माध्यम से चुनौती देती हैं-

"नींद से जाग वह चकराता है

अब किसी कविता में उसे

12.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, एक खत बाबा के नाम, पृष्ठ संख्या- 198

और चीखती हैं

बंद करो कविता में ढूढना आदिवासी लडकियाँ"[13]

एक कहावत है जब जंगल मरता है तब उसके साथ मनुष्य भी मरता है। वास्तव में जंगल इंसान के सहअस्तित्व, प्रगति और स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। आज विकास के नाम पर जंगलों की बेतहाशा कटाई हो रही है। जंगल का क्षेत्र धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। जंगलों की कटाई से सबसे अधिक आदिवासी प्रभावित हुए हैं। आदिवासियों की संस्कृति, समाज और जीवन के सम्मुख अस्तित्व का संकट आ गया है। आजीविका के लिए आदिवासी स्त्रियों को बहुत संघर्ष करना पड़ रहा है। औरतें सूखी लकड़ी और पत्ता तोड़ कर लाती हैं तो वन विभाग का सिपाही उनसे घूस मांगता या इज्जत का सौदा करने लगता है। आदिवासी स्त्रियों की इसी करुण स्थिति के लिए सभ्य समाज से कविता प्रश्न करती है-

"अपनी ही माटी पर भूख से जंग लड़ना

कोई आसान काम नहीं

हमें पानी दो

आखिर कब तक हम रहेंगे भूखे नंगे खून के आंसू पीते"[14]

आदिवासियों को ब्रिटिश काल से ही विस्थापन की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। कंपनी शासन् के दौरान उन्हें रेलवे लाइन बिछाने के नाम पर

13.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, आदिवासी लडकियाँ, पृष्ठ संख्या- 208

14.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, देह लेकर गई औरत लौट कर नहीं आती, पृष्ठ संख्या -215

विस्थापित होना पड़ा तो वर्तमान में भूमंडलीकरण के नाम पर उनके जल, जंगल और जमीन छीने जा रहे हैं। जंगलों के खत्म होने से उनकी आजीविका पर प्रभाव पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में परिवार का भरण-पोषण करने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। आशुतोष कुमार झा अपनी कविता में लिखते हैं-

“हाँफती-भारी गट्ठर लिए
बढ़ाती जाती है पांव

और बिक नहीं पाएंगे
खटिया, दतुवन, पत्तल और ठोंगे”[15]

आज आदिवासी कविताओं में विद्रोह के प्रखर स्वर सुनाई दे रहे हैं। आदिवासी स्त्रियां अपनी मुक्ति के लिए शोषण और अत्याचार के खिलाफ मुखर हो रही हैं। वे जानती हैं कि दूसरा कोई विकल्प नहीं है इसलिए बिना डरे इस पथ पर आगे बढ़ रही हैं। समाज में स्त्रियों के खिलाफ बने कायदे-कानून को मानने से इंकार कर रही हैं। आदिवासी स्त्रियाँ पुरुष प्रधान समाज को चुनौती देती हैं और आगाह भी करती हैं कि अभी भी वक्त है संभल जाओ-

“अब भी वक्त है संभल जाओ तुम
कि तुम्हारी तरह क्रूर न हो जाऊं मैं
अगर तब भी नहीं चेते तुम
तो भूल जाऊंगी मैं
तुम कौन हो- कौन थे”[16]

आज आदिवासी स्त्रियों के जीवन का विश्लेषण करना जरूरी है ताकि उनकी वास्तविक समस्याओं और ज़रूरतों को समझा जा सके? अल्प सामाजिक

15.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, दातुन बेचने वाली के बहाने, पृष्ठ संख्या- 241

16.युद्धरत आम आदमी, जनवरी- 2014, तुम्हारा डर, पृष्ठ संख्या- 17

हिस्सेदारी होने के कारण आदिवासी स्त्री मुख्यधारा से नहीं जुड़ सकी है। विकास से परे आदिवासी स्त्री को किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है उसे निर्मला पुतुल मुख्यधारा के समाज के लोगों से पूछती हैं-

"सोचो कि, कुछ देर के लिए ही सोचो, पर सोचो कि
अगर किसी पंक्ति में तुम

बताओ न कैसा लगता तुम्हें
कैसा लगता तुम्हें ?"[17]

आदिवासी स्त्रियों ने अपने अधिकार के लिए संघर्ष किया है एवं पुरुष-प्रधान समाज और पितृसत्ता के शोषणकारी तंत्र को उजागर किया है।आदिवासी कविताओं में स्त्री चेतना और मुक्ति के स्वर भी फूट रहे हैं। वंदना टेटे अपनी कविता में इस चेतना को इंगित करती हैं-

"तुम्हारी खींची लक्ष्मण रेखा
के खिलाफ

तुम्हारी नफरत भरी आवाज को
बना लिया है उसने अपनी ताकत"[18]

अस्मितावादी स्त्री साहित्य का व्यापक प्रभाव लोगों पर पड़ रहा है, जो पुरुष प्रधान सामाजिक ढांचे के ध्वस्त होने और आदिवासी स्त्रियों की मान-मर्यादा

17.हंस मई 2005, अगर मेरी जगह तुम होते, पृष्ठ संख्या- 52

18.हुवचन, अंक- 25, अप्रैल-जून 2010, औरत, पृष्ठ संख्या-110

स्थापित होने की प्रक्रिया का संकेत है। आज आदिवासी स्त्रियां कविता के माध्यम से बाजारवाद और भोगवाद की संस्कृति पर तीखा प्रहार कर रही हैं। जब तथाकथित सभ्य समाज में हाशिए की स्त्रियों के प्रति सम्मान की भावना जागेगी तब ही लैंगिक समानता का वातावरण बनेगा और महिला सशक्तिकरण की जमीन तैयार होगी।

3.2 आदिवासी संसाधनों पर कब्जे की राजनीति :-

आदिवासी समाज जल, जंगल, जमीन एवं अपने मौलिक अधिकारों के लिए निरंतर संघर्ष कर रहा है। औद्योगिक क्रांति जहाँ अन्य समुदायों के लिए समृद्धि की सौगात लेकर आई; वहीं आदिवासियों के लिए इसने विस्थापन, पलायन और अस्मिता के संकट को और गंभीर बना दिया। ब्रिटिश राज की सबसे ख़तरनाक क़ानूनी प्रक्रिया, जमीन को व्यापार का माध्यम बनाकर उसे कागजी कार्यवाही का भाग बना देना था। पहले बाहरी लोग बहला-फुसलाकर उनकी जमीनों पर कब्जा कर लेते थे, अब सरकार और बहुराष्ट्रीय कंपनियां उनको जमीन से बेदखल करने में लगी हुई हैं।

आदिवासियों के संसाधनों को डरा- धमकाकर छीनने की साजिश जारी है। हरिराम मीणा अपनी कविता 'सर्द रातों के हमलों के खिलाफ' में लिखते हैं-

"लगता है, इन सारे लोगों की चेतना
डरे हुए खरगोश- सी हो गयी

ताकि लोग डरे-सहमे दुबके रहे और
वे साजिशबाज बेधड़क करते रहें अपना काम"[19]

19.कथन, अप्रैल-जून 2003, सर्द रात के हमलों के खिलाफ, पृष्ठ संख्या- 24

आज विकास के नाम पर आदिवासियों की जमीन को हड़पा जा रहा है। आदिवासी आज ही नहीं, अतीत से ही लूट के इस जाल में फंसे हुए हैं। अपनी ही जमीन से उन्हें वंचित कर दिया गया, जहाँ ये बहुसंख्यक थे वहां अल्पसंख्यक हो गए। जहाँ कभी चिराग जलते थे अब वे अंधेरे में डूबे उजाड़ गाँव बन गए। यह सब एक सोची- समझी राजनीति के तहत हुआ है। आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल करने के लिए कई तरह के हथकंडे अपनाए गए। हरिराम मीणा अपनी कविता 'आदिवासी और यह दौर' में कहते हैं-

"ग्लोबल विकास के पैकेज पर

प्रहार करने का स्वांग करते

नंदीग्राम, सिंगूर, लालगढ़

ग्रीन हंट- दंतेवाड़ा वाया राजधानी एक्सप्रेस"[20]

आदिवासियों के विकास के लिए अनेक योजनाएं शुरू की गई, जो विभिन्न तरह के अभियान चलाए गए। उनकी एकांततिकता के सर्वव्यापीकरण के वैयक्तिक स्तर पर अनेक प्रयास किए गए, इन सब के परिणामस्वरूप आदिवासियों की शोषण- गाथा के नए संस्करण बनते गए। आदिवासियों के हित के लिए जो नियम कानून बने वह लाभ कम, हानि अधिक पहुँचा रहे हैं। वे नियम-कानून पूँजीपतियों की सुविधानुसार संशोधित कर लिये जाते रहे हैं। इन नियमों से आदिवासियों के जल- जंगल और जमीन के आधिपत्य पर कुठाराघात तो हुआ ही साथ ही उनकी संस्कृति में भी दखलंदाजी शुरू हो गई।

20.बया, जुलाई-सितंबर 2011, आदिवासी और यह दौर, पृष्ठ संख्या- 88

"लेकिन ये क्या ?

देशज के सर पर दिकू...

हमारे पशु पक्षी

सब लूट के ले जा रहे हैं"[21]

आर्थिक उदारीकरण का दौर जब से शुरू हुआ तब से आदिवासियों पर चौतरफा मार पड़ रही है। उसके सम्मुख अपनी संस्कृति, जल जंगल जमीन आदि को बचाने का सवाल सत्ता के लिए आतंक बनकर उठ खड़ा हुआ है। वर्चस्ववादी सरकारें,सत्ता के षड्यंत्रकारी तत्व निरीह और भोले-भाले आदिवासियों को प्रलोभन देकर उनकी जमीन को हड़प लेते हैं, सभ्य बनाने के नाम पर उनकी मौलिक जीवनशैली व संस्कृति को प्रतिबंधित कर रहे हैं जिससे उनके अस्तित्व पर संकट आ गया है। शांति खलको ने अपनी कविता 'जाल' में अपने समुदाय को सजग करते हुए कहा है -

"देखना भईया शिकारी आयेगा

हमारे लिए वह दाना फेंकेगा

उसे नहीं है हमें खाना

जाल में नहीं हमें फँसना-फँसना"[22]

कविता में आदिवासियों को खतरे से आगाह करते हुए कहा गया कि बहरूपियों से सावधान रहो, अन्यथा वे हमारे संसाधनों को छीन लेंगे। आदिवासी मूलत: किसान हैं, उनका रहवास जंगल है, उनका जीवन जल जंगल जमीन पर

21.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, एचबी रोड से कल्ब रोड तक, पृष्ठ संख्या -88

22.युद्धरत आम आदमी, जनवरी 2014, जाल, पृष्ठ संख्या- 23

अवलंबित है, जंगल और जमीन से वे नाभिनाल की तरह जुड़े हैं। वनों से अपनी आजीविका चलातें हैं और वनों की रक्षा भी करते हैं। औपनिवेशिक काल में ही वन को पण्य वस्तु घोषित कर दिया था। स्वतंत्रता के उपरांत हमारी सरकार ने बची-खुची कसर पूरी कर दी। आदिवासी, वनों से विभिन्न प्राकृतिक औषधियों को खोज कर, पत्ते बिन कर, लकड़ियों से नाना प्रकार की वस्तुएं बना कर अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। अब उनका जंगलों में जाना प्रतिबंधित हो गया। जंगल में जाने पर वन विभाग के कर्मचारी उन्हें फंसाकर जेल भेज देते हैं। अपनी आजीविका के लिए थोड़ी सी लकड़ी काटने के बदले आदिवासी जेल जा रहा है। वहीं दूसरी ओर कंपनियां और वर्चस्ववादी लोग जंगल का जंगल साफ कर देते हैं, किंतु उन पर कोई कानूनी कार्यवाही नहीं होती। कानूनी रूप से डराकर आदिवासियों के संसाधनों पर कब्जे की राजनीति को आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल अच्छे से पहचानती हैं। वे कहती हैं -

“पर अफसोस
तुम कभी नहीं बताओगे कि

विकास की ऊंचे शिखर तक पहुँचे हैं वे
जानती हूँ सब जानती हूँ”[23]

समकालीन हिंदी कविता में आदिवासियों की स्थितियों को रचनाकारों ने निडरता से उजागर किया है। विडंबना की बात है कि आज विकास के नाम पर आदिवासियों के संसाधनों का विनाश किया जा रहा है, जबकि विकास का असली लाभ तथाकथित मुख्यधारा व पूंजीपतियों को मिल रहा है। आदिवासियों से वादा किया जाता है कि उनकी जमीन के बदले मुआवजा दिया जाएगा, गांवों का

23.अरावली उद्घोष, सितंबर- 2011, पृष्ठ संख्या-55

विकास होगा, सेतु बनेंगे, डैम बनेंगे, अस्पताल बनेंगे, स्कूल बनेंगे, लेकिन कोई विकास नहीं होता बल्कि धीरे-धीरे उनकी भूमि और संसाधन पर कब्जा कर लिया जाता है। निर्मला पुतुल कब्जे की इस राजनीति को भलीभांति जानती हैं कि दिकुओं के कब्जे से आदिवासियों का हाल क्या होगा। वह कहती हैं-

"अगर हमारे विकास का मतलब

हमारी बस्तियों को उजाड़कर कलकारखाने बनाना है

तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में शामिल

होने के लिए सौ बार सोचना पड़ेगा हमें"[24]

जंगल के साथ आदिवासियों का बहुत गहरा रिश्ता है। जंगल का कटना सभ्य समाज के लिए भले सामान्य घटना हो लेकिन आदिवासियों के लिए जीवन मरण का प्रश्न है। अधिकारी आदिवासियों के हित की बातें तो बहुत करते हैं, आंकड़े से ऐसा दावा प्रस्तुत करते हैं कि जैसे सब एकदम सही चल रहा है। उन आंकड़ों पर वाद-विवाद भी होता है, लेकिन न तो इन आंकड़ों का आदिवासियों से सरोकार है न उससे संबंधित बहस का। यह सब अब इन अधिकारियों, नेताओं और अधिकांश बुद्धिजीवियों का फैशन हो गया है। जंगलों की कटाई से व्यथित एक आदिवासी प्रेमी युगल कहते हैं-

"अब हम कहां मिलेंगे फुलमनी किस जंगल

किस पहाड़ पर मिलेंगे हम दोनों!

24.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, तुम्हारे एहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा, पृष्ठ संख्या- 184

देखो न पिछले कुछ सालों में ही

न जाने कहां गायब हो गए इतने सारे पहाड़"[25]

आदिवासी जिन जंगलों में रहते हैं उसके नीचे खनिज पदार्थों के रूप में बेहिसाब धन-संपदा पड़ी है, जिस पर पूंजीपतियों की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई है। इसलिए वे किसी भी तरह आदिवासियों के जंगलों को हड़पने से बाज नहीं आने वाले हैं। देश की समृद्धि के लिए जो भी कथित उद्योग-धंधे, परियोजनाएं स्थापित हुई हों, आदिवासी अपनी जमीन से उखड़ते उजड़ते रहे। विकास के नाम पर हो रहे दोहन को तुनङ ताबिङ अपनी कविता के माध्यम से प्रश्न करते हैं-

"क्या तुम्हें दिखाई देता है ?

अटल पर्वत पर खड़े वृक्ष

पेड़ों को काटा जाता है

क्या तुम्हें दिखाई देता है ?"[26]

आदिवासियों पर अन्याय, अत्याचार एवं उनके संसाधनों को लूटकर पूंजीपतियों, वर्चस्ववादी लोगों को दिया जा रहा है। जब आदिवासी इसका विरोध करते हैं तो उन्हें नक्सली, माओवादी बता दिया जाता है। यहाँ यह जानना ज़रूरी है कि प्राकृतिक संसाधनों पर अपने अधिकार के लिए आदिवासी औपनिवेशिक युग से लड़ रहे हैं जबकि नक्सलवाद-माओवाद पिछले कुछ दशकों की देन है। तिलका मांझी ने कहा था 'जंगल और जमीन हमें वरदान में मिला है

25.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, पहाड़ पर बैठे एक आदिवासी प्रेमी युगल की बातचीत, पृष्ठ संख्या- 192

26.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, क्या तुम्हें दिखाई देता है, पृष्ठ संख्या-233

तो हम सरकार को राजस्व क्यों दें?' लेकिन अंग्रेजी हुकूमत ने एक नहीं सुनी ,परिणामस्वरूप आदिवासी और अंग्रेजों में संघर्ष हुआ। यह संघर्ष आज भी जारी है। झारखंड के सारंडा में आदिवासियों को माओवादी बताकर उनको बाहर निकालने के लिए ऑपरेशन ग्रीन हंट चलाया गया। पुलिसिया कार्यवाही से पीड़ित आदिवासियों का चित्रण लाल सिंह बोयपाई ने अपने 'सारंडा-वन' कविता में किया है-

"चार-छह कुछ पढ़े-लिखे लोग
जल- जंगल जमीन की चर्चा करते हैं

जगह जमीन से बेदखल करते हैं
खानाबदोश बना देते हैं।"[27]

देश के विभिन्न हिस्सों में आदिवासी प्राकृतिक संसाधनों पर अपने अधिकार की लड़ाई लड़ रहा है, जिसे एक सूत्र में बांधने की जरूरत है। आदिवासी कविता इस जरूरत को पूरा कर रही है। इन कविताओं में आदिवासियों की पीड़ा, उत्पीड़न, शोषण से मुक्ति, वनों के विनाश और पलायन के दुख का मार्मिक चित्रण हुआ है। आदिवासी अपने खिलाफ होने वाली साजिश को जानने-समझने लगा है। वह अपनी तथा जंगलों की सत्ता बचाने के लिए संघर्ष कर रहा है। वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए एक साथ खड़े होने के लिए आह्वान कर रहा है। हरिराम मीणा की कविता 'सर्द रात के हम लोग खिलाफ' की ये पंक्तियां उल्लेखनीय है -

"इस रात के जितने भी हमले हैं

27.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-2014, सारंडा वन, पृष्ठ संख्या- 34

और उन्हें दिनों की भरसक मदद

बर्फ की सिल्लियों की औकात

और ताकत और रात और दिनों का हश्र"[28]

जल, जंगल और जमीन आदिवासियों के प्राण हैं। अपनी आंखों के सामने इन सबका दोहन होता देख वह विचलित हो उठता है। अपने ही संसाधनों पर दूसरे का कब्जा देख वह चुप नहीं रह पाया और उसका विरोध अभिव्यक्त हो उठा-

"*खामोश हवा*

खामोश फिजा

तू बोल जरा

मुंह खोल जरा

पा ले अपना खोया यकीन"[29]

आदिवासी कविताओं में प्रतिरोध के स्वर है जो दकियानूसी मानसिकता वाले लोगों के विरुद्ध एक साथ संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। साथ ही वह सदियों से चली आ रही पुरखों की लड़ाई को लड़ने का फैसला भी करेगा जो आज भी जारी है-

"चुड़की....वह पुरखों की लड़ाई लड़ेगा

सरकार से

28.कथन, अप्रैल-जून 2003, सर्द रात के हमलों के खिलाफ, पृष्ठ संख्या- 24

29.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, चुप, जल- जीवन, जंगल- जमीन, पृष्ठ संख्या-195

पथरीली राहों के उस पार

एक प्यारा सा जंगल बसायेगा"[30]

आज उद्योगपतियों और मुख्यधारा के द्वारा आदिवासियों की सभ्यता और संस्कृति पर हमला किया जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप उनके सामने दो ही विकल्प बचे हैं। वे अपनी संस्कृति, परंपरा, जल, जंगल, जमीन छोड़कर मुख्यधारा के साथ हो ले या इन सब के विरुद्ध विरोध का विकल्प चुनें। आज आदिवासी सजग हो गए हैं, उनमें चेतना जगी है। वे नई विचारधाराओं और क्रांतियों से परिचित हुए हैं, जिससे वे अपने अतीत और वर्तमान की यथा-स्थितियों को तोड़ने लगे हैं। इसका परिचय कविता के माध्यम से भी मिल रहा है-

"सारंडा उठो जागो

कालचक्र का पहिया

बोलने को है

जोहार!!"[31]

आज यदि आदिवासियों द्वारा अपने अधिकारों एवं प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के खिलाफ मुखर होकर आवाज उठाई जा रही है तो उसे नक्सली, उग्रवादी आदि की संज्ञा देना न केवल न्याय के विरुद्ध आचरण है बल्कि सीधे उनके अधिकारों को खत्म करने के षड्यंत्र का संकेत भी है। आदिवासियों की इन

30.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, फैसला, पृष्ठ संख्या- 189

31.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर-दिसंबर 2012, ऑपरेशन मानसून, पृष्ठ संख्या- 67

चिंताओं, उहापोह, पीड़ा और संघर्ष को आदिवासी हिंदी कविता में प्रकृतिकरण हुआ है, जिससे आदिवासी समाजों के अंदर अपने अधिकारों के लिए चेतना एवं संघर्ष का भाव मूर्तिमान हो चुका है।

3.3 पर्यावरण सरोकार और विस्थापन:-

3.3.1 पर्यावरणीय सरोकार:-

इन दिनों मनुष्य जिन समस्याओं को लेकर सबसे अधिक चिंतित है, उनमें पर्यावरण-संकट सबसे प्रमुख है। एक समय था कि मनुष्य और प्रकृति के बीच साहचर्य का संबंध था। मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताओं की आपूर्ति का साधन प्रकृति थी। ऐसी स्थिति में मनुष्य पर्यावरण संरक्षण के प्रति सहृदय था, लेकिन आज मनुष्य भौतिक सुख सुविधाओं के लोभ में संवेदनहीन होकर दौड़ रहा है। वह प्रकृति-प्रदत्त संसाधनों का अंधाधुंध दोहन कर रहा है, साथ ही उसे क्षति भी पहुंचा रहा है। इस खतरे को अधिक विकराल करने में विकास की वह प्रक्रिया जिम्मेदार है जो प्राकृतिक वनस्पतियों, जंगलों और संसाधनों के अनियंत्रित दोहन करने पर लगी है। जिसके परिणामस्वरूप आज मनुष्य के समक्ष जलवायु परिवर्तन जैसा अभूतपूर्व संकट उपस्थित है।

आज मानव की जीवन शैली परिवर्तित हो गई है। एक समय जब मनुष्य के पास सीमेंट कंक्रीट के घर नहीं थे, वह प्राकृतिक वस्तुओं का यथोचित इस्तेमाल कर पर्यावरण की सुरक्षा करता था। यह वह समय था जब मनुष्य प्रकृति का सम्मान करता था। बढ़ती आबादी के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढ़ती गईं। उसने अपने भौतिक समृद्धि के लिए औद्योगिकरण की शुरुआत की। इसके फलस्वरूप एक ओर वह स्वयं को बचाने में लगा है तो दूसरी और वह प्रकृति को उजाड़ने में लगा है। आज मनुष्य ने विश्व की तमाम ऐसी घटनाओं को अनदेखा

किया जिसमें सरकार और बड़े उद्योगपतियों द्वारा बलपूर्वक वनों का अधिग्रहण किया गया और इसके लिए वहां के लोगों पर अत्याचार किया गया।

पर्यावरण को बचाने में आदिवासियों ने निःस्वार्थ भाव से अपने जल जंगल और जमीन के साथ जीवन जीने का अनुकरणीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। पर्यावरण संरक्षण के पीछे कहीं न कहीं खाज्या नाईक, भीमा नाईक की प्रेरणा रही है। इन नायकों ने अंग्रेजों और देसी रियासतों के राजाओं-महाराजाओं से टक्कर ली। जल, जंगल, जमीन पर अपना दावा करने वाले आदिवासियों का उद्देश्य न तो पूंजीवाद था, न ही बाजारवाद। प्रकृति को जीवन का आधार मानने वाले इन संघर्षों की ताकत, वर्तमान में आदिवासियों को बाजार के दुष्प्रभावों से बचाने वाली उनकी जीवन-शैली में दिखाई देती है।

पिछले कुछ दशकों में हिंदी कविता का दायरा बढ़ा है और बड़ी संख्या में आदिवासी कवि सामने आए हैं। इन कवियों के प्रयास से 'हिंदी आदिवासी कविता' हिंदी कविता के व्यापक प्रभाव का हिस्सा बनी। इन कवियों ने जल जंगल और जमीन के संघर्ष को नजदीक से देखा है, अत: उनकी कविताओं में यह संघर्ष प्रामाणिक रुप से अंतर्निहित है। आदिवासियों की कविताओं में विकास के मॉडल को लेकर एक ओर तीखी बहस मिलती है, वहीं दूसरी ओर विकास से विनष्ट होती प्रकृति का हाहाकार मिलता है। कवि के अंदर बेचैनी रहती है कि प्रकृति कब तक बची रहेगी? जीवन कब तक रहेगा?

आदिवासी कवियों ने प्रायः प्रकृति के प्रति अपने जीवन मूल्यों में निहित स्नेहपूर्ण प्रतिबद्धता दर्शायी है। लारेंस सिलाल हेंब्रम लिखते हैं-

"नदी नालों से रेखांकित देश

पहाड़ों के हार- माला से श्रृंगारित देश,

पहाड़ों में बाघ भालू और सियार कुलांचे भर रहे हैं,

पेड़ पर चिड़िया गीत गा रही है"[32]

प्रकृति आदिवासी कविता का प्रधान विषय रहा है। जल, जंगल और जमीन जिस प्रकार आदिवासियों के प्राण हैं, उसी तरह 'प्रकृति' भी आदिवासी कविता का प्राण है। आदिवासी कवि जानता है कि प्रकृति से ज्यादा छेड़छाड़, ज्यादा खतरा पैदा करेगी। कवि को अपने दायित्व और अधिकार के विषय में पता है। डोबरी बुरुली अपनी कविता 'संकट की घड़ी आई' में कहते हैं-

"मानव जीवन रक्षा खातिर

सुखमय जीवन पानी खातिर

रक्षा करें पेड़ पौधों की,सेवा करें देखभाल करें

सुख में जीवन होगा सबका।"[33]

आदिवासी प्रकृति की गोद में रहने वाले लोग हैं। वे सहज वातावरण में जीना चाहते हैं। वे डरते हैं कि विकास की प्रक्रिया में जल, जंगल पहाड़ से दूर ना हो जाएँ। उनका डर अस्वाभाविक नहीं है। निर्मला पुतुल इस मर्म को एक लड़की के माध्यम से कहती हैं-

"बाबा!
मुझे इतनी दूर मत ब्याहना

32.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, नहीं छोडूंगा, पृष्ठ संख्या- 257

33.युद्धरत आम आदमी,जनवरी-2014, संकट की घड़ी आई, पृष्ठ संख्या- 40

वहां मत कर आना मेरा लगन"[34]

विकास का वर्तमान रूप पर्यावरण के लिए खतरा है। पर्यावरण संकट की समस्या आज जिस स्थिति में पहुंच चुकी है, उस संदर्भ में पेरिस समझौता एक महत्वपूर्ण कदम होने के बाद भी, पर्याप्त नहीं है। इसकी वजह पूंजीवाद है। औद्योगीकरण के आरंभ से ही इस संकट की बुनियाद पड़ चुकी थी। अधिक से अधिक लाभ पाने के लोभ ने मानव जाति को उस मुहाने पर लाकर खड़ा कर दिया है जिसके चारों ओर आग की खाई है। वैश्विक तापमान में प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है, भूजल में लगातार कमी हो रही है। नदियां सूख रही हैं, किंतु पूँजीवादी सभ्यता के दुराग्रही मुनाफे की अंतहीन इच्छा में प्रकृति के साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार कर रहे हैं, जो संपूर्ण पृथ्वी के लिए खतरा है। प्रकृति के दोहन से आदिवासियों के अस्तित्व पर भी खतरा आ गया है, क्योंकि उनका जीवन जंगल, नदियों और पहाड़ों पर निर्भर है। आदिवासी अपनी ही लाचार आँखों के सामने पेड़ों, पहाड़ों को कटते देख दुखी होते हैं। आदिवासी कवि हरिराम मीणा कहते हैं-

"हरी टहनी के कट जाने पर रोती है पेड़ की आंखें

धरती की आत्मा तक पहुंचते हैं ढलकते आंसू

काँपता है जैसे आसमान किसी तारे के टूट जाने पर

लामबंद होती है पूरी कायनात

यहाँ से वहां तक"[35]

आदिवासी प्रकृति औरजंगल के खत्म होने का दर्द भी अच्छी तरह समझते हैं। आदिवासियों के लगभग सभी पर्व, उत्सव प्रकृति में ही निहित होते हैं, इसलिए

34.अक्षरा, जनवरी-फरवरी 2004, उतनी दूर मत ब्याहना बाबा, पृष्ठ संख्या- 66

35.कथाक्रम- अक्टूबर-दिसंबर 2011, सरहुल, पृष्ठ संख्या- 188

उनके यहां प्रकृति के सभी अवयव को श्रद्धा एवं आस्था से देखा जाता है। आदिवासियों के यहां प्रकृति से दूर होना यानी आदिवासी संस्कृति, परंपरा से दूर होना माना जाता है। आदिवासियों के यहां सरहुल त्यौहार प्रकृति से संबंधित है।

"मांदर की थाप

हड़िया

झूमर

और सरई फूल

आया प्रकृति परब सरहुल

रंग बिरंगे फूल

आया प्रकृति परब सरहुल"[36]

विकास नाम की जिस चीज से हमारी आंखें फटी रहती हैं, उस पर ध्यान देने की जरूरत है। आज आदिवासियों को जंगल से निकाला जा रहा है, जबकि जंगलों का बेहतर ढंग से संरक्षण वही कर सकते हैं। "भारत के ज्यादातर पर्यावरण संबंधी आंदोलन संरक्षणवादी नहीं रहे हैं, क्योंकि आमतौर पर पर्यावरणविदों का मानना रहा है कि पर्यावरण के बेहतर संरक्षक वे समुदाय हैं जो उस पर निर्भर होते हैं- मसलन जंगलों में रहने वाले आदिवासी या फिर नर्मदा घाटी के आदिवासी, यह बात सोलह आना सही है। इन समुदायों के अपने परिवेश के साथ बहुत घनिष्ठ रिश्ते होते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उनका जीवन उसी पर मुनहसिर है। पर्यावरण संरक्षण के नाम पर गरीब समुदाय को बेदखल करना एक किस्म का अभिजन पर्यावरणवाद है जिसका आंदोलन से कोई रिश्ता नहीं रहा है।"[37]

36.बयां, जुलाई-सितंबर 2011, आदिवासी और यह दौर, पृष्ठ संख्या-89

37.वागर्थ, अगस्त,2019, विकास का वर्तमान रूप पर्यावरण के लिए खतरा है, पृष्ठ संख्या- 78

आज नई-नई आवश्यकताएं पूरी करने का नाम विकास है। मल्टीप्लेक्स, कीमती गाड़ियों के लिए बने एक्सप्रेसवे आदि की गणना विकास मानी जाती है। भले ही इसकी कीमत आमजन और आदिवासियों को चुकानी पड़े। वसीम अकरम अपनी कविता 'बाजार' में लिखते हैं-

"तुम्हें थोड़ी सी गर्मी लगी

तुम्हें पंखा लगा लिया

मेरे जल, जंगल और जमीन को

बर्बाद करके पूरी तरह से"[38]

आज मनुष्य में हताशा-निराशा बढ़ती जा रही है। वहीं प्रकृति से जुड़े रहने के कारण आदिवासी कभी हताश निराश नहीं होते। विजय सिंह अपनी कविता के माध्यम से कहते हैं -

"पहली बारिश में
भीग कर
जंगल की मिट्टी हंसती है

सरई जंगल बोता है
प्रकृति की छांव में"[39]

आदिवासी कवियों के पास पर्यावरणीय हरित सौंदर्य बोध है,आदिम देशजता है और रोमानी ग्राम्यवाद है। विजय सिंह की एक कविता की पंक्तियां हैं-

---

38.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, बाजार, पृष्ठ संख्या-220

39.युद्धरत आम आदमी, अगस्त- 2005, बोड़ा, पृष्ठ संख्या- 32

"महुए की गंध से बौराया जंगल

मदमस्त हाथी की तरह चिंघाड़ रहा है

कि पक गया महुआ कि पक गया तेंदू"[40]

महुआ आदिवासियों के देसीपन का संकेत है, जिसका रिश्ता देशज संस्कृति से है। यह ग्रामीण परिवेश का प्रतीक है जो विकास के लिए, विकास के प्रकृति विरोधी रूप का प्रतिरोध है। आदिवासी कवि, कविता के द्वारा भविष्य की तरफ संकेत करते हैं। उनमें भय व्याप्त है कि जो कुछ शेष बचा है, वह भी खत्म हो जाएगा। इन कवियों ने प्रकृति के साथ अपने जीवन की विडंबनाओं के भी हृदयविदारक चित्रण किये हैं।

"एक दिन आएगा जब उसकी विशाल भूख
सारी धरती निगल लेगी और

तुम्हारे शहरों के नजारों को देख
आँखों में चुभन होती है।"[41]

आज आदिवासियों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना जागृत हो रही है। कौन उनके साथ है? कौन नहीं? इसका आभास होने होने लगा है। विकास के वास्तविक यथार्थ को वे जानने-समझने लगे हैं। वे कहते हैं, यदि विकास हमारी सभ्यता को खत्म करके होगा तो हमें ऐसा विकास नहीं चाहिए। हमें विकास ऐसा चाहिए जिसमें मानव व प्रकृति का साहचर्य बना रहे। विनाश वाला विकास नहीं चाहिए। निर्मला पुतुल की कविता में इसकी अभिव्यंजना हुई है।

40.युद्धरत आम आदमी, अगस्त-2005, उनके घर भात, पृष्ठ संख्या- 35

41.अरावली उद्घोष,मार्च-2011, प्रमुख के नाम पत्र, पृष्ठ संख्या-17

"अगर हमारे विकास का मतलब

हमारी बस्तियों को उजाड़कर कल

शामिल होने के लिए

सौ बार सोचना पड़ेगा हमें"[42]

आदिवासी हिंदी कविता पर्यावरण के खतरे को प्रकृति व मानवता के खतरे के समकक्ष रखकर समस्या को समझाती है। औद्योगीकरण की संस्कृति, जो भूमंडलीकरण के नाम पर आंचलिकता को खत्म कर रही है उससे आदिवासियों की संस्कृति को वैश्वीकरण की संस्कृति के नाम पर नष्ट किया जा रहा है। ऐसे में आदिवासियों को अपनी संस्कृति एवं मौलिक अधिकारों के लिए संघर्ष से गुजरना पड़ रहा है। अनुज लुगुन की कविता 'अघोषित उलगुलान' में आदिवासियों की इन्हीं चिंताओं की अभिव्यंजना हुई है-

"यह चिंता नहीं कि रोज कंक्रीट के ओखल में

पीसते हैं उनके तलवे

कटते जंगल में

या बढ़ते जंगल में"[43]

वैश्वीकरण से सबसे अधिक क्षति प्रकृति और उसपर निर्भर आदिवासियों की हुई है। पूँजीवादी संस्कृति की भूख उनकी संस्कृति और परंपरा के आधार को खाती जा रही है। वैश्वीकरण की भूख ने जंगलों को कल-कारखाने में बदल दिया

42.आजकल, जुलाई-2006, सोचना पड़ेगा हमें, पृष्ठ संख्या-28,

43.अरावली उद्घोष, सितंबर-2011, अघोषित उलगुलान, पृष्ठ संख्या- 54,

है, स्त्रियों को विज्ञापन की नंगी दुनिया में डाल दिया है, भाईचारे को समाप्त कर कट्टरता को जन्म दिया है। इतना सब कुछ करने के बाद भी उसकी भूख समाप्त नहीं हो रही है। पूँजीवादी सभ्यता की भूख इतनी बढ़ गई है कि शायद यह पृथ्वी उसकी भूख मिटाने के लिए अपर्याप्त हो गई है। वसीम अकरम अपनी कविता 'भूख' में इसे व्यक्त किया है-

"भूख चाहे जिस चीज की हो
मौत से पहले शांत नहीं होती

जाओ जाओ जल्दी जाओ
और चाँद पर जाकर चाँद को खा आओ"[44]

आदिवासी कविता की आवाज में प्रतिरोध है। प्रकृति से जुड़ी संवेदना उनकी कविता का मुख्य स्वर है। आज विभिन्न प्रकार के कानून बनाकर आदिवासियों को जंगल में जाने से रोका जा रहा है। जो आदिवासी प्रकृति के सहज संरक्षक हैं, उल्टे उन्हीं पर मिथ्या दोष लगाया जाता है कि वे प्रकृति को क्षति पहुंचा रहे हैं। ये सब दुष्प्रचार वही लोग कर रहे हैं जिनके मुंह में जंगल का खून लगा है। जसिंता केरकेट्टा अपनी कविता में इन पूंजीवादियों के कारनामों को उजागर करती हैं और कहती हैं-

"धरती को क्षत-विक्षत करने वाले ये जूतेधारी

और चुप रहते हैं अपने सारे कारनामों पर
जो दबें हैं उनके जूते के नीचे"[45]

44.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, भूख, पृष्ठ संख्या-223

पूँजीवादी संस्कृति के विकास के दावों की सच्चाई को आदिवासी समझ चुका है। वह जानता है कि वह बहरूपिया बनकर आएगा और उनके जंगल को हड़प लेगा। प्रेमी मोनिका तोपनो अपनी अपनी कविता में लिखते हैं-

"कल शाम

जंगल में खाना बनाने के लिए

आग और भी धधक रही थी

और ये लो आराम से हाथ सेंक रहे थे"[46]

वस्तुतः अपने को प्रकृति की संतान मानने वाले एवं जल, जंगल और जमीन को ईश्वर के समतुल्य मानने वाले आदिवासियों ने वर्षों से प्रकृति का रक्षण एवं संरक्षण किया है। आदिवासी जीवन में जल, जंगल और जमीन की विशेष अहमियत रही है। इसके बिना उनकी कल्पना नहीं की जा सकती है। आदिवासी, आदिम समय से जंगलों में समूह बनाकर रहता आया है। प्रकृति संरक्षण के प्रति झुकाव के कारण वे जंगलों से उतना ही लेते हैं, जितने की आवश्यकता हो व भावी पीढ़ी को जंगल को धरोहर के रूप में सौंप सकने का प्रयास करते हैं। आदिवासी कवि अपनी कविता के द्वारा इस आकांक्षा को व्यक्त करता है-

"तुम्हारे

आदिवासी-बोध ने बतलाया

तुम्हें पहाड़ों

45.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, हमने तो जूते पहन रखे हैं, पेज संख्या-207

46.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, जंगल की आग, पृष्ठ संख्या- 227

तुम्हारी अद्‌भुत- अनोखी संस्कृति

आदिवासी संस्कृति के बारे में।"47

आदिवासी कविता के पास संश्लिष्ट स्वर हैं। अपने अधिकार, पहचान और शोषण से मुक्ति के संघर्ष के साथ-साथ पर्यावरण और प्रकृति को उसके स्वाभाविक रूप में बनाए रखने की परवाह इसके केंद्रीय स्वर है। आदिवासी कविताओं में पर्यावरण औरप्रकृति को लेकर आक्रामक रूप देखने को मिलता है, जो निश्चय ही उनके प्रकृति के साथ जीने को संवेदनशीलता को रेखांकित करता है। शोषण की अंतहीन श्रृंखला और निरंतर हो रहे वैचारिक हमले ने उन्हें यह रवैया धारण करने पर मजबूर किया है। इसमें कोई दो राय नहीं कि पर्यावरण की रक्षा एवं संरक्षण की यथार्थ लड़ाई आम जनता लड़ेगी, जिसका नेतृत्व आदिवासी समूह करेगा।

3.3.2 विस्थापन:-

आज पूँजीवादी संस्कृति के प्रभाव से भारत में अनेक बोली, भाषा,कला, रीति-रिवाज का अस्तित्व संकट में है। दूसरी तरफ पूँजीवादी विकास ने प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर प्राकृतिक असंतुलन को जन्म दिया है। भारत में ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में आदिवासी समुदाय प्रकृति के पुजारी और संरक्षक रहा है। उसकी जीवन-संस्कृति आदि प्रकृति पर निर्भर होती है। उसका सब कुछ जल जंगल जमीन ही है लेकिन विकास के नाम पर आदिवासियों को इनसे दूर किया जा रहा है। आदिवासियों का यह पलायन पर्यावरण विरोधी भी है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भूमंडलीकरण, उदारीकरण एंव निजीकरण की प्रक्रिया के प्रारंभ होने से ये शब्द प्रचलन में आए। ग्लोबलाइजेशन से संपूर्ण धरती के एक होने का बोध होता है। केदार प्रसाद मीणा इसके संदर्भ में लिखते हैं- "यह

47.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, बचे रहने की उम्मीद, पृष्ठ संख्या- 226

एक खुली प्रक्रिया है जिसमें आर्थिक तत्व प्रमुख है। इस प्रक्रिया के तहत किसी देश की अर्थव्यवस्था को विश्व के अन्य देशों से जोड़ा जाता है। इसमें व्यापारिक प्रतिबंधों को कम करना, व्यापार पर सरकारों का दबाव कम करना, पूजी के स्वतंत्र प्रवाह के लिए माहौल तैयार करना आदि बातों पर जोर दिया जाता है। 'ग्लोबलाइजेशन' असल में आर्थिक प्रक्रिया के तहत एक सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रक्रिया है। आर्थिक उदारवाद, बाजारवाद व निजीकरण इसके प्रमुख तत्व है।"[48] भूमंडलीकरण वास्तव में पूंजीवाद को राष्ट्र की सीमा से ऊपर ले जाने की युक्ति है, जहाँ उसे अपना विस्तार करने की पूरी स्वतंत्रता है।

आदिवासी समुदाय पर भूमंडलीकरण की सबसे अधिक मार पड़ी है। विकास के बढ़ते दबाव से आदिवासियों को जबरन उनकी जमीन से बेदखल व विस्थापित किया जा रहा है और यदि वह इसका विरोध करते हैं तो जेल में डाल दिया जाता है या मार दिया जाता है। विकास का मुखौटा पहनकर सरकारें और कंपनियां आदिवासियों को विस्थापित होने पर विवश कर रही हैं। प्रसिद्ध आदिवासी लेखक व चिंतक हरिराम मीणा लिखते हैं- "एक ओर तो कल्याणकारी सरकारें बीच सड़क में बना दिए गए किसी धर्म स्थान से घबराकर राष्ट्रीय राजमार्ग तक को मोड़ देती हैं तो दूसरी ओर वही सरकारें बड़ी आसानी से विकास का मुखौटा ओढ़कर अंग्रेजी राज के भू अर्जन अधिनियम 1894 के हथियारों से हजारों आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल कर देती है।"[49]

आदिवासियों के विस्थापन पर दृष्टि डाली जाए तो जो बात निकल कर सामने आती है, वो है कि पूंजीवाद विस्थापन का मूल कारण है। सरकार और पूंजीवाद के गठबंधन से और प्राकृतिक संसाधनों के बेढंग तरीके से दोहन की और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की योजनाएं चलती रहती हैं। इन योजनाओं को कार्यरूप में लाने से जो आदिवासी पलायन करते हैं उन्हें न तो उचित क्षतिपूर्ति

48.अरावली उद्घोष, मार्च 2011,भूमंडलीकरण और दलित आदिवासी समाज पर उसका प्रभाव, पृष्ठ संख्या- 36

49.बहुवचन, जुलाई-सितंबर 2011, विस्थापन की समस्या, पृष्ठ संख्या-31

मिलती है और न ही पुनर्वास। इस बात की पुष्टि 'एक्शन एंड इंडियन सोशियल इंस्टीट्यूट' और 'लाया' संगठन द्वारा किए गए सर्वेक्षण से सामने आती है, जिसका उल्लेख हरिराम मीणा ने अपने लेख 'वैश्वीकरण बनाम आदिवासी समाज' में किया है- "गत एक दशक में औद्योगिक परियोजनाओं की वजह से चार प्रांतों यथा आंध्र प्रदेश,छत्तीसगढ़, झारखंड व ओडिशा में चौदह लाख लोग विस्थापित किए गए। सर्वे क्षेत्रों में विस्थापितों का 79 प्रतिशत अनुसूचित आदिवासी थे। जबकि भारत की कुल आबादी में आदिवासी लोग मात्र 8.6 प्रतिशत ही हैं। विस्थापन के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन, जीविका, पुश्तैनी आवास और पूजा-स्थलों के साथ-साथ प्रकृति और वन्यजीवों के परिवेश से बेदखल होना पड़ा।"[50]

विकास की धारा से दूर आदिवासी समुदाय की सबसे बड़ी समस्या असुरक्षा की है। वह जंगली जानवरों, हिंसक पशुओं के बजाय तथाकथित सभ्य मनुष्यों से अधिक डरा हुआ है। पूँजीवादी संस्कृति का प्रभाव वर्तमान में मनुष्य पर इतना अधिक हो गया है कि उसकी संवेदना खत्म होती जा रही है। आदिवासी कवि अपनी कविता में शोषितों की पुकार, दुख-दर्द को संपूर्णता में चित्रित कर रहे हैं। शशि भूषण मिश्र की कविता 'हमें असभ्य रहने दो' में उल्लिखित है –

"हमें मत भगाओ यहां से
बाबा आदम के जमाने से

जीती आई है हमारी कई पुश्ते।
मत विस्थापित करो हमें।"[51]

50.बनास जन,जुलाई-दिसंबर 2019, वैश्वीकरण बनाम आदिवासी समाज, पृष्ठ संख्या- 242

51.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, हमें असभ्य रहने दो, पृष्ठ संख्या- 194

आदिवासी समुदाय का संपूर्ण जीवन प्रकृति पर आधारित होता है, इसके बिना वह कैसे जीवित रह सकता है? वैश्वीकरण के इस समय में प्रकृति का बेहिसाब दोहन हो रहा है, नदियों की धाराओं को मोड़कर उसके ऊपर डैम बनाए जा रहे हैं, तथा पहाड़ों को तोड़कर कल कारखाने, रास्ते बनाए जा रहे हैं। इन सबने वहाँ निवास करने वाले आदिवासियों को अन्यत्र विस्थापन को मजबूर कर दिया है। पिछली दो-तीन शताब्दियों से बड़े पैमाने पर आदिवासी विस्थापित हुए हैं और उनके जंगल उजड़े हैं। आशुतोष कुमार झा अपनी कविता में कहते हैं-

"पिछले सौ सालों में
सारे देश में

और विकास के नाम पर
उजड़ने को अभिशप्त"[52]

वैश्वीकरण गरीब और अमीरों के अंतर को बढ़ाकर नए वर्गों की रचना कर रहा है। समाज कभी इकट्ठा ना हो सके यही इसकी धूर्तता है। नए- धनाढ्य वर्ग का निर्माण और अन्य सभी को दास बनाना इनका षड्यंत्र है। पूँजीवादी संस्कृति ने आदिवासियों की प्राकृतिक संस्कृति को संकट में डाल दिया है। लाल सिंह बोयपाई अपनी कविता 'सारंडा वन' में कहते हैं-

"घर- द्वार सब छोड़
पशु मवेशियों को त्याग

दुख के ऊपर दुख लगे हैं
पलायन विस्थापन नाम मिल रहे हैं।"[53]

52.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, दातुन बेचने वाली के बहाने, पृष्ठ संख्या-241
53.युद्धरत, आम आदमी, जनवरी-2014, सारंडा वन, पृष्ठ संख्या- 34

वन आदिवासियों की जन्मभूमि है और कर्मभूमि भी है। जंगल आदिवासियों की आजीविका ही नहीं संस्कृति और प्रतिष्ठा भी है, जो विक्रयशील नहीं होती। हमारी बिकाऊ व्यवस्था, आदिवासी समुदाय की आजीविका, जंगल-जीविका, नदी, झरने, पहाड़ यहां तक कि उनके प्रतिष्ठापूर्वक जीने का अधिकार भी छीन रही है।

ब्रिटिश काल से ही विकास का रथ आदिवासियों को कुचलता आया है। सन् 1907 में टाटा स्टील की स्थापना हुई जिसमें लगभग पैंतीस हजार आदिवासियों को विस्थापित होना पड़ा। टाटा स्टील की स्थापना के लिए 'छोटा नागपुर टेनेंसी एक्ट 1908' को चार वर्ष तक निष्क्रिय रखा गया ताकि कंपनी की स्थापना के लिए जमीन पर अधिकार हेतु बेवजह कानूनी पचड़े में न पड़ना पड़े।

झारखंड में ‘नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज’ की वजह से 254 गांव के लोगों को पलायन करना पड़ा। ‘कोयला कारो डैम’ और ‘शंख डैम’ ने क्रमश: 250 और 208 गांव को ग्रस लिया। चांडिल वन्य जीव अभ्यारण, चांडिल बांध, तेनूप्पट थर्मल पावर आदि जैसी विकास की इन परियोजनाओं में बलि चढ़ने वालों में अधिकतर आदिवासी हैं।

सन् 1984 तक आदिवासियों की ज़मीनें सन् 1894 में बने आम आदमी के विधि सम्मत अधिकारों की अपेक्षा राज्य और प्रभु वर्ग के हित-साधन हेतु निर्मित ‘भूमि अधिग्रहण’ कानून के तहत ली जाती रही है। इस कानून के अनुसार सरकार जनहित के लिए चाहे जिसकी भूमि ले सकती है। एवज में बाजार रेट से भूमि का मूल्य दिया जाता रहा है। 1984 में इस कानून में यह कहते हुए बदलाव किया गया कि ‘जनहित’ ही नहीं बल्कि सार्वजनिक घरेलू और विदेशी कंपनियों की

आवश्यकताओं के लिए भी भूमि ली जा सकती है। सवाल यह बनता है कि विकास के इस मसौदे में 'जनहित' या 'आवश्यकता' कौन निश्चित करता है? हमारी वही घूसखोर व्यवस्था, जो कंपनियों के भूमि-कब्जा करने को 'जनहित' का चोला पहनाती है? जो समावेशी विकास की अवधारणा को मिटाकर पूंजी की लालसा को ही विकास की संज्ञा देती है? जो अच्छी तरह समझती है कि 'आर्थिक सुधार' कोई आर्थिक नीति नहीं वरन आर्थिक तत्वों के द्वारा किसी शक्तिशाली देश द्वारा शेष दुनिया पर सांस्कृतिक हमला करके राजनीतिक सफलता प्राप्त करना और राष्ट्र की इच्छाशक्ति को खत्म कर उसे पर निर्भरता और गुलामी की ओर धकेल देना है।

भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और भारत को विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बनाने की कीमत आदिवासी समुदाय चुका रहा है। विकास के लिए आदिवासियों का विनाश जैसे अनिवार्य बन चुका है। क्योंकि विकास के नए प्रारूप में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जो कम से कम विस्थापन और अच्छे पुनर्वास को निश्चित कर सकें।

आदिवासी और पर्यावरण के बीच सहजीविता और सहअस्तित्व का रिश्ता है। आदिवासी पर्यावरण की रक्षा करते आए हैं। इस प्रकार आदिवासियों के पलायन का अर्थ है प्रकृति की रक्षा करने वालों का पलायन होना और प्रकृति पर खतरे का मतलब आदिवासियों के अस्तित्व पर खतरा। इसी सहजीविता और सहअस्तित्व के रिश्तों को अभिव्यक्त करती है विनोद कुमार शुक्ल की कविता 'जंगल किसका है?-

"जो प्रकृति के सबसे अधिक निकट है

जंगल उनका है

जब कविता से एक-एक शब्द

बेदखल होंगे"[54]

विकास किसके लिए हो यह निश्चित करना आवश्यक है। अगर विकास पर्यावरण को नुकसान पहुंचाकर मानवता को नष्ट कर आदिवासियों को विस्थापित करता हो तो रुक कर विचार करने की आवश्यकता है।

3.4 प्रतिरोधी चेतना:-

वर्तमान दौर, पूँजीवादी मल्टीनेशनल कंपनियों और बाजारवाद का है। वैश्वीकरण की चपेट में विशेष रूप से श्रमिक वर्ग एवं आदिवासी समुदाय पिस रहा है। पूँजीवादी व्यवस्था, आदिवासियों की संस्कृति, भाषा, मूल्य आधारित आदिवासियत को नष्ट कर रही है। सरकार एवं उद्योगपतियों के गठजोड़ ने उसकी वन संपदा, भू-संपदा आदि पर कब्जा कर लिया है। परिणामस्वरूप आदिवासियों की अर्थव्यवस्था विकृत हो गई है। देश को स्वतंत्र हुए एक लंबा वक्त बीत जाने के बाद भी आदिवासी समुदाय का आदिम समय में जीना आधुनिक विकास पर एक प्रश्नचिन्ह है। आदिवासियों की संस्कृति, जल, जंगल और जमीन के हिफाजत के बदले उनके अस्तित्व को संकट में डालना सरकारी नीतियों की सायास कमियों को इंगित करता है। आदिवासियों पर हो रहे अन्याय, संविधान की पांचवी सूची के प्रावधानों का उल्लंघन है। उनको, पुश्तैनी कार्य एवं प्राकृतिक संसाधनों पर स्वामित्व के अधिकार की गारंटी दी गई है। आदिवासी समुदाय ने इसी स्वामित्व के अधिकार की रक्षा और भाषा, संस्कृति, परंपरा के संरक्षण के लिए स्वर मुखर किया है।

54.अरावली उद्घोष, सितंबर- 2011, जंगल किसका है?, पृष्ठ संख्या- 25

यह स्पष्ट है कि आदिवासी समुदाय के रचनात्मक साहित्य के साधनारत लेखक आदिवासी सभ्यता, संस्कृति और प्रकृति संरक्षण की स्पष्ट समझ रखते हैं। वे अपने परिवेश के साथ तालमेल बैठाकर जीवन जीते रहे हैं। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो सामूहिकता, सहअस्तित्व, समानता, सहजीविता, करुणा और शांति पर आधारित है। आदिवासियों का यह सिद्धांत सभी मानव, पेड़-पौधों, जीव जंतुओं के प्रति अनिवार्य सामंजस्य आपसी भागीदारी जैसे मूल्यों को भलीभांति पुष्ट करता रहा,और विभिन्न छोटी-छोटी संस्कृतियों को जन्म देता रहा है। उनके लोकगीतों, लोककथाओं, वैचारिक अभिव्यक्ति आदि में इन्हीं संस्कृतियों का अवबोध व्यवस्थित रूप में देखने को मिल जाता है। आदिवासी समाज के लोग उसी ज्ञान के संरक्षण हेतु स्वर मुखरित करने लगे हैं। वे अपनी संस्कृति की रक्षा एवं विस्थापन के विरोध-स्वरूप जिम्मेदार नागरिक की भूमिका में आगे बढ़ रहे हैं।

आदिवासी कविता प्रतिरोध की कविता है जो बाहरी समाज के रूढ़िग्रस्त मानसिकता वाले लोगों के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने की ऊर्जा देती है, साथ ही शोषण से मुक्ति की इच्छा रखती है। वाहरु सोनवणे अपनी कविता 'डर' में कहते हैं-

"जिंदगी हम जिएंगे

अपने हिसाब से

जान जाए, जा सकती है

पर जिंदगी बचाना है

अनमोल है जिंदगी हमारी।"[55]

55.अरावली उद्घोष, सितंबर-2011, डर, पृष्ठ संख्या- 56

प्रतिरोध की आवाज में आदिवासी स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। बाहरी समाज के अनावश्यक हस्तक्षेप का उन्होंने जमकर प्रतिरोध किया। पूंजीपतियों द्वारा लूटी जा रही संपदा को बचाने के लिए वे अपने समाज को जगाती हैं। बसंती कुमारी कुजुर अपनी कविता 'अब जागो में' कहती हैं-

"बहुत सो लिए
भोर हुई अब जागो

भोर हो गई
अब जागो"[56]

आदिवासी कविता पूँजीवादी व्यवस्था को चुनौती भी देती है। वह कहती है भले तुम महाशक्ति बन जाओ, अपना राजा, पहरेदार रख लो। अपने पालनहारों से अपना इतिहास लिखवा लो और हमारी हैसियत तुम्हारे सामने कुछ ना हो, हमारा इतिहास लिखने वाला भले कोई ना हो, हमें चीटियों जैसे अपने पांव तले रौंद डालो लेकिन हमारी भुजाओं में तुम्हारी मशीनों से कई गुना ताकत है। हम सदा एकजुट होकर अपनी समस्याओं का समाधान कर लेते हैं और तुम इधर-उधर से जोड़ तोड़कर अपना गौरवपूर्ण इतिहास लिखते हो। किंतु याद रखना फिर यदि कोई महायुद्ध हुआ तो ये महाशक्तियां नहीं बचेंगी। महादेव टोप्पो की एक कविता में इन्हीं बातों की अभिव्यक्ति हुई है-

"मगर रखना याद
जब भी तीसरा महायुद्ध छिड़ेगा

नई सृष्टि रची डालेंगे- तीसरे महायुद्ध के बाद भी"[57]

56.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-2014, अब जागो, पृष्ठ संख्या-67

57.वागर्थ, नवंबर-2017, रच डालेंगे फिर नई दुनिया, पृष्ठ संख्या-47

जैसा की सर्वविदित है प्रकृति और आदिवासी के बीच नाभि-नाल का संबंध है। वह प्रकृति पर कब्जा नहीं करना चाहता, वह उसके साथ जीने में यकीन करता है। वह प्रकृति से उतना ही लेता है जितनी आवश्यकता है। अब वही आदिवासी दिकुओं द्वारा आरोपित किए गए विस्थापन के खिलाफ लिख रहे हैं, अपना आत्मसम्मान, अपनी अस्मिता बचाने के लिए लिख रहे हैं। आदिवासी कविता तथाकथित सभ्य समाज से कहती है- हम तुमसे मुकाबला भी करेंगे साथ ही अपनी सरलता, सहजीविता, सहअस्तित्व, सामुदायिकता को कायम भी रखेंगे। तथाकथित सभ्य समाज ने हमारी शहादत और संसाधनों को नष्ट करके जो विकास किया है; उस सच्चाई को उजागर करेंगे। मिथकों और प्रतीकों में आदिवासियों की छवि को विकृत किये जाने वाले दुरभिसंधि को उजागर करेंगे। हमारे पूर्वजों को सभ्य समाज ने कैसे बहुरूपिया बनकर छला है? उसको भी सामने लाएंगे। अपनी 'एकलव्य' कविता में हरिराम मीणा लिखते हैं-

"प्रणाम किया गुरु
कहा और कर दी बाणों की वर्षा

मुख बाणों से भर दिया
बिन प्राण लिए वापस भेजा"[58]

आदिवासी कविताएं आदिवासियों की चुप्पी तोड़ने की एक पहल है। संघर्ष करते हुए जब आदिवासी अकेला पड़ जाता है तो कविता उसे ऊर्जा प्रदान करती है। आदिवासी कविता आदिवासियों को सावधान भी करती है, साथ ही अन्याय का प्रतिरोध भी करती है। अतः अपनी सभ्यता, संस्कृति, प्राकृतिक संसाधनों को बचाने के लिए समकालीन आदिवासी कविता में प्रतिरोध का स्वर तीव्र होता जा

58.युद्धरत आम आदमी, अप्रैल-जून 2009, एकलव्य, पृष्ठ संख्या-50

रहा है। आदिवासी हिंदी कविता आदिवासियों के विरुद्ध हो रहे तमाम षडयंत्रों के खिलाफ विपक्ष की मजबूत जमीन तैयार करती है-

“तुम्हें याद होगा
तीन सौ साल पहले
साम्राज्यवाद के खिलाफ
मुठ्ठियाँ भींचने और
धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने का साहस
करने वाले हाथों के
वंशज तुम ही हो”[59]

मनुष्य जैसे-जैसे आधुनिक होता जा रहा है पर्यावरण और उस पर निर्भर आदिवासियों, वन्यजीवों आदि को बर्बाद करने में कोई कमी नहीं छोड़ रहा है। पूंजी की लोलुपता ने मनुष्य को इस कदर संवेदन-शून्य बना दिया है कि वह ईश्वर को भी बाजारवादी वस्तु बना चुका है। आदिवासी कवयित्री जसिंता केरकेट्टा इन सब चीजों को भलीभांति समझती हैं। वह अपनी कविता ‘ईश्वर और बाजार’ में लिखती हैं-

“लोग ईश्वर को राजा मानते रहे
और राजा में ईश्वर को ढूंढते रहे

ईश्वर का कारिंदा घोषित कर दिया

59.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, पैगाम, पृष्ठ संख्या-246

भव्य प्रार्थना स्थल बनाने में लगा दिया

उसके नाम पर बाजार सजा दिया।"[60]

पलायन का दर्द झेल रहे आदिवासियों को अपना अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। उनके सामने अपने परिवार के भरण-पोषण की समस्या खड़ी हो गई है। ऐसी घड़ी में कविता इनकी आवाज बनती है और अपने खिलाफ हो रहे कुचक्रों के विरुद्ध प्रतिरोध को बुलंद करती है-

"हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए है पर धकेलना है

तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में

शामिल होने के लिए

सौ बार सोचना पड़ेगा हमें।"[61]

आदिवासी कवि अपने समाज की दयनीय स्थिति को देखकर व्याकुल है। वह समाज के हितधारकों को याद करता है, जिन्होंने अपने समाज के लिए अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया। आदिवासी कवि आज अपने समुदाय की स्थितियां देखकर अपनी पीड़ा को वाणी दे रहा है। उनको यह आभास होने लगा है कि उन्हें अपने वीर पुरखों की आवश्यकता है। आदिवासी कवि अपनी कविता के माध्यम से अपने पुरखों के संघर्ष, उनकी महानता को आदिवासी नवयुवकों से बताता है एवं उसे जगाता है। फ्रांसिस्का कुजुर की कविता में इसी बात की अभिव्यक्ति हुई है-

"बधु की तरह ही है तुम्हारा तन

बधु के गांव में ही तुम लेते हो साँस

60.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, ईश्वर और बाजार, पृष्ठ संख्या-204

61.आजकल, जुलाई-2006 , सोचना पड़ेगा हमें, पृष्ठ संख्या-28

अरे पत्थर के फूटने से भी तो

दहलती है धरती।"[62]

आदिवासियों का दमन वर्षों से होता आया है, वे शोषण के षड्यंत्र के शिकार होते रहे हैं, वर्तमान में भी उनकी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है। तथाकथित सभ्य समाज के लोग उनको हेय दृष्टि से देखते हैं। दलाल, आदिवासियों और उनकी स्त्रियों की अर्धनग्न तथा विभिन्न तरह की ऐसी तस्वीर बनाते हैं कि जैसे आदिवासी बहुत सौभाग्यशाली हैं। इसके विपरीत आदिवासियों की मन:स्थिति, उनकी मानसिक पीड़ा को कोई नहीं देख पाता। आदिवासी स्त्रियों को दिवास्वप्न दिखाकर उनको बाजारों में उतारा जा रहा है। ऐसी कारुणिक व्यथाओं का संश्लिष्ट चित्रण आदिवासी कविता में हुआ है। निर्मला पुतुल अपनी कविता 'बिटिया मुर्मू के लिए' में अभिव्यक्त हुआ है-

"उठो कि अपने अंधेरे के खिलाफ उठो

उठो अपने पीछे चल रही साजिश के खिलाफ

उठती है जैसे राख में दबी चिंगारी

देखो! अपनी बस्ती के सीमांत पर"[63]

बाजारवादी संस्कृति ने जरूरत के स्थान पर लालच और आडंबर को महत्वपूर्ण बना दिया है। इसलिए बाजारवाद आदिवासियों के रहन-सहन संस्कृति और स्त्रियों को भी व्यावसायिक अवसर की नजर से देखता है। उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता कि आदिवासी किस संकट से गुजर रहे हैं। बाजारवाद ऐसी आर्थिक प्रक्रिया है जिसकी नजर में प्रत्येक वस्तु बिकाऊ है। उसका एकमात्र लक्ष्य ज्यादा से ज्यादा

62.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-2014, सवाल ही सवाल, पृष्ठ संख्या-21

63.कथादेश, मई 2004, बिटिया मुर्मू के लिए, पृष्ठ संख्या -70

मुनाफा कमाना होता है। इसके लिए वह मानव के सुख-दुख, रिश्ते- नाते, भावनाएं सबका व्यापार करता है। आदिवासी कविता इस उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रतिवाद करती है जिसने उनके जीवन को नर्क बना दिया है और उनकी स्त्रियों को उपभोग की दृष्टि से देखा है। निर्मला पुतुल ने 'घड़ा उतार तमाशा के विरुद्ध' शीर्षक कविता में अपना आक्रोश प्रकट किया है -

"अब बंद करो यह तमाशा
और कह दो तमाशाइयों से

जो संस्कृति का जामा पहना लगाते आ रहे हैं वर्षों से
हमारे जंगलीपन का तमाशा"[64]

आदिवासी कविता आदिवासी स्त्री की रूढ़ छवि को तोड़ती है, उसमें पुरुष प्रधान समाज का नकार भी दिखता है। इस विषय को आदिवासी कवयित्री ज्योति लकड़ा की 'तुम्हारा डर' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है-

"तुम डरते हो मुझसे
इसलिए डरते एक्स वाई गुणसूत्र को श्रेष्ठ कहते हो

क्योंकि तुम्हारे बगैर भी मैं
अपनी पीढ़ी को बचाए रखने में सक्षम हूँ" [65]

आदिवासी स्त्रियों का शोषण केवल बाहरी समाज ने ही नहीं किया है बल्कि उनके स्वयं का समाज भी इस मामले में पीछे नहीं रहा है। प्रस्थापित संस्कृतियों

64.कथादेश, मई 2004, घड़ा उतार तमाशा के विरुद्ध, पृष्ठ संख्या-71

65.युद्धरत आम आदमी, जनवरी 2014, तुम्हारा डर, पृष्ठ संख्या- 17

के प्रभाव में आकर आदिवासी समाज स्त्रियों के अधिकारों को छीनने लगा है। वह भी स्त्रियों को केवल भोग की वस्तु समझने लगा है, और उसे केवल रसोई से बिस्तर तक सीमित करना चाहता है। अपने अधिकार को छिनता देख आदिवासी स्त्रियों में रोष पैदा हो रहा है। यही रोष उनकी कविता, कहानी में दर्ज हो रहा है। निर्मला पुतुल अपनी एक कविता में पुरुष प्रधान समाज से सवाल करती हैं-

"क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण?

रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में?" [66]

सरकार द्वारा संचालित विभिन्न योजनाओं के बाद भी आदिवासी बुनियादी सुविधाओं से कोसों दूर है। रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करने के लिए उनको संघर्ष करना पड़ता है। इन क्षेत्रों में जो विकास पहुंचा है यदि उसे छद्म विकास की संज्ञा दी जाए तो ग़लत न होगा। इसी छद्म विकास के साथ आदिवासी समाज तक राष्ट्रवाद का वह छद्म रूप पहुंचा है जो देश की सामाजिक संस्कृति के लिए कतई उचित नहीं है। खुशी की बात यह है कि अपवादों को छोड़कर आदिवासी समाज में इसका विरोध ही हुआ है। इस विरोध का स्वरूप जसिंता केरकेट्टा की कविता में देखने को मिलता है-

"जब मेरा पड़ोसी
मेरे खून का प्यासा हो गया
मैं समझ गया
राष्ट्रवाद आ गया"[67]

66.अरावली उद्घोष, जून-2011, निर्मला पुतुल, पृष्ठ संख्या- 55

67.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, राष्ट्रवाद, पृष्ठ संख्या-205

सांप्रदायिकता किसी भी राष्ट्र के लिए बहुत बड़ी समस्या होती है। बाबरी मस्जिद की घटना ने समकालीन रचनाकारों को झकझोर दिया। बहुत सारे सजग रचनाकारों ने सांप्रदायिकता के मुद्दों पर कविता लिखी। जाति धर्म को आधार बनाकर राजनीति या सत्ता में बने रहने के लिए सांप्रदायिकता सदैव महत्वपूर्ण हथियार रही है। सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काकर समाज में विभाजन पैदा किया जाता है।

आदिवासी कविता की सशक्त हस्ताक्षर जसिंता केरकेट्टा ने अपनी कविता 'पड़ोस में देशद्रोही ढूंढते लोग' में इसका पर्दाफाश किया है-

"धर्म, झूठी देशभक्ति

और राजनीति की धूर्तता के नशे में धुत्त

मोहल्ले से बाहर की यात्रा कभी की नहीं

इसलिए, अपने मोहल्ले में ही पाकिस्तान ढूंढता है।"[68]

आज संवेदनाएं मर रही हैं और उपभोक्तावादी संस्कृति का विस्तार हो रहा है। उपभोग की ऐसी संस्कृति में ऊपर से तो सब कुछ कल्याणकारी दिखता है लेकिन अंदर से स्वार्थपूरित रहता है। उसके दामन में सांप्रदायिकता, अनैतिकता अत्याचार का दाग लगा हुआ है। अब यह अनिवार्य हो गया है कि ऐसी ताकतों को चिन्हित कर, उन्हें उखाड़कर फेंकने और लोकतंत्र की स्थापना करने का भरसक प्रयास किया जाए।

3.4 आदिवासी अस्मिता की व्यथा और सरोकार की कविता:-

आज पूरी दुनिया के आदिवासी अपने अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के लिए संघर्षरत है। वर्तमान में तथाकथित सभ्य समाज ने उनके सामने दो ही

68.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, पड़ोस में देशद्रोही ढूढते लोग,पृष्ठ संख्या-205

विकल्प छोड़े हैं या तो वह प्रस्थापित संस्कृति को स्वीकार कर ले या विकृति के लिए तैयार रहें। अब आदिवासीयों में चेतना जाग रही है, वे अपनी स्थिति-परिस्थिति को समझने लगे हैं और विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रस्थापित संस्कृति का प्रतिवाद करने लगे हैं। अब वे अपनी वेदना को खुद कहने व समस्या का समाधान खोजने का प्रयत्न भी करने लगे हैं।

आदिवासी पिछले कई शताब्दी से अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व के लिए संघर्ष करते आ रहे हैं लेकिन नब्बे के दशक में आर्थिक उदारीकरण के बाद से आदिवासियों की समस्याएं कई गुना बढ़ गई और इसी के सापेक्ष इनका संघर्ष भी। आधुनिक विकास के लिए जमीन, कच्चे माल आदि की जरूरत महसूस हुई तो शासन्-प्रशासन् ने आदिवासी क्षेत्रों की तरफ रुख किया। विभिन्न प्रकार के कानून बनाकर आदिवासियों को उनके भौम से बेदखल कर दिया गया। आदिवासियों की संपदा पर उद्योगपतियों-व्यापारियों ने कब्जा कर लिया। वे आदिवासियों से सस्ते दाम में सामान खरीद कर अधिक मूल्य पर बेचने लगे। कल-कारखानों, खदानों में आदिवासी दिहाड़ी करने पर मजबूर हो गए और साहूकार उन्हें ऋण देकर हमेशा के लिए गुलाम बनाना शुरू कर दिये।

बाहरी समाज का जबसे आदिवासी समाज में हस्तक्षेप बढा है उनकी सामाजिक समस्या लगातार बढ़ती जा रही है।आदिम समय में आदिवासी समुदाय सामूहिक रूप में रहा करता था वहीं अब मुख्यधारा के दुष्प्रभाव ने उन्हें राजनीतिक स्वार्थवश छोटे-छोटे भागों में, जाति, वर्ग, नस्ल आदि में बांट दिया है। शिक्षा के अभाव के कारण अंधविश्वास पनप रहा है। आदिवासी समाज प्राय: मातृसत्तात्मक होते हैं। यदि कहीं पितृसत्ता है तो वहां भी स्त्रियों की स्थिति अच्छी है लेकिन जब से बाहरी समाज का प्रभाव आदिवासी समाज पर पड़ा है, स्त्रियों की स्थिति सोचनीय हो गई है। यह बाहरी संस्कृति का प्रभाव है कि आदिवासी समाज में स्त्रियों को खरीद-फ़रोख्त के साथ, गिरवी भी रखा जा रहा है। स्त्री इसका विरोध करती है तो उसे अमानवीय सजा दी जाती है।

आदिवासी साहित्य के द्वारा इन सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं के खिलाफ आदिवासियों की अस्मिता एवं व्यक्तित्व के लिए संघर्ष का स्वर फूटा है। आदिवासियों की प्रत्येक व्यथा में कथा है; जो कविता में भी स्पष्ट रूप से निर्देशित हुई है। आदिवासी कविता का स्वर प्रतिरोधी है, जो उनकी अस्मिता की रक्षा के लिए है। जूनास कंडूलना की कविता 'बिरसा सभा' में अस्मिता की रक्षा का स्वर मिलता है-

"जंगल- झाड़ को काट-झोंप साफ़ आबाद किया हमारे पुरखों ने

जगह- जमीन टांड बना कर दिया हमारे बुजुर्गों पुरखों ने

इसलिए न्योछावर होंगे हम सब"[69]

आदिवासी समाज के सम्मुख संस्कृति और अस्मिता का संकट सदियों से रहा है परंतु अब वह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है। आदिवासी हिंदी कविता हाशिए के समाज की वेदना को अभिव्यक्त करती हैं। आदिवासियों की अस्मिता को जो खत्म करना चाहते हैं, ये कविताएँ उनकी ताक़तों का प्रतिवाद करती हैं। आदिवासी कवियों ने आदिवासियों के अनुभवों की पड़ताल की है। आदिवासी कविता में प्रेम, प्रकृति के अलावा आदिवासियों की हताशा, निराशा, शंका, भय, प्रतिरोध आदि को स्थान दिया जा रहा है।

शिक्षित न होने के कारण आदिवासी स्त्री को अभाव में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अशिक्षा के कारण उन्हें दो स्तरों पर संघर्ष करना पड़ रहा है। एक तरफ बाहरी समाज उनका शोषण करता है तो दूसरी तरफ अपने ही समाज में इन्हें मूलभूत अधिकारों से वंचित रखा गया है। मुख्यधारा के समाज ने आदिवासियों को प्रदर्शनी की वस्तु मान लिया है। उनके साथ वह ऐसा आचरण करता है जैसे वह किसी अन्य ग्रह के जीव हैं। संविधान में प्रदत्त मूल अधिकारों से उनको वंचित

69.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, बिरसा सभा, पृष्ठ संख्या-255

रखा गया है। 26 जनवरी और 15 अगस्त में उनको सिर्फ नुमाइश की वस्तु के रूप में बुलाया जाता है, उनकी अस्मिता की सुरक्षा को लेकर कोई सुनिश्चितता नहीं है। आदिवासी कविता इन्हीं नुमाईशों, मौलिक अधिकारों से वंचित रखने के कुचक्र, शोषण की व्यथा- कथा को अभिव्यक्त करती है-

"तुम्हारी भाषा में बोलता वह कौन है
जो तुम्हारे भीतर बैठा कुतर रहा है तुम्हारे विश्वास की जड़े?
दिल्ली की गणतंत्र झांकियों में

पर गणतंत्र के नाम की कोई चिड़िया
कभी आकर बैठी तुम्हारे घर की मुंडेर पर?"[70]

ऐसे कई दृष्टांत मिल जाएंगे जहां आदिवासियों को प्रदर्शन की वस्तु मानकर विभिन्न आयोजनों में प्रस्तुत किया गया लेकिन उनकी समस्याएं वैसी की वैसी ही रही। आज हम वैश्वीकरण के दौर में जी रहे हैं और विकास के उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति के बावजूद स्त्रियों के प्रति लंपट नज़रें उठती ही रहीं। आज भी आदिवासी लड़कियों, स्त्रियों को नौकरी दिलाने का झूठा दिलासा देकर बड़े शहरों में बेचा जा रहा है। आदिवासी स्त्रियों के शोषण में वह स्त्री भी शामिल है जो स्त्री मुक्ति का स्वांग रचती है लेकिन विज्ञापनों में सिर्फ सिड्यूस करती है, उकसाती है। निर्मला पुतुल अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी की स्त्रियों को सावधान करती है-

"कहाँ गया वह परदेसी जो शादी का ढोंग रचा कर
तुम्हारे ही घर में तुम्हारी बहन के साथ

70.कथादेश, मई-2004, चुड़का सोरेन से, पृष्ठ संख्या- 72

पढ़ाने लिखाने का सपना दिखाकर दिल्ली ले भागा

और आनंद भोगियों के हाथ बेच दिया।" [71]

आज उपभोक्तावादी संस्कृति आदिवासियों की संपत्ति, जल, जंगल जमीन एवं उनकी स्त्रियों को उपभोग की वस्तु बनाने पर ही तुला है।

विकास के कारण आदिवासियों की अस्मिता पर आया संकट उनकी सामूहिक सामुदायिकता से ही समाप्त होगा। बाहरी लोगों के हस्तक्षेप के कारण आदिवासियों में विभाजन हो रहा है, जिसका लाभ दिकु लोग उठा रहे हैं। आदिवासी कविता आह्वान कर रही है कि अपनी पहचान को बचाने के लिए हमें मिलकर संघर्ष करना पड़ेगा।

"तुम्हारी एक नहीं होने और सु-सुप्त बुद्धि के चलते

इस सुंदर झारखंड को कुत्ते खा रहे हैं।

इस स्वादिष्ट झारखंड को

आर्थिक रूप से मजबूत बनो, एकजुट हो ओ,

समर्थ रूपी विशाल बांध बनाकर,

उसमें डूबा कर ही मार सकोगे?

काटिए, बीधिये बनिया जाति को,

सच्चा साथी आदिवासी"[72]

आज जंगल पर उनके दावे को खत्म कर दिया गया, उन पर धार्मिक आक्रमण किया जा रहा है। कभी-कभी समाज के लोग आदिवासियों को जंगली, असभ्य,

---

71.वहीं, पृष्ठ संख्या-72

72.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, सच्चा साथी आदिवासी, पृष्ठ संख्या- 256

वनवासी, बंदर आदि संज्ञाओं से बुलाते हैं। आदिवासियों की अपनी अलग पहचान है जिसे बचाए रखना अत्यंत आवश्यक है। आज विभिन्न धर्म के लोग आदिवासियों को अपने धर्म का अंग बनाने की कोशिश में लगे हैं। धर्मावलंबियों ने इन्हें जातियों में बांट दिया है। इस स्थिति को निर्मला पुतुल अपनी आदिवासी कविता 'धर्म के ठेकेदारों की ठेकेदारी' में लिखती हैं-

"कभी ये लोग आते हैं
तो कभी वे लोग

तैयार नहीं वे सब के सब
आदिवासी मानने से हमें" [73]

हमेशा यह सवाल उठता है कि आदिवासी पहचान के संकट के लिए उत्तरदायी कौन है ? विकास के नाम पर आदिवासियों को अपनी पुश्तैनी संपत्ति को बेचने और उनके भौम से बेदखल करने का प्रयास किया जा रहा है, परिणामस्वरूप आदिवासी अधिकारच्युत होकर विस्थापित होने को विवश हैं। इसके कारण आदिवासी भाषा एवं संस्कृति संकट में है। आज आदिवासी अपनी संस्कृति, जंगल, जमीन बचाने के लिए लड़ रहा है। ऐसे समय में कविता का दायित्व बढ़ जाता है।आदिवासी कविता आदिवासियों के विरुद्ध हो रहे साजिशों का पर्दाफाश कर रही है, साथ आह्वान कर रही है कि-

"हजार सालों में भी
तुम किसी के अधीन नहीं हुए

नगाड़े की ताल

73.हंस, सितंबर 2003, धर्म के ठेकेदारों की ठेकेदारी, पृष्ठ संख्या- 51

सिंगा की धुन "[74]

आदिवासी समुदाय अपनी अस्मिता को बचाने के लिए संघर्ष कर रहा है तो उसके संघर्ष को नक्सलवाद, उग्रवाद, माओवाद आदि की संज्ञा दी जाती है। जब जमीदारों दिकुओं ने गलत तरीके से आदिवासियों की जमीन पर कब्जा किया तो शासन् और सत्ता मूक बनी रही। आदिवासी, शिक्षा और धन के अभाव के कारण अपने अधिकार की लड़ाई लड़ नहीं पा रहे थे। सत्ता और दिकुओं का सदैव गठजोड़ रहा है, जिस कारण सरकार ने आदिवासियों की समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप आदिवासियों ने इन दिकुओं के विरुद्ध हथियारबंद आंदोलन छेड़ दिया। आदिवासी प्रकृति प्रेमी होते हैं। जब सरकार या पूंजीपति जंगलों को उजाड़ते हैं तो आदिवासी इसका विरोध करता है तो सरकारें बातचीत का रास्ता न अपनाकर उनके खिलाफ बल प्रयोग करती है। यही बल प्रयोग आदिवासियों को हथियार उठाने के लिए मजबूर करता है। इसी बात की अभिव्यक्ति सिद्धार्थ आनंद की कविता 'नक्सली कौन है?' में हुई है-

"नक्सली कौन है?

किधर है?

कहाँ है?

तो विरोध स्वाभाविक है

मुखर हो जाना

(खामोश तो नपुंसक होते हैं)"[75]

स्वाधीनता के बाद आदिवासी समुदाय सबसे ज्यादा तिरस्कृत रहा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था होने के बावजूद भी उनकी अस्मिता और कुल जनसंख्या का

74.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, पैगाम, पृष्ठ संख्या- 246

75.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर- दिसंबर 2012, नक्सली कौन है?, पृष्ठ संख्या-68

प्रतिशत लगातार कम होता जा रहा है। सत्ता और सत्ता के माध्यम से पूंजीपति आदिवासियों के संसाधनों पर कब्जा करना चाहते हैं। कब्जा हो जाने के उपरांत उन्हें बेदखल कर दिया जा रहा है। अपनी जमीन से बेदखल होने पर उनके सामने सबसे बड़ी समस्या पहचान बचाने की है, उनके पास यह प्रमाण भी नहीं है कि वे इस धरती के ही वासी हैं। आदिवासी कविताएं इन्हीं सब चीजों की पड़ताल करती हैं। दृष्टांत में एक कविता पढ़िए -

"दब गई है क्यों झींगुरों की आवाज
पक्के मकानों की नींव में

कौन खदेड़ना चाहता है इंसानों को
जंगलों से बाहर जानवरों की तरह।"[76]

यह विडंबना की बात है कि विकास के नाम पर आदिवासियों को जंगल से बेदखल किया जा रहा है और विकास का लाभ बड़े उद्योगपति एवं मुख्यधारा के चुनिंदा लोग उठा रहे हैं। आज पूंजी और सत्ता के गठजोड़ से जंगल खत्म हो रहे हैं। जंगल बचाना, जंगल आधारित रोजगार बचाना, जंगल पर निर्भर लोगों को बचाना सरकार के एजेंडे में कभी रहा नहीं। परिणामत: आदिवासियों के अधिकार कमतर होते गए।

"और वे जो नंगे पैर
चुपचाप चले जाते हैं

नदी झरने जानते हैं
कि वह कौन है।"[77]

76.वागर्थ, मार्च 2018, कौन करेगा इसकी पड़ताल, पृष्ठ संख्या-51

77.अरावली उद्घोष आदिवासी, सितंबर-2011, अनुज लुगुन, पृष्ठ संख्या- 26

प्राय शांत रहने वाला आदिवासी समाज अपनी संस्कृति, परंपरा के लिए तत्पर रहता है और उनकी अस्मिता पर चोट करने वालों को समय पर जवाब भी देता है। अपनी कविता 'प्रतिशोध' में विकास राय देबवर्मा कहते हैं-

"प्रतिशोध की भावना रखने वाले;

जरूरी नहीं कि कहने के लिए कुछ ना हो;

कौन सा समय अनुकूल है

बात करने के लिए।"[78]

आदिवासी आज अंगड़ाई ले रहा है। वह समझ गया है कि शोषण, अत्याचार के खिलाफ खुद लड़ाई लड़नी होगी तभी परिवर्तन हो पाएगा। वह एकजुट होकर अस्मिता बचाने के लिए आह्वान कर रहा है। 'क्यों बज रहा है सींगा?' में कवि कहता है-

"जुल्म और अत्याचार

जमीदार, ठेकेदार और महाजन का

इंसान की तरह जीने खातिर

बज रहे हैं सींगा।"[79]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि विकास के लिए जंगलों की अंधाधुंध कटाई हो रही है, जिससे आदिवासियों को विभिन्न समस्याओं का सामना करना

78.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, प्रतिशोध, पृष्ठ संख्या- 290

79.युद्धरत आम आदमी, जनवरी- 2014, क्यों बज रहा है सींगा, पृष्ठ संख्या-55

पड़ रहा है। वह प्रकृति से उतना ही लेता है जितने की आवश्यकता है। वह कम से कम में अपने जीवन का गुजारा करने का अभ्यस्त है। आज जंगलों के बेतहाशा दोहन से आदिवासियों पर संकट आ गया है। नए-नए कानून बनाकर उनको अपनी जमीन से उजाड़ा जा रहा है। वनों में प्रवेश पर प्रतिबंध लगाया जा रहा है। आदिवासी कविता में अपनी अस्मिता और अस्तित्व, जंगल, जमीन की रक्षा के लिए किये जा रहे संघर्ष का चित्रण हुआ है। आदिवासी समाज सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहजीविता, समानता और सामुदायिकता में विश्वास करता है। आज बाहरी समाज के प्रभाव में आकर इस समाज में बुराइयां अधिक तेजी से पनप रही हैं। शिक्षा एवं अर्थ के अभाव के कारण आदिवासी अपने हक की लड़ाई नहीं लड़ पाते हैं और उन्हें अपने जल, जंगल, जमीन से बेदखल होना पड़ता है। आज यदि आदिवासी अपने अधिकार के लिए लड़ता है तो उसे नक्सली, माओवादी बताकर जेल में डाल दिया जाता है। आधुनिक विकास के नाम पर आदिवासियों को खत्म किया जा रहा है। आदिवासी कविता प्रतिरोध की कविता है, जो हरजोर-जुल्म, पूँजी के आतंक और शोषण के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने की ऊर्जा देती है।

चौथा - अध्याय

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता: आदिवासी कथा साहित्य

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता: आदिवासी कथा साहित्य

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में सूचना प्रौद्योगिकी, बाजारवाद, पूंजीवाद, भूमंडलीकरण आदि का दायरा जैसे-जैसे बढ़ता गया, मनुष्य का जीवन भी सापेक्षिक रूप से प्रभावित हुआ, जिसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ना था। जहाँ निजी अहमन्यता क्षीण होने लगी, वहीं समाज के सापेक्ष नवीन विचारों तथा नवीन साहित्यिक विमर्शों में कई महत्वपूर्ण आयाम जुड़े। परिणामस्वरूप नए विषय जैसे दलित, नारी, आदिवासी, किन्नर, अल्पसंख्यक, किसान आदि विमर्श हिंदी साहित्य में प्रतिष्ठित हुए।

कथा साहित्य के अंतर्गत उपन्यास और कहानी को शामिल किया जाता है। किंतु इस अध्याय में मैंने केवल हिंदी आदिवासी कहानियों का अध्ययन किया है। चूँकि उपन्यास अपने बड़े विन्यास के कारण पत्रिकाओं में समग्रता में न प्रकाशित होकर आंशिक प्रकाशित होता रहा है। कई बार आंशिक रूप में प्रकाशित होने वाले उपन्यास पत्रिकाओं के क्रमशः अंकों में न प्रकाशित होने के कारण उनके प्रकाशन में अंतराल हो जाता है। इस तरह पाठक और शोधार्थी दोनों के लिए उपन्यास का अध्ययन में कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। अतः इस अध्याय में में केवल हिंदी आदिवासी कहानियों की विवेचना की गई है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी की कथा विधा में बहुत तेजी से बदलाव हुए। इस दौरान कई कथा आंदोलन हुए लेकिन कोई आंदोलन लंबा नहीं चल सका। आंचलिक कहानी का दौर भी लगभग दस से पंद्रह वर्षों में समाप्त हो गया और आदिवासी जीवन से संबन्धित रोमानी कहानियों का दौर भी। आर्थिक उदारीकरण के बाद आदिवासियों के जीवन में हो रहे नये उथल-पुथल को हिंदी कहानी में स्पष्ट देखा जा सकता है।

आदिवासी कहानियों के विकास को लेकर विद्याभूषण लिखते हैं- "हिंदी पट्टी के आदिवासी अंचल की कहानियों के तिथिक्रमानुसार यानी क्रमिक विकास का इतिवृत्त जुटाना हो तो पहला सवाल यह सामने आता है कि पहली कहानी

होने का सनद किसे मिले! यह आकलन वाकई आसान नहीं है कि कई राज्यों और प्रदेशों में फैली भाषा के किस प्रखंड में इस विषय पर कहानी लिखी गई"[1]

योगेंद्र नाथ सिन्हा का पहला कहानी-संकलन 'पहाड़ की पुकार' 1954 में प्रकाशित हुआ, जिसमें सोलह कहानियां आदिवासी जीवन से संबंधित थीं। इन्हीं के दो और कहानी संकलन 'दुम्बी हो' और 'मूंछ की लड़ाई' 1958 में एक साथ प्रकाशित हुए। इन दोनों संग्रहों की भूमिका लिखने वाले बाबू शिवपूजन सहाय और रामवृक्ष बेनीपुरी की नजर में 'हिंदी में ऐसा कहानी संग्रह देखने को नहीं आया है'। हालाँकि इसके पीछे जाकर पहली आदिवासी कहानी की खोज होती रही जिसमें दो कहानियां सामने आती हैं- एक पंडित मामराज शर्मा के संपादकत्व में राँची से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'छोटा नागपुर' में सन् 1924 में प्रकाशित वैद्यनाथ पोद्दार की कहानी, दूसरी 1929 में प्रकाशित मोहनलाल महतो 'वियोगी' के कहानी संग्रह 'रेखा' में संकलित 'वनवासिनी सुंदरी' को भी कुछ लोग पहली कहानी मानते हैं। हालाँकि फिर भी इस पर शोध जारी है इसलिए किसी निर्णय पर पहुंचना मुश्किल है; अतः इस प्रश्न को छोड़ देना उचित होगा।

नब्बे के दशक में साहित्यिक एवं गैर-साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित आदिवासी अंचल या उससे संबंधित पहलू को रेखांकित करने वाली कहानियों की संख्या काफी अधिक है। यहीं से आदिवासियों की बदहाली की पड़ताल शुरू होती है। विद्याभूषण जी लिखते हैं- "आठवें दशक तक आते-आते कथा लेखन की स्थिति में समय से संवाद करने के लिहाज से पूर्ण विकसित और दृष्टि सचेत हो गई, आदिवासी परिवेश आदिम अवशेष के किसी अजूबे की तरह चित्रित नहीं हो रहा था।"[2]

1.हंस अक्टूबर-2006, उत्तरशती की हिंदी कहानी में आदिवासी अंचल, पृष्ठ संख्या-32

2.वहीं, पृष्ठ संख्या-34

4.1 आदिवासी जीवन के सामाजिक - सांस्कृतिक स्वरूप:-

आदिवासी स्वभाव के सरल एवं निश्चल होते हैं और सुदूर प्रकृति की गोद में रहते हैं। आदिवासी और प्रकृति के बीच नाभि-नाल का संबंध है। उनके पर्व, त्यौहार और उत्सव आदि में प्रकृति से जुड़ी संस्कृति सहज दिखाई देती है। आदिवासियों से संबंधित कहानियों में भी प्रकृति की स्पष्ट झलक मिलती है। आदिवासी प्रकृति को माँ के समान मानते हैं और उसे संरक्षित करने की पूरी कोशिश करते हैं। आदिवासी कहानी में प्रकृति पूजा, प्रकृति संरक्षण की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है, जिससे प्रकृति और आदिवासियों के मधुर संबंध का पता चलता है। आदिवासियों की पारिस्थितिकी चेतना का चित्रण वासुदेव की कहानी 'शांबरी' में हुआ है। कहानी की कथा वस्तु शांबरी नामक आदिवासी स्त्री के प्रकृति से संबंधित विचारों एवं उससे जुड़े आदिवासियों की संस्कृति, पर्व, उत्सव से प्रभावित होकर वन अधिकारी के हृदय परिवर्तन की कथा है। कहानी में बबन पांडे टिंबर मर्चेंट है और बिसु लकड़ा जो अपने को आदिवासियों का नेता और सामाजिक कार्यकर्ता मानता है। किंतु बबन पांडे और नेताजी जंगल के पेड़ों से आर्थिक लाभ की लिप्सा में डूबे रहने वाले लोग हैं। वे दोनों नये रेंजर अफसर को विभिन्न तरह की वस्तुएं देकर अपने पक्ष में रखना चाहते थे ताकि जंगल में पेड़ों की कटाई में कोई परेशानी ना हो। रेंजर ऑफिसर को अपने पक्ष में बनाए रखने के लिए शांबरी को उसका धांगरिन बनाते हैं। शांबरी के माध्यम से पांडे जी और नेताजी धन कमाने का षड्यंत्र रचते हैं। उसी के माध्यम से उनके भ्रष्ट होने की जानकारी मिलती है। शांबरी, रेंजर को आदिवासियों के जीवन में तथा उन पेड़ों की विशेषता एवं महत्व को बताती है- "सरोवर के शांत स्निग्ध जल में चांद खेल रहा था। शीतल चंद्रिका धरती को नहला रही थी। चलते-चलते शांबरी बताती जा रही थी, साल के ये गगनचुंबी पेड़ देख रहे हैं न यह बादलों को प्रभावित करते हैं जिससे वर्षा होती है। इतना ही नहीं, ये पेड़ अपने अंदर पानी भी जमा करके रखते हैं। यदि आप चाहे तो इसकी छाल हटाकर पानी ले सकते हैं।.... इसकी छाल हटाने में एक तरह का गोद निकलता है जिसे सुखा देने पर वह धूपन का काम करता है। इसके फल में पाचन-शक्ति होती है।.... हमारा सरहुल पर्व मुख्य

रूप से प्रकृति का ही पर्व है।"[3] शांबरी की बात से प्रकृति से जुड़े आदिवासियों के अनुभव की झलक दिखाई देती है। आदिवासी समुदाय प्रकृति पर निर्भर रहता है। वह प्रकृति से उतना ही लेता है जितनी की आवश्यकता होती है। अनावश्यक पेड़ों की कटाई को उनके यहाँ अनैतिक माना जाता है। शांबरी के विचार और संस्कृति पर प्रकृति की छाप, जिसमें उसके सभी घटकों के अस्तित्व और मूल्यों की स्वीकृति है, को देखकर रेंजर साहब कहते हैं- "तुमने आज मेरी आंखें खोल दी। आज जिस पर्यावरण सुरक्षा के लिए सारा संसार हाहाकार कर रहा है, हमारे भारत में हजारों साल पूर्व उतना अनूठा प्रयास हो चुका है। सचमुच आज तुमने मेरी आंखें खोल दी।"[4] प्रकृति के बिना आदिवासियों के किसी भी उत्सव की कल्पना नहीं की जा सकती। उनके हर सुख-दुख में प्रकृति शामिल रहती है जो उनकी पारिस्थितिकीय चेतना को दर्शाता है।

आदिवासी प्रकृति को अपना सृजनहार मानते हैं इसलिए वे प्रकृतिक उपलब्धियों जैसे पौधे, वृक्ष, नदी-नाले, कंदमूल इत्यादि को ईश्वर की तरह पूजते हैं। उनका मानना है कि प्रकृति ही उनको जीवन देती है इसीलिए वे उन्हीं की पूजा करते हैं। 'जहेरथान' कहानी में आदिवासियों की प्रकृति पूजा का चित्रण किया गया है। कहानी जिलिंग होड़ा गाँव की कहानी है जो सिंहभूम के डीलिया जल-प्रपात के पास घने जंगलों के बीच बसा है। गांव में कुछ बाहरी लोग शूटिंग के लिए आते हैं। उसी गांव का एक आदिवासी युवक जो कुछ दिन मुंबई में रहा था वह डायरेक्टर को अपने पूजा स्थान 'जहेरथान' के बारे में बताता है- "जी सर, वो, हम आदिवासियों का पूजा स्थान होता है। वहाँ साल का बहुत पुराना एक पेड़ लगा होता है। हमारे यहाँ साल वृक्ष को सकुवा सरजोम के नाम से भी जाना जाता है। धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और सत्य का प्रतीक साल हमारा सबसे पवित्र वृक्ष है। बास्को पूरी तन्मयता से बताता जा रहा था; 'इसी साल वृक्ष के नीचे हम पूजा-पाठ करते हैं और उस स्थान को 'जहेरथान' कहते हैं। इसे हमारा

3.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, शांबरी, पृष्ठ संख्या-118

4.वहीं, पृष्ठ संख्या-118

मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या चर्च कुछ भी कह लीजिए। हम लोग अपना हर शुभ काम इसी की छाया में करते हैं।"[5]

आदिवासियों के यहाँ साल के वृक्ष का बहुत महत्व है। वे इसकी छाल को दवा के रूप में इस्तेमाल करते हैं तथा इसके फल को महुवा के साथ पकाकर खाते भी हैं। उनकी मान्यता है कि मृतक को जलाते समय उसमें साल की लकड़ी जरुर होनी चाहिए। इससे आदिवासी संस्कृति में साल के वृक्ष के महत्व का पता चलता है।

सरहुल पर्व आदिवासियों में बड़े हर्ष और उल्लास के साथ मनाया जाता है। इस प्रकृति पर्व के सम्बन्ध में आदिवासी तथा गैर-आदिवासी रचनाकार दोनों ने लिखा है। कालिदास, निराला, नागार्जुन आदि कवियों ने इस पर्व का अपनी रचना में वर्णन किया है। नागार्जुन की कविता 'आगवानी' में सरहुल पर्व का ही वर्णन है। सरहुल, दो शब्दों के योग से निर्मित हुआ है- 'सर' और 'हूल'। 'सर' का अर्थ सरई या सखुआ का फूल होता है और 'हूल' का अर्थ क्रांति है। इस प्रकार सखुआ पुष्पों की क्रांति को सरहुल कहा जाता है। यह पर्व चैत माह के शुक्ल पक्ष के तीसरे दिन मनाया जाता है। सरहुल की मुख्य पूजा करने वाले को पहान कहा जाता है। तीन दिन तक चलने वाले इस अनुष्ठान में मारंग बोंगा की पूजा होती है जो कि आदिवासियों के देवता हैं। पर्व के पहले दिन लोग पानी रखते हैं अर्थात उपवास करते हैं, दूसरे दिन पूजा होती है और अंतिम दिन फूलखोंसी होती है।

आदिवासियों में जब सरहुल पर्व का समय होता है उसी समय मुख्यधारा के समाज में वसंत का समय होता है लेकिन दोनों समाजों में इस उत्सव को मनाने के तरीके अलग-अलग हैं। गैर-आदिवासी समाज जहाँ आम के पत्तों, टहनियों और लकड़ियों का उपयोग करता है वहीं आदिवासी समाज साल के पेड़ का। सनातन संस्कृति में वसंत की तुलना कामदेव से की गयी है। भारतीय समाज में जो गैर-आदिवासी हैं उनके यहाँ वसंत ऋतु को कामोत्सव के रूप में भी मनाये जाने की परम्परा है। इसीलिए इसे ऋतुराज भी कहा गया है। कालिदास अपनी रचना में

5.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, जहेरथान, पृष्ठ संख्या-156

वसंत को "सर्वप्रिये चारुतर वसंते" और गीता में "ॠतुनां कुसुमाकरा:" कहा गया है। वसंत की यह मांसल श्रृंगारिकता आदिवासियों के सरहुल में नहीं है। उनके यहाँ सरहुल प्रकृति की रक्षा के लिए संकल्प लेने का पर्व है। 'नया नगर की सुंदरी' कहानी में इस पर्व का सुंदर चित्रण हुआ है। बिना किसी आडंबर के आदिवासियों द्वारा प्रकृति की पूजा होती है। कहानीकार लिखता है- "जिस स्थल पर पूजा का आयोजन किया गया था, वह किसी रूप में देवालय जैसा नहीं लगता था। वहाँ आठ-दस बड़े और मोटे तक सखुआ के पेड़ थे जो आम की मंजरियो जैसे छोटे-छोटे हल्के पीतवर्णी फूलों से लदे हुए थे, जिससे वातावरण में हल्की सुगंधित मादकता छाई हुई थी। पेड़ों पर आए नए पत्ते यौनावस्था की ओर बढ़ रहे थे तथा फूलों पर छोटे-छोटे फल लगने शुरू हो गए थे। उन पेड़ों के बीच एक कदाचित अधिक पुराना पेड़ था। उसके चारों ओर की जमीन को साफ-सुथरा करके गोबर से लीप दिया गया था। उस पेड़ की एक तरफ एक पूर्वाभिमुख पत्थर गड़ा हुआ था। उसके सामने दो घड़े रखे थे। उसी जगह एक आदमी नई धोती पहने पूजा कर रहा था। उसके केवल होठ हिल रहे थे। किसी को ज्ञात नहीं था कि मारंग बोंगा से क्या बोल रहा था या मांग रहा था। चारों ओर उमड़ी भीड़ बड़े उत्साह और उत्सुकता से पूजा होते हुए देख रही थी।"[6]

आदिवासियों की संस्कृति, जीवन शैली प्रकृति के कितने नजदीक होती है, यह परिवेश उसी का विवरण देता है।

इसी कहानी में महेश्वर सिंह झिरगा से पूछते हैं कि पाहन लोग कैसे बताते हैं कि इस साल बारिश होगी कि सूखा पड़ेगा? इस पर झिरगा पेड़ के नीचे रखे दो घड़ो की तरफ संकेत करते हुए बताता है- "ऊ दूनो गगरी है न ऊ दूनो में एक दिन पाहिले सांझ को तीन-चार जन के साथ पानी भरकर पेड़ के पास रख देता है। फिर बिहान को पाहन के साथ कुछ खास-खास आदमी लोग देखता है। अगर गगरी का पानी नीचे चला जाता है तो इसका मतलब ई साल बरखा कम होगी, आउर अगर पानी का असतर ऊपर चला जाता है चाहे भरकर बाहर छलक जाता है तो इसका माने ही बहर भरपूर बरखा होगी।"[7]

6.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, नया नगर की सुंदरी, पृष्ठ संख्या-136

7.वहीं, पृष्ठ संख्या- 136

आदिवासी जिस स्थान पर सरहुल पूजा करते हैं उस स्थान को 'सरना' कहा जाता है। आदिवासी समाज में मान्यता है कि उनका देवता मोरंग बोंगा इसी साल के वृक्ष में रहता है और इसकी पूजा करने से वह पुरे गाँव को मुसीबत से बचाता है, मवेशियों की रक्षा करता है और बारिश भी कराता है। पूजा समाप्त हो जाने के बाद पुजारी पुरुषों के दाएं कान में फूल खोंसता है और स्त्रियों के आँचल में फूल देता है। इसके बाद प्रसाद लोगों में बांटा जाता है। फिर युवक-युवतियां एक दूसरे का हाथ पकड़ कर सामूहिक नृत्य-गान करते हैं। सरहुल पर्व में महिलाएं सफेद में लाल पट्टी की साड़ी पहनती है। सफेद शालीनता का और लाल रंग संघर्ष का प्रतीक है। उनका यह भी मानना है कि सफेद और लाल रंग क्रमशः उनके सर्वोच्च देवता सिंगबोंगा और बुरुबोंगा का प्रतीक है।

प्रकृति के अभाव में धरती पर किसी प्राणी का जीवन संभव नहीं है। मानव द्वारा प्रकृति के मनमाने दोहन से पृथ्वी पर रह रहे प्राणियों के लिए खतरा पैदा हो गया है। भोगवादी आधुनिक समाज को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसके वहशीपन ने मानव के साथ कितने मूक जीव भी बेघर और विस्थापित हो रहे हैं, कुछ की जातियां ही विलुप्त हो गई। आज अव्यवस्थित तरीके से हो रहे निर्माण से प्राकृतिक आपदाएं बढ़ गई हैं जिसे प्रकृति का प्रतिशोध माना जा रहा है। इस सन्दर्भ में मुख्यधारा के समाज को आदिवासियों से सीखने की आवश्यकता है। आदिवासी प्रकृति का आभारी है। वह जानता है कि उसका अस्तित्व तभी तक है जब तक प्रकृति है। प्रकृति आदिवासी समाज की प्रथम पाठशाला होती है। आदिवासियों की संस्कृति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जंगल और उनका संबंध कितना आत्मीय है। यदि वे शिकार भी करते हैं तो अपने वजूद के लिए लेकिन यही शिकार कुछ लोगों के लिए खेल होता है। 'जंगल का दाह' कहानी में राजकुमार के लिए आखेट क्रीड़ा है, उसे तो राजमहल में रहना है जहां अनगिनत सुख है। आखेट को क्रीड़ा की नजर से देखने पर मामा सोन आश्चर्य से राजकुमार से पूछते हैं- "आखेट का तुम्हारी भाषा में क्रीडा कहते हैं? हमारी तो यह आजीविका है। हम तो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए आखेट करते हैं। वह भी हमें एक ही दिन नहीं करना है इसलिए इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि किसको मारना

और किसको नहीं मारना है। हमारे आखेट से पशुओं की संख्या कम नहीं होती।"[8] स्वयं प्रकाश ने अपनी इस प्रतीकात्मक कहानी के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस तरह आधुनिकता और शौक के नाम पर आदिवासी क्षेत्रों की संपदाओं का दोहन किया जा रहा है। जहाँ कभी हरे-भरे जंगल थे, नदी-झरने बहते थे आज वहां जहरीले धुएं निकल रहे हैं। आदिवासी यह सब देखकर हताशा महसूस कर रहे हैं। आदिवासी, भले ही पढ़े-लिखे न हों लेकिन पेड़ पौधों का जीवन में महत्व को भली भाँति जानते-समझते हैं। आदिवासियों का पारिस्थितिकीय दर्शन, पर्यावरण संतुलन को बनाए रखने में काफी मदद करता है।

आदिवासियों की हर गतिविधि में प्रकृति का प्रभाव है। आदिवासियों में प्रकृति-प्रेम कूट-कूट कर भरा है। आज आदिवासी समुदाय अपनी जीवन-शैली और मान्यताओं के बल पर भोगवादी संस्कृति को चुनौती दे रहा है। उनकी सादगी भरी जीवन शैली, पर्यावरण एवं जलवायु परिवर्तन की समस्याओं से जूझ रहे विश्व को सीख दे रही है।

आज भी आदिवासी समाज प्रकृति के निकट और अनुकूल है। अभाव की जिंदगी जीते हुए भी आदिवासी प्रकृति-संरक्षण के साथ अपनी संस्कृति का निर्माण एवं पालन कर रहे हैं। प्रकृति जिस प्रकार उनके जीवन से जुड़ी है उसी प्रकार कला भी उनके जीवन से जुड़ी हुई है। जंगल, पहाड़, नदी के पास रहने के कारण आदिवासियों में कला विकसित होती गयी। आदिवासी जैसे ही मुरली, ढोल, मांदर, नगाड़ा की आवाज सुनता है, उसके शरीर में एक रोमांच सा पैदा हो जाता है। वह सारा काम धाम छोड़कर वहां पहुंचना चाहता है। जैसे ही उसके कान में मांदर की धुन सुनाई पड़ती है, उनके पाँव अपने आप थिरकने लगते हैं। फूल की खुशबू जिस प्रकार उसकी आत्मा होती है उसी प्रकार लोक-नृत्य व लोक-संगीत भी आदिवासियों की आत्मा है। 'कोराईन डूबा' कहानी में आदिवासियों के लोक-नृत्य, लोक-संगीत का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसमें कर्मा पर्व मनाने के लिए करियो और फागू अपने नानी के घर जाते हैं। करियो के आने की बात उसके प्रेमी

8.अरावली उद्घोष, सितंबर 2011, जंगल का दाह, पृष्ठ संख्या- 51

सहजू को मालूम होती है तो वह मांदर पर थाप देने लगता है और ऐसा शमा बांधता है कि लोग अखरा की ओर अपने आप खींचे चले आते हैं। करियो भी अपने पति फागू से अखड़ा चलने को कहती है लेकिन फागू मना करता है। अंत में करियो के जिद के सामने फागू झुक जाता है और दोनों अखरा जाते हैं। उस समय अखरा के सामूहिक नृत्य-गान का चित्र 'कोराईन डूबा' कहानी में चित्रित हुआ है -"सब एक ही रंग में रंगे हैं इस वक्त एक से बढ़कर एक गीत, गीतों के राग व लय ताल बद्धनाच नाच रहा है। जो जहाँ जैसे नाच रहा है वैसे ही नाचता रहता है। पकड़ इतनी मजबूत हो जाती है कि मूठ बंधा जाता है। यही सुमल नाच है। देवता आदमी, आदमी देवता बन जाता है। इंसान के अंदर जब अच्छाई की चरम सीमा पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है तो उसके अंदर देवता का रूप आ जाता है।"[9]

आदिवासियों की कला के बारे में रूपचंद गौतम कहते हैं- "आदिवासियों की कला सर्वाधिक शुद्ध और आडंबर रहित होती है। एक कारण तो यह है कि यह धार्मिक भावनाओं और आध्यात्मिक अनुभूतियों से प्रेरित होती है। दूसरा इसलिए कि यह कला के रूप में पूर्ण रूप से अनात्मव्यंजक है। इस कला में इस प्रकार के कौशल की कोई गुंजाइश नहीं है, जिसे कोई भी अयोग्य व्यक्ति सीख ले और न ही इसमें ऐसी तकनीकी कलाबाजियों का स्थान है, जिन्हें प्रेरणाजनित कृति के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इसमें विविधता एवं मौलिकता होती है। सोहराय भित्तिचित्रों में मोर, बत्तख, बाघ, शेर, चीता, हिरण, बंदर, हाथी, गाय, बकरी, मुर्गा-मुर्गी, मछली, कछुआ, केकड़ा, मगरमच्छ, साँप आदि जीव-जंतु बनाए जाते हैं। कोहबर कला में प्राकृतिक परिवेश और स्त्री-पुरुष संबंधों के विशेष पक्षों का चित्रण होता है, वहीं सोहराय कला में जंगली जीव-जंतुओं, पक्षियों और पेड़-पौधों को उकेरा गया है। प्रेम भाव इस कला की विषय वस्तु है।"[10]

आदिवासियों के नृत्य संगीत में हृदय पक्ष मुख्य होता है। इसलिए आदिवासियों के लिए नृत्य संगीत की अनिवार्यता है। राकेश कुमार सिंह की कहानी 'अगिन देवी' में आदिवासी लड़कियां सरना देवता के लिए गीत गा रहीं हैं जो द्रष्टव्य है- "कमल-फूल जैसी खुलती-स्मृति औरतों का घेरा....! घेरे में मांदर

9.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, कोराईन डूबा, पृष्ठ संख्या-174

10.आजकल, दिसंबर 2020, कला में आदिवासी, पृष्ठ संख्या-36

की थाप पर नाच रही थी धानी भी मंत्रमुग्ध बागुन मुंडा सरना के गीत महुवे के टटके फूलों की महक की तरह फैल रहे थे जंगल में..

खाद्दी चांदी हियो रे नाद नौर

फागु चांदी हियो रे नाद नौर

भर चांदी चांद रे नाद नौर

मिरिम चांदों हो-सांड लेउनाऽऽऽ "[11]

कुछ इसी तरह का प्रसंग 'कोराईन डूबा' कहानी में आदिवासी महिलाओं द्वारा महुआ बीनने जाने के दौरान चित्रित हुआ है। कनहर की तलहटी को पार कर जब खैरा पहाड़ की ओर बढ़ते हैं, मोरों के पेहों-पेहों तथा बंदरों की हुप-हुप की ध्वनि कानों को स्पष्ट सुनाई देने लगाती है। सनसीहार और महुआ फूलों की खुशबू, वातावरण में मादकता उत्पन्न करने और मधुर रंग घोलने लगते हैं।

"इसन सुंदर धरती के....

के तो बनावले हई रे?

इसन सुंदर धरती के

ईह। छूबे-छूबे-छूबे....

धीरे रसे।"[12]

गीत गाते-गुनगुनाते सब अपने-अपने पांत में महुआ चुनते हैं। गड़हा डीपा लोरंगा सबको एक करते पूरे जंगल में फैल जाती है। और कुहकी पार अपने साथियों से संवाद स्थापित करती है। आदिवासियों के रहन-सहन में नृत्य, संगीत और प्रकृति किस प्रकार घुले-मिले हैं वह इन कहानियों के उक्त प्रसंगों में दिखाई देता है।

11.हंस, अप्रैल 2003, अगिन देवी, पृष्ठ संख्या-60

12.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, कोराईन डूबा, पृष्ठ संख्या-173

आदिवासी लोकगीतों में छंदों का मिलान नहीं होता परंतु उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति का सामर्थ्य होता है। उसी प्रकार आदिवासियों के नृत्य-संगीत के लिए किसी भारी-भरकम वाद्य यंत्र और साजबाज की अनिवार्यता नहीं होती। मुरली मांदर की आवाज पर उनके पांव सहज ही थिरक उठते हैं और मुख से संगीत अपने आप प्रस्फुटित होने लगता है। डॉ॰ अर्जुनदास केसरी लिखते हैं- "नृत्य-संगीत ही है जो अभाव में रहते हुए भी आदिवासियों को सदा आह्लादित-आनंदित और खुश रहने की प्रेरणा देता है। उनके पास दुख- अवसाद फटकता नहीं' वह आता भी है तो नाच-गाकर उसे विसार देते हैं। उनका कठिन-से-कठिन जीवन भी संगीत-वाद्य के आवरण और संगीत में सरल, सहज, सरस, समरस बन जाता है। नृत्य-संगीत उनका सुस्वादु आहार, विहार और जीवन का आधार है। वही तो है जो उनकी एक अलग दुनिया बना-बसा देता है, जिसे वे अपनी रूचि-रुझान के अनुसार बना लेते हैं, प्रजापति बन जाते हैं। उनका संगीत प्रकृति के कण-कण में रस घोल देता है। वहीं उनके पल-पल का साथी और साक्षी भी बन जाता है। वही उन्हें बुराइयों से हटाकर अच्छाइयों की ओर ले जाता है। वही उनका पुराणेतिहास हो जाता है। भवानी इनाक्षी के अनुसार लगभग पंद्रह हजार वर्षों से ही आदिवासी फसलों के कट जाने के उपरांत हर्षातिरेक में नाचने-गाने का उत्सव मनाते आ रहा है।"[13]

आदिवासियों का संपूर्ण जीवन नृत्य-संगीत से जुड़ा हुआ है, उनका प्रत्येक संस्कार प्रकृति से जुड़ा हुआ है। जन्म-मृत्यु, सुख-दुख हो, उनका जीवन आनंद-उल्लास से भरा है। उसका श्रेय नृत्य-संगीत को ही है।

4.2. आजीविका के लिए संघर्ष:-

यूनाइटेड नेशन्स फोरम ऑन फॉरेस्ट के 17वें अधिवेशन में भारत सरकार ने बताया कि देश में दस करोड़ से अधिक आदिवासी और अन्य समुदायों के मिलाकर लगभग तीस करोड़ लोग प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से आजीविका के लिए और आय के लिए जंगलों पर निर्भर हैं; और वह जंगल एवं उस पर निर्भर

13.साहित्यमाला योजना, आदिवासी विमर्श, 2015, भाषा लोक संगीत और नृत्यों का अजायबघर, हमारा आदिवासी जीवन, पृष्ठ संख्या- 69

आदिवासियों के अधिकारों की सुरक्षा को लेकर प्रतिबद्ध है। लेकिन धरातल पर सच्चाई कुछ और है। वन अधिकार अधिनियम 2006 के आने के बाद जंगलों पर निर्भर रहने वालों को अधिकार नहीं मिल रहे हैं बल्कि इसके विपरीत उन्हें जंगल से निकाला जा रहा है। यही कारण है कि आज देश के जितने राज्यों में आदिवासी रहते हैं, वे सब आंदोलन करने को मजबूर हैं।

आदिवासियों की आजीविका मुख्य रूप से तीन साधनों पर आश्रित होती है- जंगल, खेती और पशुपालन। यदि वर्षा अच्छे से हो जाए तो जहां जमीन समतल नहीं है वहां भी खेती हो जाती है। ऐसे में वे कम से कम दो बार की खेती कर लेते हैं। कुछ फसलें ऐसी होती हैं जिसे सभी लोग पैदा करते हैं लेकिन कुछ फसलें ऐसी हैं जिसे अपवाद छोड़कर आदिवासी लोग ही पैदा करते हैं जैसे- मेझरी, कुरथी, साठी, कोदो ,बराई इत्यादि। पशुपालन से आदिवासियों को दूध, खाद, मांस आदि प्राप्त हो जाते हैं। जंगल में पशुपालन में सुविधा होती है क्योंकि उन्हें चारागाह और मवेशियों के लिए जल आसानी से उपलब्ध हो जाता है। जो लोग मांसाहारी होते हैं वे शिकार या मछली द्वारा पेट पालते हैं। महुआ, गोंदा, बेर, लाह, खाना बनाने तथा घर बनाने के लिए लकड़ी आदि उन्हें प्रकृति रूप से प्राप्त होता आया है। आजादी के बाद बने वन कानून में सरकार इन आदिवासियों की भूमि को वन भूमि बताकर इन्हें बेदखल करती रही और इनकी आजीविका से छेड़छाड़ होती रही।

प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहते हुए आदिवासी कभी भी उस पर अधिपत्य नहीं जमाना चाहता। प्रकृति को कम से कम नुकसान कर वह अपना जीवन यापन करता है। आदिवासियों की आजीविका से जुड़े प्रसंग उनके जीवन से संबंधित रचनाओं में देखने को मिलते हैं- "शिकारी को जंगल के चप्पे-चप्पे से परिचित होना चाहिए। कहां दलदल है कहां सूखी जमीन, कहां गहरा पानी है, कहां जानवरों का पानी का स्थान, कहां मधुमक्खियों के छत्ते हैं, कहां चीटियों की बाम्बियाँ, कहां पेड़ों पर पक्षियों ने घोंसले बनाए हैं, कहां सियार व लोमड़ी ने मांद में बच्चे जने हैं। किस मौसम में कौन से पक्षी आते हैं और कब किसका कहाँ शिकार करना चाहिए। अपनी झोंक में शिकार के पीछे भागते हुए यदि तुमसे

किसी निर्दोष मासूम का घरौंदा दब गया या घोंसला टूट गया या छत्ता बिखर गया या बिल धसक गया तो मुसीबत में फँस जाओगे।"[14]

आदिवासियों की तुलना में गैर आदिवासी समाज कृषि के लिए उन्नत तकनीक का प्रयोग करता है जबकि आदिवासी परंपरागत तरीके को अपनाते हैं। विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आदिवासी जंगलों पर अधिक निर्भर होते हैं। आदिवासियों की कृषि सम्बंधित गतिविधियां जंगल के साथ निकटस्थ रूप से जुड़ी हैं। घर बनाने के लिए, कृषि सम्बंधित उपकरण बनाने के लिए, ईंधन की लकड़ी और दैनिक जरूरतों को पूरा करने का स्त्रोत प्रकृति ही है। वास्तव में आदिवासी अपनी दैनिक आवश्यकताओं का लगभग तीन चौथाई जंगलों से प्राप्त करता है। बांस, बीड़ी-सिगरेट को लपेटने के लिए उपयोग में लाए जाने वाले तेंदू के पत्ते, सूखे फल और सूखे मेवे जैसे वनोपज की बिक्री आय का महत्वपूर्ण जरिया है। आदिवासी जंगलों में विभिन्न पेड़ों यथा धौरा, साल, तेंदू, सागौन, आंवला, खेर आदि का प्रयोग आजीविका के लिए करते हैं। इसके अलावा बाँस के प्रयोग से टोकरी, टटिया, सूप, बेना आदि बनाते हैं। महुआ भी उनकी आजीविका के मुख्य स्त्रोतों में से एक है। रोज केरकेट्टा की कहानी ‘फ्राक’ में आदिवासियों की आजीविका के सहज दृश्य देखने को मिलते हैं- "जेठ का महीना अंतिम सांस ले रहा था। प्रतिदिन तेज धूप पड़ती और शाम को वर्षा के साथ आंधी भी आती। वर्षा थमने पर लोग गिरी हुई सूखी लकड़ियां बटोरते। आम, पाको (महुआ का फल) कुसुम, केंद के पके फल झड़ते उसे चुनते। बच्चों की टोली अपने लिए डोरी (महुआ के बीज) चुनती यह उनके खर्च निकालने का जरिया होता है।"[15]

आज मुख्यधारा और पूंजीपतियों का जंगलों में प्रवेश लगातार बढ़ता जा रहा है और वे आक्रामक रूप से आदिवासियों पर हावी होते जा रहे हैं और उन्हें आजीविका के लिए अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ रहा है। अपनी आजीविका के लिए आदिवासी प्राकृतिक संसाधनों के अलावा कृषि पर भी निर्भर हैं। प्रकृति के स्वाभाविक रूप को पहचान कर वे उस पर आधारित कृषि तरीकों को अंगीकार करते हैं। फसल तैयार होने पर आदिवासी ईश्वर को कृतज्ञता ज्ञापित

14.अरावली उद्घोष, सितंबर 2011, जंगल का दाह, पृष्ठ संख्या-11

15.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर-2013, फ्राक, पृष्ठ संख्या- 12

करते हैं। भालचंद्र जोशी की कहानी 'जंगल' में जब भानु और अपर्णा आदिवासियों का नृत्य देखने जाते हैं तो भानु उनको उत्सव के बारे में बताते हुए कहता है- "यह लोग देवता का आभार मान रहे हैं, पहली फसल आती है तो ये लोग अपने देवता की पूजा करते हैं। पूजा में अन्न चढ़ाए बगैर, समर्पित किए बगैर उस फसल का अन्न नहीं खाते हैं।"[16]

खेती के प्रति आदिवासियों का सहज लगाव है, कृषि से मधुर संबंध है। वे अपने खेतों को परती नहीं छोड़ते। उनके पास धन का अभाव हो फिर भी यदि उनके पास खेत है तो खेती जरूर करते हैं और पूरे तन-मन से। ऐसा ही प्रसंग लवलीन की कहानी 'बैल बनी औरत' में आया है, जिसमें मुरमू अपने पति कुरम से हल गोड़ने के लिए कहती है और कुरम अगले दिन सुबह गोड़ने का वचन देता है, लेकिन सुबह वह शराब के नशे में धुत गांव में कहीं पड़ा रहता है। मुरमू उसका इंतजार करती रहती है लेकिन दोपहर तक कुरम नहीं आता है तो वह समझ जाती है कि वह कहीं शराब पीकर पड़ा होगा और खुद बैलों को लेकर निकल जाती है खेत जोतने। "और.... मुरमू ने बैलन जोड़ी को लकड़ी का जूड़ा फाल लगाया और अपनी मार की ओर चल दी आज उस पर जिद चढ गई थी। जिद ने साहस को जन्म दिया था। साहस ने करम की ओर उद्धत किया था। बैलन को पुचकार- टिटकार कर जब उसने हल का फाल मार की मिट्टी में गाढ़ा तो उसे ऐसे लगे, जैसे सारी दुनिया उसके बस में है।"[17]

यदि किसी आदिवासी परिवार में चार सदस्य हैं तो सभी घर के काम चाहे अंदर का हो या बाहर का हाँथ बंटाते हैं। आदिवासियों के पास खेती के लिए बहुत अधिक जमीन नहीं होती है। वह कठिन परिश्रम करके जमीन को खेती के योग्य बनाता है। आदिवासी अपने खेत को औलाद की तरह मानता है। उसका मानना है कि औलाद धोखा दे सकता है लेकिन खेत नहीं। आज आदिवासी जागरूक हो रहें हैं; वे परम्परागत मोटे अनाज की खेती जगह ऐसी फसल लगा रहे हैं जिससे उनको कम समय में लाभ मिलना शुरू हो जाए। अपनी मेहनत के दम पर वे इसमें

16.कथादेश, मई-2003, जंगल, पृष्ठ संख्या-19

17.अरावली उद्घोष, दिसंबर-2009, बैल बनी औरत, पृष्ठ संख्या-34

सफल भी हो रहे हैं। समाज में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो आदिवासियों की खुशहाली से ईर्ष्या करते हैं। उनसे आदिवासियों की ख़ुशी देखी नहीं जाती। आदिवासी खून-पसीना एक करके कठिन श्रम करने पर भी शोषण और अभाव की जिंदगी जीने को मजबूर हैं। इन हकीकतों का मार्मिक चित्रण कहानियों में हुआ है जो सच्चाई के समीप है। आदिवासियों को बर्बाद करने के लिए बराबर साजिशें हो रही हैं। पूरन सिंह की कहानी 'साजिश' में इसका चित्रण हुआ है- "पंडित सत्यवृत्त सिर से पाँव तक नंगे थे सिर्फ एक बित्ता के कपड़े से अपने लिंग को ढका हुआ था उन्होंने। सारे शरीर पर राख लपेटी हुई थी। उनके चारों ओर बहुत सारे साधु संत थे। पंडित जी चिमटा बजा रहे थे और शेष साधु -महात्मा घंटा बजा रहे थे तो कोई चेला खड़ताल चटका रहा था।..... जय सिया राम बोलो.... जय सिया राम.... तो कभी जय भोले.... तो कभी राम-राम बोलो प्रभु.... राम राम बोलो। बीच-बीच में जय श्री राम के नारों से आकाश गूंज रहा था। वह सारा भजन कीर्तन रामपाल के पाँच बीघा खेत में ही हो रहा था।"[18]

रामपाल ने जिस खेत को संवारा था और औलाद की तरह माना था उसी को उसके सामने बुरी तरह कुचला जा रहा था। उसके खेत में जमीन से शिवलिंग निकल आया था जो सत्यवृत पंडित की साजिश थी रामपाल को बर्बाद करने की। प्रकृति पर पूरी तरह आश्रित आदिवासियों की आजीविका पर प्राकृतिक आपदाओं का प्रभाव पड़ना लाजिमी है। फिर भी मुख्यधारा एवं तथाकथित सभ्य समाज द्वारा शोषण जारी है जिससे आदिवासियों को कई मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। शोषण का चित्रण राकेश कुमार सिंह की कहानी 'अगिन देवी' में हुआ है, जिसमें बागुन मुंडा की जमीन बद्री मिसिर द्वारा हड़प ली जाती है। वह उस पर ट्रैक्टर चलाता है, तभी बागुन मुंडा वहाँ पहुँचता है और बद्री मिसिर से कहता है- "हमार जमीन पर तोहार गाड़ी काहे चढ़ा है बाबा? बागुन ने पूछा था। 'काहे का क्या माने?' बागुन के विषहीन क्रोध पर व्यंग्य से मुस्काया था बद्री मिसिर, 'तू तो मर गया रे हमारी जमीन हमारे पास लौट आई और क्या....?' हँसने पर

18.अरावली उद्घोष, दिसंबर 2010, साजिश, पृष्ठ संख्या-36

बद्री मिसिर की लुथुर-लुथुर छातियाँ दलदलाने लगती है। 'हम मरे नहीं हैं बाबा' बागुन बोला, देखो, जिंदा तो हैं।"[19]

बद्री मिसिर फर्जी कागज बनवा कर बागुन मुंडा को मरा बताकर उसकी जमीन पर कब्जा कर लिया। अधिकांश आदिवासी पढ़े-लिखे नहीं होते हैं और इसी का फायदा उठाकर आज भी मुख्यधारा के द्वारा आदिवासियों का शोषण किया जा रहा है।

आदिवासी कठिन शारीरिक श्रम व विभिन्न उपाय कर बंजर भूमि को खेती योग्य बनाते हैं। वैध दस्तावेज होने के बावजूद दिकुओं की लालच व स्वार्थ के चलते आदिवासियों की जमीन पर कब्जा करने की साजिश हो रही है। जंगल कट रहा है तो दूसरी ओर बेरोजगारी, भूख, गरीबी, बंधुआ मजदूरी के जंगल बढ़ गये हैं। जंगल में फॉरेस्ट गार्ड यह कहकर नहीं जाने देते हैं कि परमिट नहीं है। आदिवासी वनांचल में लगे कारखानों में काम करने लगे या किसी के यहाँ बंधुआ मजदूरी करने को मजबूर हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व देश के कुछ क्षेत्रों में अंग्रेजों का राज था तो कुछ क्षेत्रों में देसी रियासतों का राज था। आदिवासियों को सब जगह बहुत अत्याचार सहना पड़ता था। उनको उम्मीद थी कि आजादी मिलने के बाद न्याय होगा, एवं गरिमापूर्ण आजीविका का अधिकार मिलेगा। लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत है। बाहरी लोगों की निगाह उनके जल, जंगल और जमीन पर है। 'अगिन देवी' कहानी में ऐसे प्रसंग भी आए हैं जिसमें जादिक मुंडा को सरकार की ओर से एक भूखंड मिला था और सरकार को वह जमीन भू-दान के रूप में बद्री मिसिर से मिली होती है। जादिक मुंडा को जब वह जमीन मिली उस समय वह बंजर और अनउपजाऊ होती है लेकिन उसने खून पसीना एक करके खेती योग्य बनाता है। अब उस भूमि पर बद्री मिसिर की लोलुप दृष्टि पड़ी है। वह जादिक मुंडा से जमीने देने को कहता है और उसके बदले जंगल के किनारे उससे दुगना जमीन देने को कहता है। वह साफ मना कर देता है और सोचता है- "उस जमीन में जादिक मुंडा की जवानी गली थी। बागुन का बचपन माटी मटाल हुआ था। सड़े पत्तों की खाद, बकरी, सूअरों की लेडी और डोल-बहंगी से ढो-ढोकर

19.हंस, अप्रैल 2003, अगिन देवी, पृष्ठ संख्या- 59

पानी.... जमीन को जौ मडुवे लायक बनाने में बाप बेटे के कंधे पर घट्ठे पड़ गए थे और अब फिर एक बंजर....? फिर वही हाड़तोड़ाई...? फिर चार के बदले आठ कट्ठे का नया पैंतरा..... ना"[20]

आदिवासियों के ऊपर अत्याचार करने में उनका समाज भी पीछे नहीं है। ये अत्याचार सबसे अधिक आदिवासी स्त्रियों के उपर होता है। उसमे भी यदि किसी स्त्री का सगा-संबंधी नहीं है तो उसका जीना दूभर हो जाता है। आदिवासी समाज में यह प्रवृत्ति बाहरी समाज के हस्तक्षेप से आई है। आज आदिवासियों में भी निजी संपत्ति की धारणा घर करने लगी है। आदिवासियों में लालच की प्रवृत्ति इस कदर बढ़ी है कि किसी की संपत्ति हथियाने के लिए वे दिकुओं की राह पर चल पड़ते हैं और मरने-मारने के लिए उद्धत हो जाते हैं। कृष्ण चंद्र टुडू की कहानी 'एक बित्ता जमीन' में इसका वर्णन हुआ है। कहानी में सरला नाम की एक स्त्री है जो संताल समाज से आती है। सरला के माता-पिता की मृत्यु बहुत पहले हो चुकी है और वह गांव में अकेली रह रही है, जो गोतिया गणों को अच्छी नहीं लगती है। उनकी निगाह सरला की जमीन पर लगी हुई थी। गोतिया गण सरला को मारकर तालाब में फेंक देते हैं लेकिन संयोगवश वह बच जाती है। उसे अस्पताल में भर्ती कराया जाता है। वहाँ उसके परिचय के डॉक्टर सीमाल बाबू उसे देखते ही पहचान लेते हैं और सरला की इस हाल के बारे में पूछते हैं, जिस पर सरला कहती है- "डॉक्टर बाबू आपने मेरी जान क्यों बचाई? मर जाने दिया होता मुझे। मैं तो गोतिया-गणों की दुश्मन हूँ न, उनकी आँखों की किरकिरी हूँ न, मेरे मरने से उनको खुशी होती। उनको मेरे हिस्से की जमीन मिल जाएगी 'एक बित्ता जमीन' की खातिर ही तो उन्होंने मेरी यह दुर्दशा की है।"[21]

आदिवासी स्त्री को अपने अस्तित्व और परिवार के लिए तरह-तरह के संघर्ष करने पड़ते हैं। आदिवासी स्त्री को परिवार के भरण-पोषण के लिए बहुत कुछ झेलना पड़ता है। वह तड़के सुबह जंगल जाकर बिक्री लायक चीजें इकठ्ठा कर लाती है और उसे पास के बाजार में बेचती है। बाजार में भी दलाल बिचौलिए

20.वहीं, पृष्ठ संख्या-58

21.अरावली उद्घोष, मार्च-2010, एक बित्ता जमीन, पृष्ठ संख्या-38

आदि रास्ते में उससे समान सस्ते में खरीद लेते हैं। यदि किसी तरह बाजार में पहुँच जाती है तो वहाँ बैठे बनिए समान तौलते समय घटतौली करते हैं। सामान बेचने से जो कुछ मिलता है उससे घर का खर्चा बस किसी तरह चल पाता है। पुरुषों की जुआ और शराब की लत आदिवासी स्त्री की परेशानी और बढ़ा देती है। वह उम्मीद करती है कि सब सही होगा लेकिन सब विपरीत ही होता है। आदिवासी स्त्री का परिवार के प्रति चिंतित होना और कुछ करना उसकी आत्मनिर्भरता और जिम्मेदारी की ओर संकेत करता है। लेकिन समाज में ऐसे लोग हैं जो आदिवासियों का केवल शोषण करते हैं और उनसे गलत काम करवाते हैं, जानते हुए कि यह गैर-कानूनी है। पुलिस जब उनको पकड़ती है तो मुख्य व्यक्ति पकड़ा नहीं जाता; पकड़ा जाता है तो केवल भोला-भाला आदिवासी।

आदिवासियों की आजीविका का संघर्ष 'नया नगर की सुंदरी' कहानी में रेखांकित है। महेश्वर सिंह जब सड़क निर्माण के लिए आदिवासी गांव में जाते हैं तो उनको दूरी की समस्या का सामना करना पड़ता है। क्योंकि जहाँ सड़क निर्माण का कार्य होना था वहाँ से शहर की दूरी एक सौ दस किलोमीटर थी। दूरी की वजह से महेश्वर सिंह गाँव में रुकना चाहते हैं और गाँव के व्यक्ति झिरगा मांझी से घर में रहने के इंतजाम के बारे में बात करते हैं। झिरगा मांझी कहता है- "आप लोग का रहने लायक तो गांव में किसी का घर नहीं। सबके मिट्टी के छोटे-छोटे घर हैं और सब के यहाँ मुर्गी-चेंगना, गाय-गरु, भेड़-बकरी सब है। किसी का घर खाली नहीं मिलेगा। आउर अगर कहीं मिलीयो जाता है तो आप लोग एहां रह नहीं सकेंगे। शहर जइसा सुबिस्ता एहां नहीं है। एहां दिसा-मैदान के लिए बाहर जाना होता है, नाल-डोभा का पानी पीना पड़ता है, झूरी-काठी से खाना बनाना पड़ता है। ई सब आप लोग से नहीं होगा। आउर भी कय किसिम का परेशानी है।"[22]

महेश्वर सिंह के माध्यम से कहानीकार ने आदिवासियों की जीवन-शैली का यथार्थ चित्रण किया है। मूलभूत सुविधाओं से वंचित आदिवासी बुरे हाल में

22.कथाक्रम, अक्टूबर- दिसंबर 2011, नया नगर की सुंदरी, पृष्ठ संख्या 132

जीने को अभिशप्त हैं। झिरगा मांझी महेश्वर सिंह से सड़क निर्माण को लेकर आदिवासियों की सोच को बताता है। झिरगा और महेश्वर का यह संवाद आर्थिक विपन्नता की और संकेत करता है। जब महेश्वर सिंह झिरगा से बोलते हैं कि नया नगर की उस पागल स्त्री की क्यों नहीं मदद करते जो कि उन लोगों के गांव की ही है। इस पर झिरगा कहता है- "का बताएं सर। ऊ नया नगर छोड़ने नहीं चाहती। कहती है, जब तक सजल चौधरी नहीं मरेगा, तब तक कहीं नहीं जाएगी। दूसरा बात है कि बिना काम-धाम के कौन कितना दिन पोसेगा? एहां तो अपना आउर छौए-पूता का पेट पालना मसकील होता है। कुछ रुक कर बोला, 'जानते हैं, एहां जो सड़क बन रहा है उसके बारे में लोग का बोलता है? कहता है कि कचिया सड़क बनता तो अच्छा रहता।'.....'काहे कि कचिया सड़क बनता तो बरसात में बह जाता। तब फिर बनता आउर आदमी लोग को फिर से काम मिलता।' तो क्या गाँव वाले कुछ नहीं करते? अपनी जीविका कैसे चलाते हैं?' 'का करेगा सर; खेती-बारी करता है या अइसे ही खाली पड़ा रहता है। ऊ झरझरी गढ़ा है न, बरसात में भर जाता है तो बाजार जाने का रास्ता भी बंद हो जाता है। ऊ समय तेल-नोन खरीदना भी मसकील हो जाता है। यहाँ सरकारी राशन नहीं मिलता है? नहीं सर। एतना दूर कौन सरकारी राशन देने आएगा?"[23]

जब तक आदिवासियों को बुनियादी सुविधाएं नहीं प्रदान की जाएंगी, सड़क, रेलवे जैसी आदि विकास परियोजनाओं से उनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होने वाला है। आदिवासियों का जीवन और संस्कृति प्रकृति पर आधारित होती है। यह आदिवासी कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है। वे प्रकृति को ईश्वर मानते हैं और उसके साथ आत्मीय संबंध रखते हैं। उनका जीवन प्रकृति के अनुकूल होता है। वे जंगल में रहते हैं लेकिन वृक्षों और जीवों को अनावश्यक नहीं मारते हैं। इससे उनकी पारिस्थितिक दर्शन दिखाई देते हैं जिससे मुख्यधारा के लोगों को सीख लेने की जरूरत है।

23.वहीं, पृष्ठ संख्या-139

4.3 प्राकृतिक संसाधनों की लूट के शिकार:-

आदिवासी लोग अपनी देसी जीवन-शैली और मान्यताओं के दम पर आधुनिक भोगवादी जीवन शैली को चुनौती देते हैं। उनका सादगी भरा जीवन जलवायु तथा पर्यावरण जैसे वैश्विक मुद्दों पर दुनिया को सीख दे रहा है। कल कारखाने लगाकर और विद्युत उत्पादन, सिंचाई हेतु बांध बनाकर आदिवासियों को विस्थापित किया जाता है और उन्हें मूलभूत सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है। विभिन्न परियोजनाओं तथा निजी लाभ हेतु वनों की कटाई की जाती है तथा इन्हें अन्य जगहों पर धकेल दिया जाता है। मनुष्य द्वारा निजी लाभ के लिए प्रकृति का अनुचित दोहन हो रहा है जिससे उनके मान्यताओं और रीति-रिवाजों में बाधा पड़ रही है और उनका जीना दुश्वार हो गया है।

प्राकृतिक संसाधनों पर भोगवादी दृष्टि आदिवासी कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है। 'शांबरी' कहानी में बिसु और पाण्डेय जी निजी स्वार्थ के लिए वन के वृक्षों को काटते हैं। इसके लिए वे रेंजर अधिकारी को समय-समय पर विभिन्न भौतिक सुविधाओं वाली वस्तुओं को पहुंचाते रहते हैं, ताकि रेंजर अफसर उनका सहयोग करता रहे। रेंजर अफसर बोलता है- "अरे सालवन का यह विशाल जंगल हमारा है। यदि सौ पचास पेड़ निकल ही जाएंगे तो क्या फर्क पड़ेगा? जैसे सागर में से सौ बूंद जल।"[24] प्रकृति के अनुचित दोहन के पीछे इसी तरह की मानसिकता काम करती है।

शांबरी कहानी में नेता जी और पाण्डेय जी रेंजर अफसर को अपने अनुकूल बनाने के लिए हर तरह की जुगत करते रहते हैं। वे रेंजर अफ़सर के लिए रेफ्रिजरेटर, फर्नीचर और धांगरिन के लिए शांबरी को रेंजर के यहाँ भेजते हैं। इन सबके लिए रेंजर साहब जब धन्यवाद कहते हैं तो पाण्डेय जी कहते हैं- "इसमें शुक्रिया अदा करने की कहाँ गुंजाइश है, सर.... जंगल आपका, आरा मशीन और फर्नीचर दुकान मेरी। मतलब की सारी चीजें अपनी। बस, जरूरी सामान बन जाए।"[25]

24.कथाक्रम, अक्टूबर- दिसंबर 2011, शांबरी, पृष्ठ संख्या- 114

25.वही, पृष्ठ संख्या-115

कहानी में देखा जाए तो पाण्डेय पूंजीपति का प्रतीक है और वन रेंजर सत्ता का। इसी सत्ता (वन रेंजर) के गठजोड़ से पाण्डेय अपना काम निकालता है। वह जंगल के पेड़ों को लालच भरी नजर से देखता है। वह हमेशा ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के चक्कर में लगा रहता है। इसी गठजोड़ से पाण्डेय अब राय साहब से अधिक ध्यान पेड़ों पर देने लगा था। उसका मानना था कि कल किसने देखा है, कि जब तक समय अनुकूल है, लाभ उठा लेने में ही समझदारी है। आज नहीं कल तो इस ऑफिसर के विरुद्ध आवाज उठेगी ही। यह विचार ठीक उसी प्रकार है कि सरकार बदल जाया करती है। जब तक सरकार का सर पर हाथ है तब तक जितना मुनाफा कमाना है कमा लो। कहानी में बिसु नेता अभी सचेत नहीं हुआ है कि उसके क्षेत्र के संपदाओं को लुटा जा रहा है। पाण्डेय को इस बात की आशंका है कि जिस दिन पता चलेगा कि बाहरी लोग उनकी संपदाओं का दोहन कर रहे हैं तो बिसु नेता सबसे पहले विद्रोह करेगा। फिर न तो रेंजर रहेगा न मैं। अर्थात सरकार और पूंजी का गठजोड़ खत्म होगा।

प्रकृति का दोहन और आदिवासियों का शोषण करने में खनन करने वाली कंपनियां पीछे नहीं हैं। यू के एस चौहान की कहानी कोयला खदानों में काम करने वाले आदिवासियों का बहुत ह्रदय-विदारक और मार्मिक चित्रण करती है। पहले कोयला निकालने वाली अधिकांशत: कंपनियां सीसीएल आदि सुरंग वाले खदानों से कोयला निकालती थीं। लेकिन समय के साथ बदलाव आया, अब सुरंग की खदानों की जगह खुली खदान बनने लगी है। फलतः कंपनियों ने सुरंग वाली खदानों को बंद कर दिया। डायनामाइट से चट्टाने तोड़ी जाती थीं और कोयला सीधे उठाकर ट्रकों में लोड हो जाता था। इसमें अधिक मजदूरों की आवश्यकता नहीं होती है। इसके चलते बहुत से आदिवासी परिवार बेसहारा हो गये। तमाम आदिवासियों के सामने परिवार के भरण पोषण की भयंकर समस्या पैदा हो गई। चूल्हा जलना कठिन हो गया था। पहले आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल किया जाता है। फिर कम दाम में उनसे मजदूरी कराई जाती है। जमीन से बेदखली के बाद उनके लिए पुनर्वास की उचित व्यवस्था नहीं की जाती है। फलस्वरूप आदिवासी दर-दर भटकने के लिए मजबूर हो जाते हैं। इस प्रकार भोगवादी संस्कृति का शिकार प्रकृति और आदिवासी दोनों होते हैं। प्राकृतिक

संसाधनों का अनुचित दोहन कर मुनाफा कमाने की लालच का पर्दाफाश 'पोन' कहानी में हुआ है। "निर्धारित सीमा तक खुदाई कर लेने के बाद खदानों के खोखले पेट में भरने हेतु रेत की खरीद होती थी। हर वर्ष बालू-भराई के करोड़ों रुपए ठेकेदार-अधिकारी डकार जाते थे और कागज पर बंद घोषित खदानें आदमखोर अजदहों की भाँति 'धरती पर मुंह खोले पड़ी हुई थी। टोरी, रजरप्पा, झुरकुंडा, धनबाद, झरिया.... हर जगह, अनेक अजदहे थे।"[26]

ठेकेदारों और अधिकारियों की लोलुप प्रवृत्ति धरती के हृदय बेरहमी से बेधने वाली है। धरती के इस बेधन में आदिवासी ही शिकार बनते हैं। बंद पड़ी सुरंगों से ठेकेदार अवैध रूप से कोयला निकलवाते हैं। कोयला माफिया खान धसने तक इन खानों से अवैध कोयला कटवाते हैं। बिना किसी साधन के सैकड़ो फीट गहरे सुरंग में उतरकर कोयला काटना आदिवासियों के लिए जीवन-मृत्यु का प्रश्न है। मौत के इस खेल में मोटा मुनाफा कोयला माफिया कमाते हैं और आदिवासियों को केवल उतना ही मिलता है जो किसी तरह पेट को संतुष्टि दे पाता है। प्रकृति का यह अनुचित दोहन आदिवासियों की जान की कीमत पर हो रहा है।

आदिवासी जिन क्षेत्रों में रहते हैं उन क्षेत्रों में देश का अधिकांश खनिज है। इन खनिज संपदाओं पर सरकार की नजर तो है ही साथ ही ऐसे लोगों की दृष्टि भी लगी है जो इससे आर्थिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। यही लालच प्रकृति का दोहन और आदिवासियों के शोषण का कारण बनती है। आदिवासियों का शोषण, विडंबना तथा विवशता 'पोन' कहानी में उभर कर आया है। जब पुलिस छतरमन को ढूंढ रही होती है और वह कोलियरी के मुख्य फाटक पर जमा भीड़ के सामने भाषण देता है- "खंचिया भर कोयला उठा लिया तो हम चोर और बेहक हमारी जमीनों पर डाका डाल कर खान खोद लिया सो गैरकानूनी नहीं? असली कोयला चोर है दामोदर झा और चोर के गिरह कट साथी हैं बालू का रुपया खाने वाले साहब लोग.... हम सच बोले तो सरकार हम पर पुलिस दौड़ाती है.... हमें पुलिस से मरवा कर बड़ी कंपनियों के लिए जंगल साफ करवाना चाहती है, गुरमेंट....।

26.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011 पोन, पृष्ठ संख्या-151

हमारी जमीन, कोयला, तांबा, अबरख, अल्युमिनियम, जस्ता सब लूटने के लिए हम जंगलियों को जंगल समेत साफ करवा देना चाहती है सरकार।"[27] आदिवासियों को अपने वजूद की रक्षा के लिए जल, जंगल को बचाना होगा। यू. के. एस. चौहान की 'कोयले पर पलते पेट' नामक कहानी में अवैध खनन और भयाक्रांत जिंदगी जीने को अभिशप्त आदिवासियों की कहानी है। सोचनीय बात यह है कि अवैध खनन से लाभ अधिकारी, ठेकेदार उठाते हैं लेकिन तबाह होते हैं आदिवासी और प्रकृति। कहानी में इस यथार्थ का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है " आसपास के इलाकों में ऐसी और कोई व्यवस्था नहीं थी जहां पेट पालने का जुगाड़ हो पाता। बरसात में धान की खेती होती थी तो पास-पड़ोस के गांव में काम धंधा भी मिल जाता था। वर्षा के पानी के सहारे बस एक ही फसल होती थी। साल के बाकी समय खेत यूं ही परती पड़े रहते। सुंदरदास के बाप ने जब जीने का कोई और आसरा न देखा तो उसने भी कई अन्य पड़ोसियों की तरह सीसीएल द्वारा बंद कर दी गई कोयला खदानों की ओर मुँह कर लिया। उसमें से कोयला निकालना अवैध था। सुरक्षा के उपाय भी नहीं थे। प्राय: सुरंगों की छतें बैठ जाती। बरसात में पानी भरने का अंदेशा रहता। साफ हवा भी नहीं मिलती। भारी आद्रता और गर्मी से अंदर बुरा हाल हो जाता था। सीसीएल वाले पकड़ लेते तो बहुत प्रताड़ित करते थे। कोयला भी जब्त हो जाता। पुलिसवाला पकड़ता तो उत्पीड़न की सीमा ही न थी। पैसा अलग से देना पड़ता। भले उधार लेकर देना पड़े।.... पूरा गड्ढा कभी न भरते। बीच में बांस की टटिया अटका देते। उसके ऊपर से मिट्टी भर देते। ऊपर से गड्ढा बंद दिखने लगता, पर चार-पांच मिट्टी हटाते ही सुरंग में घुसने का रास्ता तैयार हो जाता। जहाँ माफिया अवैध खदानें चलाते थे वहीं से ठेकेदारों ने यह तरीके सीखे थे।"[28]

इसी तरह नारकीय जिंदगी जीने को विवश आदिवासियों की जिंदगी का वर्णन 'अपनी कब्र खोदने वाले' में हुआ है। कहानी में पुलिस, प्रशासन के भ्रष्ट रूप का यथार्थ चित्रण हुआ है। आदिवासियों का पुलिस द्वारा उत्पीड़न इतनी क्रूरता से किया जाता है कि लोग अपने लड़के की मृत शरीर को लेने क्या पहचाने से भी

27.वहीं, पृष्ठ संख्या -150

28.हंस, जनवरी 2006, कोयले पर पलते पेट, पृष्ठ संख्या- 69

मना कर देते हैं। भारी विपन्नता में जीवन जी रहे आदिवासियों का विवरण मानवाधिकार कार्यकर्ता देता है- "भीषण, शोषण, बेरोजगारी, गरीबी, बदहाली, अशिक्षा, प्रदूषण के अलावा सबसे दुखद पहलू यह है कि इन खदानों में खनन करते समय, किसी तरह की दुर्घटना अथवा मौत हो जाने पर इन्हें मुंह बंद रखना पड़ता है। मृतक मजदूर की लाश को चुपचाप दफना दिया जाता है, इसकी भनक भी किसी को नहीं लगने दी जाती है वरना मृतक के परिवार और साथ में काम करने वालों को कानूनी सजा भुगतनी पड़ती है।"[29]

ऐसे अवैध कार्य को कराने वाले हमेशा बच जाते हैं और शिकार बनते हैं भोले-भाले आदिवासी। भोगवादी संस्कृति ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरीकों से आदिवासियों को प्रताड़ित किया है और उनका जीना दूभर कर दिया है जो इन कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है। प्राकृतिक संसाधनों पर आधिपत्य जमाने के पीछे पूंजीवादी मानसिकता काम करती है जिससे आदिवासी और प्रकृति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ते हैं। वैश्वीकरण के इस दौर में पूंजीवाद देश में भी काफी तेजी से पैर पसार रहा है। प्राकृतिक संसाधनों और आदिवासियों की कीमत पर बाजारवाद के विकास की परंपरा मजबूत होती जा रही है। बड़ी-बड़ी कंपनियों को जमीन उपलब्ध कराने के लिए 'भूमि अधिग्रहण' कानून बनाकर सरकार द्वारा आदिवासियों को विस्थापन की ओर धकेला जा रहा है और कंपनियों द्वारा प्रकृति का अव्यवस्थित दोहन का परिणाम है 'जादूगोड़ा'। झारखंड के जादूगोड़ा में बांझपन तथा गर्भपात या विकलांग बच्चों का जन्म होना सामान्य घटना है। स्थानीय आदिवासी समुदाय संथाल लोगों ने आरंभ में इस आपदा को जादूगोड़ा की संज्ञा दी जिसका मतलब 'भूतहा हवा' होता है। काफी बाद में शोध द्वरा पता चला कि यह भुतहा हवा और कुछ नहीं बल्कि यूरेनियम से उत्सर्जित रेडियोएक्टिव विकिरण का प्रभाव है। जब यह बात आदिवासियों को पता चली तो उन्होंने इसका विरोध किया लेकिन सरकार ने खनन न बंद कर उल्टे विरोध करने वाले आदिवासियों को जेल में डाल दिया। विकास के रूप में नवजात और भावी पीढ़ी को टीबी, कैंसर, सांस रोग, विकलांगता, मंदबुद्धि आदि विरासत में मिल रहा है। आदिवासियों की असहाय हालत, आर्थिक तंगी, राजनैतिक वंचना,

---

29.कथाक्रम, अक्टूबर- दिसंबर 2011, अपनी कब्र खोदने वाले, पृष्ठ संख्या -148

गरीबी, शिक्षा का अभाव आदि के कारण उन्हें मुख्यधारा के लोगों द्वारा प्रताड़ित होना पड़ता है। यहीं पर उनकी प्रताड़ना समाप्त नहीं होती। उपभोक्तावादी संस्कृति के शिकार आदिवासी और प्रकृति दोनों होती है। केंद्र सरकार की आर्थिक उदारीकरण की नीति ने 'बाजारवाद' का रास्ता प्रशस्त किया। मुक्त बाजार और व्यापार के नाम पर जंगलों की लूट मच गई। सत्ता और पूंजीपति अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने हेतु आदिवासियों के जीवन और पर्यावरण से खेल रहे हैं। इसके चलते पिछले दस वर्षों में लगभग लाखों आदिवासी अपनी जमीन से पलायन कर चुके हैं। इनमे से ज्यादातर देश के विभिन्न महानगरों में बंधुआ मजदूरी, घरेलू नौकर, या दिहाड़ी पर काम करते हैं। वास्तव में बाजारवाद-पूंजीवाद की संरक्षक सत्ता पारिस्थितिकी तंत्र को छिन्न-भिन्न कर रही हैं। साथ ही इसका विरोध करने वालों को भी निशाना बना रही है। इन प्रभावित लोगों पर वह जुल्म तो ढा ही रही है साथ ही छद्म रूप में विकास का एक विमर्श का बहस छेड़ रखा है। चूँकि आदिवासी लेखक इस राजनीति को समझने लगे हैं लिहाजा प्राकृतिक संसाधनों की लूट का पर्दाफाश और उसकी रक्षा के लिए आदिवासियों द्वारा किया जा रहा संघर्ष आदिवासी कहानियों में प्रमुखता से स्थान पा रहा है।

<u>4.4 विस्थापन का दर्दः-</u>

आदिवासी लंबे समय से जंगलों में रह रहे हैं। 'मैं' की भावना का अभाव होने के कारण आदिवासी समूचे जंगल को अपना घर मानते हैं। अंग्रेजों के आने के बाद यह स्थिति बदल गई और कानून बनाकर उन्हें जंगलों से खदेड़ा जाने लगा। साम्राज्यवाद और सामंतों द्वारा जंगल का मालिकाना और परंपरागत अधिकार छीना जाने लगा। आदिवासियों के अधिकारों का हनन और विस्थापन गुलाम भारत से शुरू हुआ और अनवरत चलता जा रहा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में विकास के लिए जिस नीति को अपनाया गया, उसने आदिवासियों के शोषण और विस्थापन को और बढ़ा दिया। विकास के इस मॉडल में न तो आदिवासियों का ख्याल रखा गया न ही प्रकृति का- "हिंद स्वराज का वैकल्पिक समावेशी आत्मनिर्भर समृद्धि के गांधी मॉडल को ताक पर रखकर हमारे देश में नेहरू के पश्चिमी ढंग का जो केंद्रीकृत औद्योगिक विकास का रास्ता अपनाया था, उसी को हम आज तक बंदरिया के मरे बच्चे जैसे चिपकाए हुए हैं।

नब्बे के बाद विदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों को अपने कंधे पर बैठाकर केंद्र और राज्य सरकारें ऊंची विकास दर के पीछे आंख बंद कर सरपट भाग रही हैं। विकास की इस तेज दौड़ में कहीं पीछे छूटते जा रहे आदिवासियों की ओर देखने भर की फुर्सत किसी को नहीं है।"[30]

आदिवासी जिन क्षेत्रों में रहते हैं, वह वन-संपदा, खनिज-संपदा से संपन्न है। यह संपन्नता ही उनकी त्रासदी का कारण बनती है। जैसे ही उनकी जमीन के नीचे खनिज मिलती है लोग उसे हथियाने के लिए दौड़ पड़ते हैं। और बर्बाद होता है आदिवासी। उसकी जमीन में मिले कोयला, अभ्रक आदि पर उसका अधिकार नहीं होता।

समय-समय पर बनी वन नीतियां आदिवासियों को विस्थापन के लिए विवश कर देती हैं। पुनर्वास के नाम पर सरकार द्वारा केवल खानापूर्ति की जाती है। अपनी जगह से उजड़ने पर आदिवासियों का सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन बुरी तरह प्रभावित होता है। अपनी जमीन से बेदखल होना यानी अपने मूल से दूर होना। आदिवासियों का विस्थापन उनकी कहानियों में भी अभिव्यक्त हुआ है।

'नया नगर की सुंदरी' नामक कहानी दिकुओं द्वारा आदिवासियों को जंगली इंसान बताने तथा उनकी जमीन को हड़पने के तथ्य को उजागर करती है- "हम लोग का आजा-दादा लोग बताता था की बहुत पहले ई पूरा देश हम लोग का था। बोन-पतरा, जंगल-झाड़, नदी-नाला, घास-पोरा, साग-पात, अंबा-जामुन, नीम-कठर, जघा-जमीन सब हम लोग का था। ई दिकु लोग यहां आते गया आउर हम लोग का जघा-जमीन, जंगल-झाड़ सब हथियाते गया। ऊ जो नया नगर है न सर, ऊ पूरा हम लोग का था। हम लोग का पुरखा लोग ओही रहता था। सब लोग का खपरा-माटी का घर था आउर सब तरफ खूब खेती-बारी होता था। अगर ऊ दीकू लोग हम लोग को धीरे-धीरे भगाता गया और हम लोग जंगल की तरफ आते गए। ऊ समय इधर पूरा घनघोर जंगल था। हम लोग जंगल साफ करके फिर से घर बनाए आउर खेत बनाकर खेती करने लगे।"[31]

30.साहित्यमाला योजना, आदिवासी विमर्श, 2015, विस्थापन का नासूर झेलते आदिवासी, पृष्ठ संख्या-100

31.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, नया नगर की सुंदरी, पृष्ठ संख्या 137

बाहरी लोग भोले-भाले आदिवासियों को आसानी से गुमराह कर देते हैं। वह अंदर- बाहर की बात नहीं जानता है। बाहरी लोग आदिवासियों को रुपया-पैसा, शराब आदि का प्रलोभन देकर उनकी जमीन के कागजात पर अंगूठा लगवाकर को धोखे से हड़प लेते हैं। जो आदिवासी ऐसा नहीं करते उन्हें डरा धमकाकर, मार पीटकर उनकी जमीनों को दिकुओं द्वारा हड़प लिया जाता है। ये भोले-भाले आदिवासी इनका विरोध भी नहीं कर पाते। फलतः उन्हें जंगल से विस्थापित होने के लिए विवश कर देता है। अपनी जमीन से बेदखल हुए आदिवासियों के लिए सरकार कानून तो बनाती हैं लेकिन वह कानून कागज पर ही रह जाता है धरातल पर नहीं पहुंच पाता। 'कोयले पर पलते पेट' कहानी में सुंदर दास की जमीन के नीचे कोयला मिलता है जिसकी वजह से उसे परिवार सहित विस्थापित होना पड़ता है। वह सीसीएल कंपनी के बगल में झोपड़ी लगाकर रहता है और कोयला काटकर अपने परिवार का पेट भरता है। टूटी-फूटी झोपड़ी में उसकी स्थिति नर्क जैसी रहती। इंदिरा आवास के लिए उसको क्या-क्या झेलना पड़ता है- "उसने इसी के आधार पर बड़ी कोशिश की थी कि प्रखंड कार्यालय में से उसे इंदिरा आवास योजना के तहत मकान बनाने के लिए सहायता मिल जाए। लेकिन बीडियो उसे डांट कर भगा देता था। कहता था जमीन का कागज दिखाओ। सीसीएल की जमीन है, यह बताने पर कहता की कंपनी से अनुमति लाओ।"[32] इस प्रकार न जाने कितने आदिवासी जमीनी-कागजात के अभाव में सरकारी योजनाओं के लाभ से वंचित रह जाते हैं।

विस्थापन आधारित 'समायोजन' कहानी बहुत चर्चित है। कहानी आदिवासियों के विस्थापन की समस्या को उजागर करती है। विकास के नाम पर आदिवासियों को कई बार विस्थापित होना पड़ा और नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त हैं। अपनी जमीन, अपने लोगों से बिछड़ कर परिवार के भरण-पोषण के लिए इधर-उधर भटकते हुए आदिवासियों की मार्मिक कहानी है समायोजन। कहानी विस्थापन की पीड़ा से शुरू होती है। बंगाल में अकाल के कारण आदिवासी अपनी जमीन को छोड़कर रोजी-रोटी के लिए भटकने पर विवश हो

32.हंस, जनवरी-2006, कोयले पर पलते पेट, पृष्ठ संख्या-70

जाते हैं। कहानी में मंगल के सवाल का जवाब देते हुए पिताजी कहते हैं- "पेट की आग से बड़ी कोई मजबूरी नहीं होती। लाखों आदिवासियों ने अपने गांव की माटी को सिर से लगाया और कुलदेवता को प्रणाम करके रेलगाड़ियों में बैठ गये। अधिकतर लोगों ने पूरब जाने वाली गाड़ियां पकड़ी। उन्होंने सुन रखा था कि पूरब देश में भी बहुत आदिवासी रहते हैं। ना कोई पता ना कोई ठिकाना। जत्थे के जत्थे छोटे-बड़े स्टेशन पर उतरते गये।"[33] यह आदिवासियों की विस्थापन की समस्या का विकट उदाहरण है, जिस धरती पर जन्म लिया उसी से रिश्ते-नाते तोड़ कर अन्यत्र जाने को मजबूर आदिवासियों की दास्तां कौन समझ सकता है?

आदिवासियों का विस्थापन मानव द्वारा विकास कार्यक्रमों के अलावा प्राकृतिक आपदाओं भी होता है। विस्थापन की यह प्रक्रिया ब्रिटिश काल में तेजी से हुई। प्राकृतिक आपदाओं से विस्थापित हुए आदिवासी दुबारा अपनी जमीन पर नहीं लौटे। उनकी जमीनों पर सरकार के पिट्ठू, जमींदार और साहूकार काबिज हो गये। इसलिए पलायन करके जो आदिवासी जहां पहुंचा वही बस गया। उनकी जमीनों पर विकास धड़धड़ाने लगा। जमीन के नीचे दबी पड़ी खनिज संपदा का दोहन करने में आसानी हो गई। अंग्रेज तो वहां से आदिवासियों को खदेड़ने की फिराक में पहले से ही थे। प्राकृतिक आपदाओं ने उनका काम आसान कर दिया। इस तरह न जाने कितने आदिवासियों का संसार विस्थापन की असह्य पीड़ा से भरा पड़ा है।

जंगल आदिवासियों की ताकत है और यह उनके पुरखों की विरासत है। यही आदिवासी जंगलों की देखभाल करते हैं और उनको अपनी गोद में रखते हैं। आज सरकार और पूंजीपति मिलकर आदिवासियों से उसका जंगल, रहवास छीन रहे हैं। जंगल नहीं रहेगा तो आदिवासी कहाँ जाएगा ? जंगल के बिना उनकी पहचान पर संकट आ जाता है। आदिवासियों के बारे में न तो सरकार को फ़िक्र है न मुख्यधारा के लोगों को। उनके यहाँ उनकी अपनी सरकार नहीं है; दिकुओं की है और वे आदिवासियों को हटाकर वहां के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना

33.अरावली उद्घोष, मार्च-2010, समायोजन, पृष्ठ संख्या- 28

चाहते हैं। आज जंगलों की अंधाधुन्ध कटाई, भू संपदा के अत्यधिक दोहन से प्राकृतिक आपदाएं कई गुणा बढ़ गई है। घटते जंगल के कारण वर्षा सही समय से नहीं हो रही है, जैव विविधता को नुकसान हुआ है, वातावरण में शुष्कता बढ़ी है, उपजाऊ भूमि बंजर में बदल रही है और मरू भूमि में बढ़ोत्तरी हो रही है। असहाय आदिवासी सबकुछ चुचाप देख रहा है। यदि वह विरोध करता है तो उसे जेल में डाल दिया जाता है या मार दिया जाता है। जिस जंगल को आदिवासी अपना संरक्षक मानता है और जमीन को पुत्र। उसके उपर ये सब होता देख आदिवासियों को न भूख लगती है न चैन आता है और न नींद। उनकी जमीनों को बाहरी लोग अपने नाम करा रहे हैं। आदिवासियों के हित का हवाला देकर सरकार झूठ-मूठ का कानून बनाती है। लेकिन यह कानून आदिवासियों के लिए है कहकर उन्हें केवल बरगलाती है। आज आदिवासी जागरूक हुआ है वह सरकार के छद्म कानूनों की और उसकी नियत को पहचानने लगा है।

स्वाधीनता के बाद विकास परियोजनाओं की वजह से लाखों आदिवासी विस्थापित हो रहे हैं। सरकार इन विस्थापित लोगों की वास्तविक संख्या बताने में आना-कानी करती रही है। सरकार की उदासीनता की यह स्थिति है कि लाखों लोगों का लगातार पलायन के होने पर भी पुनर्वास और भुगतान की समावेशी नीति तक बनाना ने सही नहीं समझा। 1993 में केंद्र सरकार ने विस्थापितों के पुनर्वास तथा पुनर्भुगतान का दायित्व राज्य सरकारों को दे दिया। जो भी हो पहले तो विकास से प्रभावित एवं पलायन करने वालों की वास्तविक संख्या सरकारें नहीं बताती। ऊपर से सरकार और कंपनियां मनमाने ढंग से विस्थापितों की संख्या निर्धारित करते हैं। सरकार जितनी संख्या बताती है, उनको भी आवास और भुगतान ठीक से नहीं होता है। “भाखड़ा नांगल परियोजना को 36 हजार विस्थापित परिवारों में से आधे परिवार भी फिर से नहीं बसाए जा सके है। आज जो विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियां झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और आंध्र प्रदेश आदि राज्यों के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में विद्युत परियोजनाओं, विभिन्न प्रकार के खनन कार्य और कल कारखानों की स्थापना के लिए भूमि अधिग्रहण कर चुकी हैं या कर रही हैं, उनकी कोई निष्ठा वहां के आदिम जातियों के प्रति नहीं है। यह पूंजीवादी कंपनियां विस्थापित लोगों के पुनर्वास की जिम्मेदारियों से येन केन प्रकारेण बचने का प्रयास करती हैं और सारी जिम्मेदारी

स्थानीय प्रशासन पर डालकर पल्ला झाड़ लेती हैं।"[34] इस प्रकार सरकार की उदासीनता और संवेदनहीनता से आदिवासियों की जिंदगी बर्बाद होती है।

यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि आदिवासियों की जमीन के 'खनिज संपदा' उनके लिए त्रासदी बन जाते हैं, जिसे प्राप्त करने के लिए पूंजीपति और अन्य लाभ कमाने वाले उन्हें जंगल से बेदखल कर देते हैं। खदानों की वजह से पैदा हुई पलायन की समस्या आदिवासियों की दयनीय स्थितियों को अभिव्यक्त करती है। 'अपनी कब्र खोदने वाले' कहानी में "राजमहल परेज आदि कोयला खदानों से विस्थापित हुए दलित आदिवासियों की स्थिति तो और भी बदतर है। वे आज भी पुनर्वास की उम्मीद में हैं। उनके जीवन के नीचे छिपा 'काला हीरा' उनके लिए अभिशाप बन गया। अब बचे हुए जंगल और खेत कोयले की धूल से अटते जा रहे हैं और औरतों को पानी के लिए 8-10 मील तक पैदल चलना पड़ता है।"[35]

मुख्यधारा की भोगवादी संस्कृति के शिकार बनते हैं आदिवासी। उपभोक्तावादी संस्कृति, प्रकृति और आदिवासी दोनों के प्रति निष्ठुर है। आदिवासी जब अपनी जमीन से विस्थापित होता है तो वह केवल अपनी भूमि से ही नहीं विस्थापित होता है बल्कि उसकी सामाजिक संस्कृति भी नष्ट होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त कोयला उद्योग के राष्ट्रीयकरण के बाद विस्थापित हुए आदिवासियों को जमीन और पुनर्वास तो मिला मगर ऐसी जगह जहां पानी, बिजली, तालाब, सड़कें, अस्पताल या स्कूल आदि मूलभूत सुविधाओं का अभाव था। विस्थापन की वजह से आदिवासियों ने अपने पूजा स्थल, कब्रगाह, अपना धर्म और अपनी भाषा ही नहीं बल्कि अपना इतिहास और अतीत तक खो दिया। अपने पूजा स्थलों के बिना वे त्यौहार नहीं मना सकते थे। कब्रगाह के अभाव में शवों को घर के पीछे दफना देने या जला देने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। विस्थापित होने वाले आदिवासियों को जमीन का उचित मुआवजा भी नहीं मिला।

34.साहित्यमाला योजना 2015 , आदिवासी विमर्श विस्थापन का नासूर झेलते आदिवासी, पृष्ठ संख्या - 102

35.कथाक्रम, अक्टूबर- दिसंबर 2011, अपनी कब्र खोदने वाले, पृष्ठ संख्या-147

आदिवासियों की जमीन पर कब्जा कर कोयले की खदानें खुलवाकर उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर जो प्रहार किया गया है उससे विस्थापित आदिवासियों के सामने पुनर्वास और रोजी-रोटी का संकट पैदा हो जाता है। कोयला निकालने वाली कंपनियों ने आदिवासियों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को दरकिनार कर खनन का काम आरंभ किया। समय-समय पर सरकार के नये-नये नियमों, अधिनियमों से इस शोषण को बढ़ावा मिला जिससे पलायन करने वालों और बेरोजगारों की संख्या वृद्धि होती गई। कोल बीयरिंग अधिनियम से आदिवासियों का जीवन कैसे प्रभावित हुआ वह ‘पोन’ कहानी में देखने को मिलता है- "वर्षों पूर्व लागू हुआ था ‘कोल बेयरिंग एक्ट 1957.... जंगल-गांव उजाड़ने वाला यह सायानशी हथियार खान मालिकों को सौंपा था स्वयं भारत सरकार ने। खनन हेतु अधिकृत भूमि को बलात खाली करवाने लगे थे खान मालिक। ....सिलीदाग, शिवादोहरे, पीवरा, ढांचाबार आदि गावों में घरघड़ाने लगे थे बुलडोजर पागल हाथियों की भांति झोपड़े-दीवारें दाहने लगे थे लोहे के दानव। रौंदने लगे थे खेत-फसल; गांव-खेतों को आनन-फानन खान में बदलने लगे थे खनीको-श्रमिकों के दल।”[36] पूंजीपतियों, ठेकेदारों ने आदिवासियों को इंसान तक नहीं समझा, इसलिए उनका दुख-दर्द किसी लिए कोई मायने नहीं रखता।

खदानें खुलने से मूल निवासियों पर जो प्रभाव पड़ा उसका चित्रण ‘अपनी कब्र खोदने वाले’ कहानी में हुआ है। कहानी में एक बंद हो चुकी कोयला खदान हादसे की जानकारी लेने आए मानवाधिकार कार्यकर्ता से वहां के माले पार्टी के सचिव उस घटना से संबंधित जानकारी देता है- "इन क्षेत्रों की जमीन पहले ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार में थी, जिसे बाद में भारतीय रेलवे ने लिया। पुन: इसे सीसीएल ने पट्टे पर लेकर कोयला निकासी के लिए ओपन कास्ट माइनिंग शुरू किया। सीसीएल की जमीन पर आज 35 गांव बसे हैं, जिनमें कोपा, गांधी नगर, प्रेम नगर, जोगतियाबाद, सात नंबर, अमला तांड, कमलजोड़ा, गुरकिया, पहाड़ीडीह, सेंटर पीठ, हिटलर 7, बनिया टांड, एक दूनी फला, सरिया डीह, बेहरवा टांड, खंडिया, बेल टांड, कोगड़ी आदि है। यह सभी वर्षों से उजड़ते बसते रहे हैं। सीसीएल द्वारा अधिग्रहण के पहले गिरिडीह इलाकों में मानसून पर

36.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, पोन, पृष्ठ संख्या- 150

आधारित एक और खुशहाल खेती हमेशा होती थी। परंतु खदानों के खुलने के बाद खेती पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। पारंपरिक अधिकार आर्थिक आधार नष्ट होने लगे और धार्मिक संसाधनों के लिए खदानों पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से निर्भर होते चले गए।"[37]

आदिवासी अंचलों में खदानों ने खेती पर आधारित उनके जीवन को प्रभावित किया है। आदिवासी, किसान से मजदूर बन गये लेकिन आर्थिक समस्या जस की तस बनी रही। खदानों में नौकरी स्थाई नहीं थी, न्यूनतम पारिश्रमिक देकर उनका शोषण जारी रहा। खदानों के बंद हो जाने से आर्थिक परेशानी ने उन्हें अवैध खनन की ओर उन्मुख किया, क्योंकि जीविका चलाने का कोई अन्य विकल्प न था। परिवार के भरण- पोषण की मजबूरी ने उन्हें कोयला चोर बना दिया।

किसान से मजदूर, फिर कोयला चोर बने आदिवासियों की स्थिति का चित्रण 'अपनी कब्र खोदने वाले' में हुआ-"पहले लोग खेती-किसानी करते थे पर सबसे पहले खदान खुला.... अब पूरापूरी या आंशिक रूप से सिर्फ उसी पर निर्भर हैं। सरकार और कंपनी ने यहां बसे 100 में से 90 लोगों के रोजगार के भविष्य की चिंता किए बिना खदानों को बंद कर दिया। आजीविका और विकास की कोई योजना नहीं बनाई गई। ऊपर से खनन को अवैध घोषित कर दिया गया।"[38]

आज आदिवासी कोयला चोरी करके जीवन जीने को मजबूर हो रहे हैं, आदिवासियों को आदिवासी से कोयला चोर बनाने में सरकार और कोयला निकालने वाली कंपनियों का दोष है। सबसे पहले इन्होने आदिवासियों को उनकी जमीन से हटा दिया और भूमि का ना उचित मुआवजा दिया न पुनर्वास। फिर कंपनी में जमीन के बदले में रोजगार के नाम पर खनन कंपनिया अनपढ़ आदिवासियों से दस्तावेज मांगकर अपना पल्ला झाड़ लेती हैं। सरकार भी इन विस्थापित आदिवासियों को न तो रोजगार उपलब्ध करा पाई, न ही आवास की सुविधा। इसलिए आदिवासी अवैध तरीके से कोयला निकाल कर रोजगार के

37.कथाक्रम अक्टूबर-दिसंबर, 2011, अपनी कब्र खोदने वाले, , पृष्ठ संख्या- 146

38.वही, पृष्ठ संख्या-147

लिए मजबूर हैं। आदिवासी इन बंद पड़ी कोयला खदानों से एक बार में दो सौ से तीन सौ किलो तक कोयला निकालते हैं, जिसे बेचने पर उन्हें हजार से डेढ़ हजार रुपया मिल जाता है। महीने में आठ से दस हजार के बीच कमा लेते हैं। इन कोयलों को साईकिल पर लादकर 80-90 किलोमीटर की दूरी तय करनी पड़ती है तब कहीं जाकर ये रूपये इनको प्राप्त होते हैं। इन आदिवासियों को मालूम है कि वे गैर-कानूनी काम कर रहे हैं लेकिन और कोई रास्ता भी नहीं है उनके पास। इसी तरह कोयला काटकर अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं। आज कंपनिया खुली खदानें बनाती हैं जहां एक्स्वेटर चलते हैं। बारूदों से चट्टानों को तोड़कर सीधे कोयला लोडर से उठाकर सीधे ट्रकों में लोड हो जाता है। इन मशीनों के चलते बहुत से परिवार बेसहारा हो गए और उनके सामने आजीविका की समस्या आ खड़ी हुई- "आसपास के इलाकों में ऐसा और कोई व्यवसाय नहीं था जहां पेट पालने का जुगाड़ होता था। बरसात में धान की खेती होती थी तो पास पड़ोस के गांवों में काम धंधा मिल जाता था। वर्षा के पानी के सहारे बस एक ही फसल होती थी। साल के बाकी समय खेत यूँ ही परती पड़े रहते। सुंदरदास के बाप ने जब जीने का कोई और आसरा न देखा तो उसने भी कई अन्य पड़ोसियों की तरह सीसीएल द्वारा बंद कर दी गई कोयला- खदानों की ओर मुंह कर लिया।"[39]

मशीनों के आने से कंपनियों तथा सरकार द्वारा अचानक खदानों को बंद करने की घोषणा से जिनकी जमीन खदानों में चली गई थी उनके सामने आर्थिक मुसीबत आ गई और इसी मुसीबत ने अवैध खनन के लिए प्रेरित किया। जिसकी अभिव्यक्ति 'अपनी कब्र खोदने वाले' कहानी में भी हुई है, जब मानवाधिकार एक्टिविस्ट पार्टी सचिव से 'रैट होल' के बारे में पूछता है तो सचिव कहता है- "रोजगार संकट होने के कारण लोगों ने बंद पड़ी खदानों में छोटे-छोटे स्तर पर कुआं खोदकर खनन शुरू कर दिया। इसी को 'रैट होल' कहते हैं। इस तरह के खनन में छोटे ठेकेदार अथवा स्थानीय लोगों का एक समूह शामिल होता है। आज सिर्फ कोपा गांव के निकट की सीसीएल की बंद पड़ी खदानों की भदुआ पहाड़ी में

39.हंस, जनवरी 2006, कोयले पर पलते पेट, पृष्ठ संख्या-69

50, बुड़िया खदान में 40, पत्थरडीहा में 45, अमाटांड में 50 और 16 नम्बर पीट में 60 ऐसी कुआँ खदाने चल रही है। एक ठेकेदार 15 से 35 तक की संख्या का एक समूह एक खदान कुआँ खोदकर निकासी करता है। इस खदान से निकाले गये एक टोकरी कोयले की कीमत दस रूपये है। इसमें आधा पैसा ठेकेदार रखता है और आधा पैसा मजदूर को मिलता है।"[40]

आज देश लगातार विकास के पथ पर अग्रसर है लेकिन आदिवासी अंचलों में, भूख-गरीबी, विस्थापन की आग लगी हुई है। किसान से कोयला चोर बन जाने की यह विवशता पलायन से उत्पन्न भयंकर समस्या है। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के अलावा कारखाने लगाना, बांध बनाना, अभ्यारण बनाने के नाम पर लगातार मूल निवासियों को विस्थापित होना पड़ता है। आदिवासी अपने मूल से उखड़कर अनजान परिवेश में रहने को अभिशप्त हैं। आदिवासी कहानी में विस्थापन तथा शोषण को देखा जा सकता है।

4.5 स्त्रियों की स्थिति:-

आदिवासी वस्तुतः प्रकृति पर आश्रित रहने वाले समुदाय हैं। इनका प्रकृति धर्म और अखड़ा समुदाय है। लेकिन जाति व्यवस्था आधारित ग्रंथों में आदिवासी पुरुष-स्त्री को अमानवीय और आर्य सौन्दर्य प्रतिमानों से अलग दिखाया जाता है। आदिवासी स्त्रियों को आज भी मिथक और मनोरंजन के रूप में प्रचारित किया जाता रहा। मुख्यधारा के समाज की नजरों में आदिवासी स्त्री 'काम' के लिए हमेशा तैयार रहती है जो उसे गैर-यथार्थमयी बनाता है। मुख्यधारा की संस्कृति के विपरीत आदिवासी स्त्री को अपने लिए वर चुनने की आजादी होती है। आदिवासियों के यहां घोटुल प्रथा है जिसमें युवा लड़के-लड़कियां एक साथ रह कर एक दूसरे को समझते हैं कि दोनों जीवन एक साथ निभा सकते हैं कि नहीं। आदिवासियों की इस प्रथा को मुख्य समाज ने अन्य अर्थ में लिया और आदिवासी स्त्रियों पर कामुक होने का ठप्पा लगा दिया, जो तथाकथित सभ्य समाज के

40.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, अपनी कब्र खोदने वाले, पृष्ठ संख्या-147

नैतिक अभाव को दिखाता है। आदिवासी लड़कियों तथा स्त्रियों की तस्करी होती है। काम-काज, शिक्षा आदि का लोभ देकर मानव तस्कर अपनी बातों में फंसा लेते हैं फिर इन स्त्रियों को महानगरों में वेश्यावृत्ति के धंधे में धकेल दिया जाता है। जहां से इनका लौटकर आना असंभव होता है। इन स्त्रियों की तस्करी में बाहरी लोगों के साथ-साथ कभी-कभी उनके ही समाज के स्त्री-पुरुष भी शामिल होते हैं।

स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक होते हैं। दोनों ही मिलकर जिंदगी को आगे बढ़ाते हैं। एक स्त्री कई रूपों में जीती है- पत्नी, माता, भाभी, बेटी आदि और इन सभी रूपों को स्त्री पूरे तन-मन-धन से निभाती है। इन रिश्तों को निभाने के अलावा वह परिवार, समाज, देश के बेहतर के लिए भी अपना योगदान करती है।

बाहरी लोगों ने जबसे आदिवासी के जीवन में हस्तक्षेप किया है, उनकी सामाजिक संरचना और संस्कृति में विकृतियां आ गई है, जो समाज समानता, सामूहिकता, सहअस्तित्व में आस्था रखता है और स्त्रियों को पुरुषों से कम नहीं मानता था वही आदिवासी समाज मुख्यधारा के संपर्क में आकर स्त्रियों के लिए कई कड़े नियम बना दिया है। रमणिका गुप्ता कहती हैं- "वैसे आदिवासी समाज सामूहिकता और समानता में विश्वास रखता है। उनके यहां अंग्रेजों के आने से पहले संपत्ति नाम की कोई अवधारणा नहीं थी। गांव की पूरी की पूरी जमीन को अधिकांशत जंगलों में ही अवस्थित थी, पूरे के पूरे गांव की होती थी किसी विशेष व्यक्ति की नहीं, जिसमें औरत मर्द, बच्चे से लेकर बूढ़े तक, स्वस्थ से लेकर विकलांग या रोगी तक सभी बराबर के हकदार होते थे। जनजातियों के प्रति पितृप्रधान समाज में भी लड़कियां पिता के घर जब तक चाहे रह सकती थी। पति के मरने के बाद भी उनके भरण-पोषण की जिम्मेदारी पिता और भाइयों पर होती थी क्योंकि किसी का भी जमीन में अलग हिस्सा नहीं होता था इसलिए स्त्री के अलग से हिस्से का प्रश्न कभी उठा ही न था। आदिवासी समाज मैदानी या तथाकथित सभ्य कहीं जाने वाली संस्कृति से अलग-थलग जंगलो में रहता था और उनकी स्त्रियां भी उतनी ही स्वतंत्र होती थी जितने पुरुष।"[41]

41.कथादेश, मई 2010, आदिवासी संस्कृति और साहित्य में स्त्री का दर्जा, पृष्ठ संख्या- 39

आदिवासी स्त्रियां मेहनत करने के मामले में पुरुषों से तनिक भी पीछे नहीं हैं। पुरुष अपने कर्तव्य से विमुख हो सकता है लेकिन स्त्रियों को अपने कर्तव्य का बोध रहता है। आदिवासी स्त्री शहर की हो या गाँव की हो, किंतु उसके उपर पर कई तरह की बंदिशे हैं। तथापि आर्थिक नजरिये से आदिवासी स्त्री पर उसका परिवार निर्भर होता है, क्योंकि ज्यादातर पुरुष रोजगार की तलाश में अन्यत्र राज्यों में चले जाते हैं या हड़िया (शराब) के नशे में पड़े रहते हैं या जुआ खेलने में व्यस्त रहते हैं। आदिवासी स्त्री तड़के सुबह उठकर जंगल से बिक्री योग्य सामग्री यथा पत्ते, फल-फूल, लकड़ी और सब्जी आदि या दोना-पत्तल, खटिया, चटाई ,दातुन आदि बेचकर परिवार का भरण-पोषण करती है। आदिवासी स्त्री श्रम से परिवार का भरण-पोषण करती है तो सबका ध्यान भी अपनी ओर खींचती है। अपने परिवार के देखभाल के लिए जितना परिश्रम करती है, उतना पारिश्रमिक उसे नहीं मिलता। वह सस्ते दाम पर अपने सामान को बेचने को विवश है।इसके बावजूद आदिवासी स्त्री चाहे अपने पिता के घर रहे या पति के, दोनों जगह वह अपनी जिम्मेदारी को बखूबी से निभाती है।

परिवार के लिए स्त्री का क्या कर्तव्य है इसकी सफल अभिव्यक्ति 'सोना होना' कहानी में हुई है। कहानी में सोना नायिका है। सोना तीन बहन और एक भाई है। सोना के पिताजी अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने से पहले रिटायर हो गये। अपनी जिम्मेदारी पूरा न करने की वजह से वह उदास और थके रहते थे। सोना पिताजी की उदासी को समझ रही थी और अपने कर्तव्य को भी। इसी कर्तव्य बोध ने सोना को प्रेरित किया। उसने परिवार की मदद के लिए कई स्कूलों में पढ़ाने के लिए आवेदन किया और दूर के किसी विद्यालय में उसे पढ़ाने के लिए बुलावा आया। और आगे से घर का पूरा दायित्व सोना ने अपने ऊपर ले लिया उसके खर्चे से परिवार चलता, भाई-बहनों की पढ़ाई पूरी हुई एवं शादी भी हुई। जब सोना की बहन भी कॉलेज जाने लायक हो जाती है और पिताजी इसकी खबर सोना को देते हैं तो वह कहती है- "आप फ़िक्र मत कीजिए, मैं हूं न। जितना पढ़ना चाहती हो पढो। यह सुनकर मां-पिताजी को थोड़ी राहत मिल गई उन

दोनों ने सोचा कि हमने मन की बात बता दी। फिर भी घर का दुख किसी से छिपा नहीं था।"[42]

मिथकों में नारी को देवी बताकर सामान्य मनुष्य की श्रेणी से निकालकर और असामान्य मनुष्य बना दिया गया है। आदिवासी स्त्री इस मिथक से बाहर आना चाहती है। वह किसी के अधीन न होकर अपनी अलग पहचान स्थापित करना चाहती है। वह अपने को मनुष्य की दृष्टि से देखना चाहती है तथा इसी दृष्टि की अपेक्षा अन्य से भी करती है। वह अपने वजूद के लिए स्वयं सोचती है और पुरुष प्रधान समाज से टकराती भी है।

मनुष्य का जीवन संघर्ष से भरा पड़ा है। वह जितना तरक्की करता जा रहा है, उसकी समस्या और संघर्ष बढ़ता जा रहा है। पुरुषों की तुलना में स्त्री का सघर्ष दोगुना है। यदि वह स्त्री आदिवासी है तो उसका संघर्ष पुरुषों की अपेक्षा कई गुणा बढ़ जाता है। आदिवासी स्त्री घर का काम तो करती ही है साथ ही घर चलाने के लिए पैसे के प्रबंध की जिम्मेदारी भी उनपर पर होती है। आदिवासी स्त्रियां पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करती हैं, यदि कहा जाए कि पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा काम करती हैं तो इसमें कोई अतिरंजना नहीं है। काम कोई भी हो या किसी क्षेत्र का हो स्त्रियों की उसमे उपस्थिति आश्चर्यचकित करती है। दुकान चलाने से, मैकेनिक, आदि विभिन्न प्रकार के कामों में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी उत्साहित करती है। आदिवासी समाज में जो स्त्रियां बूढी हैं वे भी अपनी क्षमता अनुसार कुछ न कुछ करती रहती हैं। अपने कुटुंब से भावनात्मक रूप से जुडी होती हैं। आदिवासी स्त्रियों पर विचार करते हुए सामुदायिकता को मुख्य रुप से अंकित करने की जरुरत है। आदिवासी स्त्री और पुरुष दोनों को एक मंच पर आकर खुलकर विचार रखने की जरुरत है। आज आदिवासी समाज द्वंद्व और चुनौतियों से गुजर रहा है, जिसका समाधान समाज द्वारा संवाद से सामुदायिकता में खोजा जा सकता है। आदिवासी समाज में कई कुरीतियां तथा रूढियां हैं जिस पर पुरुष तो गुमान करते है लेकिन वह स्त्रियों के लिए घातक है और उनके सम्मान को नीचे गिराने वाला है, जिसमे बदलाव के लिए आदिवासी

42.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर 2013, सोना होना, पृष्ठ संख्या-26

स्त्रियों का मन खदबदा रहा है। और इसका समाधान होना अत्यंत आवश्यक भी है। आज भी कई घटनाएँ बार-बार दोहराई जा रही हैं, उन पर ध्यान देकर रोकने के साहस होना चाहिए। आज भी संस्कृति और परम्परा के नाम पर स्त्री के सम्मान से खिलवाड़ किया जा रहा है। आदिवासी स्त्री इन्ही सब बिन्दुओं पर संवाद, विचार-विमर्श, बराबरी और न्याय की मांग करती है। 'कनकट्टी दीदी' कहानी में स्त्री के इन्हीं प्रश्नों को उठाया गया है, जिसमे मोयलेन कथा नायिका है जो मुंडा समाज से आती है। मोयलेन के विचार प्रगतिशील है, लेकिन मुंडा समाज में आज भी स्त्रियों को हल छूने और छप्पर छूने की मनाही है। मोयलेन इन सबको दरकिनार कर ये सभी काम करती है। अंत में पंचायत उसको सजा सुनाती है कि उसके कान काटकर गाँव से बाहर कर दिया जाए। इस सबसे वह विचलित नहीं होती अपितु अपने जड़ समाज से सवाल करती है,-"जब औरतें सारे कार्य कर सकती हैं तो क्या छप्पर पर नहीं चढ़ सकती? ऐसा क्या गुनाह किया मैंने कि थोड़ा सा हल चला दिया? यहां तो दिल्ली में महिलाएं ऑटोरिक्शा, ट्रेन, कार तक चला लेती है। बड़ी-बड़ी मशीनों को वे स्वयं चलाती है।"[43]

इसी कहानी में जब मोयलेन की छोटी बहन के रिश्ते के लिए घर देखना होता है तो परंपरा अनुसार छः सात पुरुष जाना चाह रहे थे। इस पर मोयलेन पंचायत बुलाती है और अपना पक्ष रखती है। वह कहती है मेरे घर में पुरुष नहीं है इसलिए बहन का घर देखने मैं भी चलूंगी। आदिवासी स्त्रियों में जैसे-जैसे चेतना आ रही है, वे प्रतिनिधि बनकर पुरुषों से प्रश्न कर रही हैं।

पितृसत्तात्मक समाज ने शारीरिक भिन्नता और सामर्थ्य के आधार पर अपने को स्त्रियों से श्रेष्ठ घोषित किया है, लेकिन आज स्त्री समाज अपने अधिकारों को लेकर सजग हुआ है। धर्म, दर्शन, साहित्य आदि के माध्यम से स्त्री को पराधीन किया गया, उसे दोयम दर्जे का इंसान बना दिया। उसकी छवि विकृत की गई, जिससे उनका जीवन दूसरे पर निर्भर हो गया। वास्तव में स्त्रियों की अस्मिता पर प्रहार भावनाजन्य होता है जिससे यह पता ही नहीं चल पाता कि कहां तक प्रेम पूर्ण है, कहां तक अस्मिता पर प्रहार है।

43.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर-2013, कनकट्टी दीदी, पृष्ठ संख्या -34

आज आदिवासी स्त्रियां रोजी-रोटी के लिए पलायन करने के लिए मजबूर हो रही हैं। वे मुंबई, दिल्ली, हैदराबाद, जैसे नगरों में काम ढूंढने के लिए आ रही हैं। उत्तर प्रदेश, पंजाब, पश्चिम बंगाल, आसाम आदि राज्यों में खेतों में मजदूर बनकर अपना पेट पाल रही हैं। वहां पर इन स्त्रियों के साथ शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक स्तर पर शोषण होते हैं। कई स्थानों पर उन्हें जबरदस्ती वेश्यावृत्ति में धकेल दिया जाता हैं। आदिवासी समाज के असंख्य मामले हैं जहां स्त्रियों का प्रत्येक स्तर पर शोषण किया गया है। अंधविश्वास, रूढ़ियों, बाहरी घुसपैठ की वजह से आदिवासी महिलाएं असुरक्षित महसूस कर रही हैं। शादी के बाद उनके साथ शोषण की घटनाएँ बढ़ जाती हैं। कभी परम्परा के नाम पर तो कभी दहेज के लिए उन पर अत्याचार हो रहा है। इन्ही परंपराओं, रूढ़ियों और अंधविश्वास ने आदिवासी समाज को जड़ बना रखा है। जब स्त्री अपने सम्मान को लेकर घर समाज में सवाल करती है और अधिकार की बात करती है तो आदिवासी समाज के पंच जिन्हें अपने इन मुर्दा परम्पराओं पर गुमान होता है वे स्त्री को डायन बताकर अमानवीय दंड देते हैं जिससे आगे से कोई अधिकार की बात न कर पाये।

संस्कृति का हवाला देकर उन पर अत्याचार किया गया। इन सब अत्याचारों को महुआ मांझी ने अपनी कहानी 'मोईनी की मौत' में रेखांकित किया है। आदिवासियों में फैले अंधविश्वास की वजह से मोईनी को कफन तक नसीब नहीं होता और उसके छोटे-छोटे बच्चों को रोने तक नहीं दिया जाता। "मरते समय मोईनी को तीन माह का गर्भ था। बस्ती के लोगों का मानना है कि गर्भवती औरत मरकर चुड़ैल बन जाती है। घरवालों को, बस्ती वालों को खूब सताती है। इस विपदा से एकमात्र ओझा ही बचा सकता है। मजबूरन मंगरा को ओझा की शरण में जाना पड़ा। ओझा के इशारे पर मंगरा ने मोईनी की लाश पर कीलें ठोकी। उसकी मौत पर नियमानुसार समवेत स्वर में कॉदने की क्रिया नहीं की गई। किसी ने मोईनी की लाश पर नया कफन नहीं चढ़ाया। औरतों ने उसे गंदी-गंदी गालियां दी। नया कफन चढ़ाने से और रोने-धोने से मोईनी की आत्मा माया-मोह त्याग नहीं सकेगी तथा चुड़ैल बनकर भटकती रहेगी।"[44] आदिवासी समाज को अंधविश्वास बहुत गहराई तक जकड़ा हुआ है। डायन और ओझागनी के

44.कथादेश, जून 2001, मोईनी की मौत, पृष्ठ संख्या- 4

नाम पर महिलाओं की बेरहमी से हत्या कर दी जाती है। स्त्रियों पर यह बर्बरता कभी परंपरा के नाम पर होती है तो कभी उनकी जमीन को हड़पने के लिए। शिक्षा के अभाव के कारण आदिवासी समाज अभी तक इस जहर को दूर नहीं कर पाया है।

पिछले कई वर्षों से आदिवासी स्त्रियां दलालों के द्वारा इधर-उधर बेची जा रही हैं। उन्हें ऐसे कामों में लगाया जा रहा है जहां वह केवल घुट-घुट के मर रही हैं। यदि वहां से वह किसी तरह निकल भी आती हैं तो उनका स्वयं का परिवार, समाज उनको स्वीकार नहीं करता। यदि वह अपने समाज में रुक जाती है तो उन्हें डायन बताकर मार दिया जाता है। यदि वापस चली जाती है तो मुख्यधारा का समाज उनको नोच डालता है। जसिंता केरकेट्टा की कहानी 'औरत का घर' में इस उधेड़बुन को रेखांकित किया गया है- "इस दुनिया में औरत को घर से निकलने पर कुछ दिनों का आश्रय मिल सकता है- कोई आश्रम, पेड़ की छाया, स्टेशन में सर छुपाने की जगह, कोई नया मर्द भी। मगर असल में उसे घर कहीं नहीं मिलता। जीवन भर एक छत के लिए भागती रहती है। इस हाथ से उस हाथ बिकती या खरीदी ही जाती रहती है। आखिर इस जीवन में औरतों का घर कहां होता है?"[45]

यह केवल आदिवासी स्त्री की पीड़ा नहीं है बल्कि स्त्री मात्र के मूलभूत सरोकार कहानी में शामिल हैं। दिकुओं द्वारा आदिवासी स्त्रियों के शोषण के कुचक्र को आदिवासी कहानी समझती है। अभिजात वर्ग का नारीवाद इस षड्यंत्र को नहीं समझ पाता। इस मामले में भारत दोसी की कहानी 'कब तक नंगी की जाती रहेंगी आदिवासी औरतें?' नारीवाद की अवधारणा से आगे निकल जाती है- "यह उस हरामी की बहिन है, इसके साथ हम भी वही करेंगे जो उसने तेरे साथ किया। रमीला कांप उठी। उसने एक थप्पड़ भाई के मुंह पर जड़ दिया और बोली तुम तो बदला ले लोगे पर हम दोनों का क्या होगा? हम औरतों की नियति क्या यही है? तुम लोग अपने अहं के लिए खेलते रहो हमारे साथ। कुछ रुक कर बोली भैया कब तक हमें नंगा करते रहेंगे पुरुष लूटते रहेंगे हमारी इज्जत? कभी यह कभी मैं, आखिर लुटती तो हम औरतें ही है न? क्यों.... उत्तर दो.... भाई अवाक मुंह देखता रहा।"[46]

45.वागर्थ दिसंबर 2021, औरत का घर, पृष्ठ संख्या-26

46.अरावली उद्घोष, मार्च 2011, कब तक नंगी की जाती रहेंगी आदिवासी औरतें, पृष्ठ संख्या- 28

यह प्रतिरोधी चेतना ही आदिवासी कहानियों के लोकप्रिय होने का रहस्य भी है। वह प्रतिशोध की ज्वाला में उबल भी रही है, किंतु निर्दोष को बचाना उसका धर्म है और वह एक स्त्री, जो स्वयं अपने समाज में रमीला के समान जीवन जीने को मजबूर होती। सत्ता और आदिवासी समुदाय के मध्य लड़ाई में अनगिनत आदिवासी स्त्रियों ने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया।

आदिवासी कहानियों के विवेचन से वातावरण के प्रति उनके चैतन्य भाव की पूरी संवेदना की झलक मिलती है। आदिवासी कहानियों में शोषण करने वालों की पहचान, उनका प्रतिवाद करना, अपने अधिकारों को लेकर सजगता, पारिस्थितिकीय सजगता आदि मुखर होकर अभिव्यक्त हुई है।

आदिवासी समुदाय को हमेशा हाशिए पर बनाए रखने की साजिश करने वाले दिकुओं की मानसिकता को आदिवासी कहानी उजागर करती है। 'शैली' कहानी में शोषण के प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। दामोदर झा अपने ईट-भट्टे पर काम कराने के लिए सस्ते मजदूर आदिवासी इलाकों से लाया करता था। वहीं पर बसिया की दो बहनें भी काम करती थीं। दामोदर झा इन आदिवासी मजदूरों पर बहुत अत्याचार करता था। बासिया अत्याचार के खिलाफ मुखर होती है। वह बोलती है- "मुर्गी बूढ़ा जाती है तो मुंडी काटकर बटलोड़ी में सिंझा दी जाती है। अभी तू नहीं है, नहीं बुझती- ठूंठा आग्नेय नेत्रों की उपेक्षा करती बसिया ने कहा- दामोदरा अपने भट्ठे में लड़कीपन की जिनगी-जवानी सब झोंक देता है....।"[47]

बसिया अपने पिता के विचारों से असहमत होती है और कड़े शब्दों में उसका प्रतिवाद करती है। "ठीक है बाबा तू भी क्या करें? जब मांझी थान और जाहेरथान का देवता तक दो बोतल दारु में बिक जाता है तो तू आदमी ही है। तेरा क्या दोष बाबा जो तू भी बिक गया और तेरी बेटी भी....।"[48] धन प्राप्त करने के लिए लोग कितने निष्ठुर हो सकते हैं, इसे कहानी में दिखाया गया है। साथ ही उसके प्रतिरोध के स्वर को भी।

47.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, पोन, पृष्ठ संख्या-153

48.वहीं, पृष्ठ संख्या 153

व्यक्ति की किसी चीज की सहन करने की क्षमता होती है। जब यह सहन क्षमता समाप्त होने लगाती है तो विरोध का स्वर उठना लाजिमी है। इस विरोध के स्वर में आदिवासी स्त्रियों की भूमिका उल्लेखनीय रही है। आदिवासी कहानियां शोषण के खिलाफ खुलकर आवाज उठा रही हैं। जैसे-जैसे आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार हो रहा है, वे शोषण को पहचानने लगे हैं और विरोध भी कर रहे हैं। इस तथ्य को प्रमाणित करती है, वाल्टर भेंगरा की कहानी 'दुलारी'। कहानी में दुलारी, बनिया और महाजनों द्वारा आदिवासियों की पैदावार को बाजार भाव से कम दाम पर खरीदना तथा नाप-तोल में गड़बड़ी करने को उजागर करती है। इसी तरह जब वह अपने पिता के साथ लाह बेचने जाती है तो वहां महाजनों द्वारा घटतौली पर उंगली उठाती है- "आप लोग गांव के लोगों को ठगते ही नहीं लूटते भी हैं? दुलारी गुस्से में बोली। आप लोग लूटते हैं। सबसे पहले आप का माप-तोल सही नहीं है। आपका वजन पत्थर के टुकड़ों से बना है। जो है भी उस में लोहे की जगह सीसा भर दिया है आपने। आप का तराजू भी रस्सी से बना है। आपको काटा वाला तराजू इस्तेमाल करना चाहिए। आप भाव गिरने का रोना रो रहे हैं।"[49]

आज पूंजीवादियों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अव्यवस्थित दोहन से उसके घातक परिणामों को अभिव्यंजित करने में ये कहानियां सफल हुई हैं। यह उनके पारिस्थितिकीय सचेतता का परिचायक है। इसकी झलक हमें वासुदेव की कहानी 'शांबरी' में तब देखने को मिलती है जब शांबरी अपने विचारों को मजबूत बनाने के लिए उसे पौराणिक कथाओं से जोड़ती है। कहानी में शांबरी परशुराम की कथा बताती है जिसमें परशुराम अपने शिष्यों को बताते हैं- "हम लोग जंगल काट कर बस्ती बसाने का जो कार्य कर रहे हैं, वह जनोपयोगी तो है, परंतु उसकी भी एक मर्यादा है, जबकि हम लोग अमर्यादित ढंग से जंगल काटते ही जा रहे हैं। यदि इसी तरह जंगल कटते रहे, तो एक दिन यह धरती बिल्कुल नंगी हो जाएगी, और तब प्रकृति में हमारे लिए जीवन के लाले पड़ जाएंगे। राम ने हमें मर्यादित कर्म और आचरण की सीख दी है, अर्थात हम पेड़-पौधों को केवल काटते ही नहीं अपितु पर्यावरण और प्रकृति की सुरक्षा के लिए नए पौधे भी लगाए और उनकी देख-भाल भी करें।"[50]

49.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर 2013, दुलारी, पृष्ठ संख्या-130

50.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, शांबरी, पृष्ठ संख्या-118

कहानी का यह प्रकरण प्रकृति के साथ मानव का क्रूर व्यवहार और उसके अंजाम के बारे में सोचने को विवश कर देगा।

प्रकृति और आदिवासी का साहचर्य सदियों से रहा है। उनके सुख-दुख, परंपरा, संस्कृति सब प्रकृति पर आधारित है। उन्होंने कभी भी प्रकृति से विद्रोह नहीं किया। वे प्रकृति के संरक्षक हैं। वे जानते हैं कि प्रकृति बची रही तो उनकी संस्कृति बची रहेगी। उनका जीवन बचा रहेगा। इसलिए वे प्रकृति तथा उनकी संस्कृति को लोलुप नजर से देखने का विरोध करते हैं। आदिवासियों का नृत्य-संगीत मुख्यधारा के समाज के लिए कौतूहल का विषय बना रहा है। उनकी बाजारु संस्कृति उनके नृत्य-संगीत को बेचने में पीछे नहीं है। लेकिन आदिवासी समाज के नृत्य-संगीत का अपना महत्व है। वह केवल मनोरंजन की चीज नहीं है अपितु उनकी संस्कृति की द्योतक है। इसलिए जब कोई इसका मजाक बनाता है या लाभ कमाने के उद्देश्य से देखता या दिखाता है तो वे उसका विरोध करते हैं। ‘जहेरथान’ कहानी में इस बात की अभिव्यक्ति हुई है। कहानी में मुंबई से फिल्म शूटिंग करने वाली टीम आई थी, जो आदिवासियों के नृत्य को अपने रील में कैद करना चाहती थी। इस नृत्य में बाहर से आयी लड़कियों को आगे रखता है तथा आदिवासी लड़कियों को पीछे रखता है जिसका विरोध आदिवासी लड़की सोनामनी करती है। वह कहती है- “हमारा नाच हम दिखाएंगे कि ऊ बाहरी लोग? ...तो फिर ऊ बाहरी लोग के साथ ही शूटिंग कर लो न; हमारा क्या काम है? अईसा पैसा का जरूरत नहीं है, तुमको होगा। और हां, यह बात अच्छी तरह समझ लो। अगर हमारे जहेरथान पर, हमारे नाच की और हमारे जीवन की बातों की शूटिंग होगी तो हमें पीछे रखकर नहीं होगी। हमें पीछे रखना है तो कहीं और जाओ। वहां जाकर अपना जहेरथान बनाओ, अपना गीत बनाओ, अपना नृत्य बनाओ फिर कर लो अपने मन की शूटिंग।”[51] अपनी नृत्य-संगीत को बचाये रखने के उनका सजग प्रयत्न संस्कृति संरक्षण पर जोर देने वाला है जो उनकी कहानियों में वर्णित हुआ है।

आदिवासी समुदाय सदियों से शोषित रहा है। आज वह मुक्ति पाना चाहता है। अपने समाज के साथ हो रहे अत्याचार के विरुद्ध प्रतिरोध के लिए आदिवासी

51.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, जहेरथान, पृष्ठ संख्या-158

विभिन्न माध्यमों का प्रयोग कर रहे हैं। आदिवासियों के हक को छीनने तथा उनके संसाधनों को नष्ट करने वालों को वे अच्छी तरह पहचानते हैं। चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष उनका सभी तरीकों से विरोध करते हैं। जयनंदन की कहानी 'सिराज बैंड बाजा' में इसकी अभिव्यक्ति हुई है। कहानी में माघी नामक आदिवासी स्त्री की कहानी है। एक समय आता है जब माघी को सब लोग छोड़ देते हैं। मुसीबत के समय उसे सेराज नामक व्यक्ति सहारा देता है। सिराज का बैंड बाजा का काम है जिसमें माघी को काम मिल जाता है। और वहीं से माघी अपने दम पर विश्वसनीय और उच्च स्तरीय बैण्ड ब्रांड बनकर पूरे शहर में छा जाती है। माघी का बैंड जब अपने समय में चरम पर था, उसी समय उस राज्य के मुख्यमंत्री जो 35 से 40 हजार करोड़ रुपए के गबन के आरोप में हवालात में रहते हुए उसने लोकसभा चुनाव जीता था। तब उनके समर्थक भव्य जुलूस निकालने की तैयारी में लग गए। उन्होंने माघी से भी संपर्क किया लेकिन उसने इंकार कर दिया। समर्थक उसे मुंह मांगा शुल्क देने के लिए तैयार थे लेकिन माघी राजी नहीं हुई। माघी के शुभचिंतक से सेराज के समझाने पर वह कहती है- "उसने गरीब जनता में हराम के बेइंतहा पैसे बांट कर और बहाकर जीत हासिल की है। फटीचर और बिकाऊ युवाओं में एक हजार मोटरसाइकिल बटवांकर वोटों की लूट करवाई है। उसने राज्य के विकास कोष में सेंध लगाकर युवाओं को जंगल का रास्ता पकड़ा कर बागी बनने के लिए मजबूर किया है। वह देशद्रोही है, हमारा बैण्ड उसके जश्न में शामिल होकर उसका समर्थन नहीं करेगा।"[52] माघी को कोई दुख नहीं था बल्कि उसको संतोष था कि एक देशद्रोही नेता के जश्न में शामिल होने से उसने अपने बैण्ड को बचा लिया।

हिंदी आदिवासी कहानी को लेकर तमाम तरह की विचार विमर्श कथा-आलोचना में दृष्टिगोचर हो रही हैं कि आदिवासी कहानी की सार्थकता उसके कहानीपन के फॉर्म मे अधिक है अथवा उसके सामाजिक सरोकारों से जुड़े जटिल मुद्दे गम्भीरता से केंद्र में होने चाहिए। नि:संदेह आदिवासी कहानी आदिवासी समाज के यथार्थ को अभिव्यक्त करने की सबसे सशक्त एंव कथा-साहित्य की प्रतिनिधि विधा बन चुकी है। इसलिए उसे किसी विचारधारा से प्रेरित न मानकर

52.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, सिराज बैंड बाजा, पृष्ठ संख्या- 126

उसके स्वयं के समाज के अंतर्द्वंद्व, विरोधाभास और बाहरी हस्तक्षेप से होने वाले बदलावों तथा मानवीय संकटों के सजीव चित्रण का प्रतिबिंब मानना चाहिए। कोई भी कथाकार अपने समाज के विसंगतियों, और उसमें हो रही गतिविधियों से अछूता नहीं रह सकता। आदिवासी कहानीकार अपनी कहानी में कथ्य के भावबोध तथा शिल्प के स्तर पर लगातार अपने समय से जुड़ा रहता है जिससे वह पाठकों से सार्थक संवाद करने में सफल होता है। आज मूल्यहीनता और निराशा में भी वह भविष्य के लिए बेहतर संभावनाओं की खोज के लिए उत्सुक रहता है यही उसकी रचना की प्रासंगिकता है।

इक्कीसवीं सदी की भावभूमि पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि यह तकनीकी ज्ञान की अतिशयता और सूचनाओं के विस्फोट के साथ मुक्त बाज़ारवाद के अनियंत्रित बढ़ोत्तरी और दबाव की सदी है। नब्बे के दशक बाद आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के अप्रत्याशित प्रभाव ने आदिवासी समाज की संरचना, संस्कृति, भाषा के साथ मानवीय संबधों के बुनियादी ढ़ांचे को पूरी तरह बदल दिया है। यह बदलाव दो- तीन दशकों में इतनी तेजी से हुआ है कि इसका मात्र अनुमान ही लगाया जा सकता है। इस तेजी से आदिवासियों के मुसीबत में जहाँ बेतहाशा वृद्धि हुई उनके सामने अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा का संकट पैदा हो गया वहीं मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति में इजाफा, मानवीय संबंधों में बिखराव, और संवेदनाओं का निरंतर क्षरण हुआ। हिंदी आदिवासी कहानी पर विचार करते हुए यह स्पष्ट होता है कि हिंदी आदिवासी कहानी संदर्भों और मूल्यों-परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उसके आस-पास रची जा रही है।

इस अध्याय में जिन कहानियों का अध्ययन और विश्लेषण किया गया है, वे आदिवासियों के जीवन से संबंधित विविध पहलुओं को प्रकट करती हैं। कहानी के विश्लेषण से यह निश्चित कर सकते हैं कि उनकी जीवनचर्या और प्रकृति पर आधारित संस्कृति से आदिवासी समाज ने सृजनात्मक साहित्य को उन्नत एंव समृद्ध किया है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक खूबियों के अलावा यह साहित्य आदिवासी संघर्ष, पारिस्थितिकीय सजगता तथा जीवन की गहरी संवेदना का जीवंत दस्तावेज है। अगले अध्याय में हिंदी आदिवासी कथेतर गद्य विधाओं की विवेचना की जायेगी।

पाँचवाँ-अध्याय

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में आदिवासी कथेतर गद्य

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में आदिवासी कथेतर गद्य

आदिवासी साहित्य के विषय में बात की जाए तो पिछले कई सालों से निरंतर देश की विभिन्न साहित्यिक और गैर-साहित्यिक पत्रिकाओं द्वारा आदिवासी साहित्य को विकसित करने की कोशिश की जा रही है। यही वजह है कि आदिवासी साहित्य के प्रति हिंदी में विचार-विमर्श शुरू हुआ। आदिवासियों के जीवन संघर्ष, उनकी समस्याओं तथा संस्कृति को सामने लाने का माध्यम उनका अपना साहित्य है। गैर-आदिवासी समाज आदिवासियों के समाज से परिचित था न कि उनके साहित्य से। चूँकि आदिवासी तथा गैर-आदिवासी साहित्यकारों ने साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यमों से आदिवासी समाज को चित्रित करने का प्रयास किया। आदिवासियों की संस्कृति और भाषा की अपनी स्वतंत्र विशेषता है। आदिवासी साहित्य में संस्कृति, जीवन-शैली, प्रकृति, लोक कथाओं, लोकगीतों आदि को कहानी, उपन्यास और कविता आदि विधाओं में चित्रित किया गया है। इन विधाओं के अतिरिक्त संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत और नाटक विधा के माध्यम से भी साहित्य में आदिवासी जीवन की सार्थक अभिव्यंजना हुई है। विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में संस्मरण लिखे गए। अरावली उद्घोष पत्रिका में आदिवासी संस्मरण विशेषांक निकला। यात्रा-वृत्तांत के माध्यम से भी आदिवासी जीवन का विवेचन किया गया है। यहाँ संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत और नाटक विधा में चित्रित आदिवासी जीवन के बारे में विवरण प्रस्तुत है।

5.1. संस्मरण:-

संस्मरण हिंदी गद्य की नई,किंतु महत्वपूर्ण विधा है। संस्मरण का मूल अर्थ है, 'सम्यक स्मृति', एक ऐसी स्मृति जो वर्तमान को अधिक सार्थक, समृद्ध व संवेदनशील बनाती है। लेखक स्वयं के अनुभवों को कभी किसी व्यक्ति के माध्यम से व्यक्त करता है तो कभी घटना, वस्तु या क्रियाकलाप के माध्यम से। ये घटनाएं एवं क्रिया-व्यापार कभी किसी महान व्यक्ति से जुड़े होते हैं या कभी किसी सामान्य व्यक्ति से। "संस्मरण किसी स्मर्यमाणा की स्मृति का शब्दांकन है। स्मर्यमाणा के जीवन के वे पहलू, वे संदर्भ और वे चारित्रिक वैशिष्ट्य जो स्मरणकर्ता को स्मृत रह

जाते हैं, उन्हें वह शब्दांकित करता है। स्मरण वही रह जाता है, जो महत्त्व विशिष्ट, विचित्र और प्रिय हो।"[1]

संस्मरण भूत एवं वर्तमान के मध्य सेतु का काम करता है। "संस्मरण का मूल तत्व है- स्मृति, संबंध भाव, आत्मानुभव और स्वयं को खोजने, पहचानने की ईमानदार कोशिश। स्मृति का एक सिरा वर्तमान से बंधा होता है और दूसरा अतीत से। संस्मरण का संबंध उस अतीत से है जो अनुभव के रूप में वर्तमान में जीवित है।"[2]

हमारे देश के संदर्भ में जब आदिवासियों के अतीत और वर्तमान पर ध्यान दिया जाए तो अतीत में हुए आर्य-अनार्य संघर्ष से गुजरते हुए आदिवासियों ने किसी तरह स्वयं के अस्तित्व व अस्मिता की रक्षा करते हुए जंगलों-पहाड़ों में प्रकृति के आश्रय में जीते रहने की प्रणाली को अपनाए रखा, अपने अनुपम आदिम संस्कृति की अखंडता को बचाए रखा व मानवता के मूलभूत प्रयोजनों को तथाकथित सभ्य समाज की सभ्यता से प्रदूषित नहीं होने दिया।

5.1.1. काजू-बादाम खाने वाली गांधीजी की बकरी:-

लक्ष्मण गायकवाड़ ने अपने संस्मरण ‘काजू-बादाम खाने वाली गांधी जी की बकरी’ में गुजरात के ‘छारा’ आदिवासियों का वर्णन किया है। इस संस्मरण में जन्म से अपराधी घोषित छारा आदिवासियों के प्रति सामाजिक नजरिए में बदलाव अब भी नहीं दिखता।

गुजरात में साबरमती के किनारे रहने वाले इन आदिवासियों को अंग्रेजों ने जन्म से अपराधी घोषित कर बंदिस्त कर रखा था। इसी साबरमती के किनारे आजादी का बिगुल बजाने वाले गांधी जी का आश्रम था लेकिन आश्रम से कुछ ही दूरी पर स्थित इन छारों की बस्ती पर उनका कभी विशेष ध्यान नहीं गया। "इस साबरमती के किनारे आजादी का बिगुल बजाने वाले ‘मोहनदास करमचंद गांधी’ नामक

1.हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, पृष्ठ संख्या-527

2.हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ॰ अमरनाथ,पृष्ठ संख्या-350

स्वतंत्रता सेनानी का आश्रम खड़ा हुआ था। इस आश्रम की आजादी की विचारधारा सारे देश में गूंज उठती थी। गांधी जी का आजादी का आंदोलन अंग्रेज गोरे लोगों को चले जाने का नारा बुलंद हो रहा था इस आश्रम की वजह से गुजरात के अहमदाबाद शहर का नाम भारत के कोने-कोने में जा पहुंचा था और इस आश्रम से एक-दो फर्लांग की दूरी पर छारा यानी चोर लोगों की बस्ती गांधीजी के बगल में ही, श्मशान भूमि के जैसे खड़ी थी।"[3] इस बस्ती में छारा आदिवासियों के अतिरिक्त पारधी, घंटीचोर, छप्परबंध और भाभटा लोगों के भी कुछ मकान थे।

देश आजाद होने के बावजूद भी हमारा समाज इन आदिवासियों को अपराधी मानता है। यह आदिवासी आज भी अपनी आजादी की लड़ाई लड़ रहे हैं। ये समाज आज भी उसी जाल में फंसे हुए हैं जो अंग्रेजों ने इनके लिए रचा था। अंग्रेजों द्वारा बनाए गए कानूनों ने इन आदिवासियों के पारम्परिक कार्यों को प्रतिबंधित कर दिया, उनके स्वतंत्र तरीके से कहीं भी आने-जाने पर रोक लगा दी, उन्हें पुलिस थाने में हाजिरी लगानी पड़ती थी। उनके लिए ऐसे कैम्प बनाए गए जैसे जर्मनी में हिटलर ने यहूदियों के लिए बनवाया था।

5.1.2. मिजोरम में कुछ दिन:-

'मिजोरम के वे कुछ दिन' में लेखक प्रकाश मिश्र ने मिजोरम के एक गांव 'डोपा' को केंद्र में रखकर मिजोरम की आदिवासी संस्कृति का वर्णन किया है। मिजो लोग तिब्बती बर्मी शाखा के मंगोल हैं। पहले यह गांव मणिपुरियों का था जिसे मिजो लोगों ने तीन- साढ़े तीन सौ वर्ष पीछे छीन लिया था। गांव का नाम मणिपुरियों के पुरखों के नाम पर है। डोपा में डणे का मतलब गोरा और पा का मतलब आदमी या पिता होता है यानी गोरे-चिट्टे पिता या आदमी का गांव। डोपा बहुत सुंदर गांव है जिसके सौंदर्य का वर्णन करते हुए लेखक कहता है- "डोपा बहुत खूबसूरत गांव है। दक्षिण तरफ तुइला बहती है, उत्तर तरफ तुइसा। उनके बीच में सफेद बादल आकर भर जाते हैं जो बहुत सुंदर लगते हैं। गांव के बीचोबीच से मुख्य सड़क जाती है। आती है बुआलपुई से, जाती है खटुंगसई। उसके दोनों किनारे काठ

3.अरावली उद्घोष, जून 2010,काजू-बादाम खाने वाली गांधीजी की बकरी, पृष्ठ संख्या-59

और बास के टट्टर के घर बसे हैं। गांव में और भी पतली-पतली गलियां है।गांव के पूर्व तरफ ऊंची पहाड़ी है।वास्तविक डोपा गांव वहीं बसा था।"[4] ईसाइयों के प्रभाव में आकर यहां के आदिवासियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है।

आदिवासियों के साथ तालमेल बैठाने में लेखक को कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है। लेखक की सबसे बड़ी परेशानी खाने-पीने को लेकर थी। वह शाकाहारी था और वहां के लोग मांसाहारी। खाद्य पदार्थ में सूअर और मुर्गा प्रमुख है।गांव में पानी की समस्या काफी गंभीर थी। यहां पानी की बहुत बड़ी समस्या थी। मिजो लोग लाल चाय बहुत पसंद करते हैं। नेपालियों की संख्या यहां अधिक थी। मिजो लोग नेपाली लोगों को बहुत विश्वासी मानते हैं- "इन बांग्लादेशियों से अधिक संख्या नेपालियों की थी।वह भूतपूर्व फौजी थे। अधिकांश लड़कियों से शादी कर वहीं बस गए थे।मिजो लोगो से उनकी बड़ी अंतरंगता थी। अभी भी कहा जाता है कि किसी कौम से प्रगाढ़ता करनी हो तो वहां नेपालियों को बसा दीजिए। वह हर तरह के लोगों को अपना बना लेंगे।"[5] संस्मरण में लेखक ने मिजो आदिवासियों के कठिन समस्याओं को दिखाया है साथ ही उनके आदर्शों को भी रेखांकित किया है।

5.1.3. अंडमान यात्रा:-

अंडमान यात्रा नाम से दो संस्मरण लिखे गए हैं एक डॉ नवज्योत भनोत द्वारा और दूसरा बजरंग बिहारी तिवारी द्वारा। हम क्रमश: इन दोनों पर विचार विमर्श करेंगे। अंडमान के आदिवासियों पर लिखा गया नवज्योत भनोत का संस्मरण 'अंडमान यात्रा' है। अंडमान में मुख्य रूप से चार आदिवासी समुदाय रहते हैं। जिनमें से अधिकतर वर्तमान में भी आदिम रूप में निवास करते हैं। पोर्ट ब्लेयर शहर दक्षिण अंडमान में स्थित है और कालीपुर उत्तर अंडमान में। इसी मार्ग पर एक जारवा संरक्षित क्षेत्र मिडल स्ट्रेट में है तो दूसरा उसके बाद कदमताल में। मध्य अंडमान और उत्तरी अंडमान के बीच से होकर जाने वाली सड़क के 35 किलोमीटर का हिस्सा जारवा संरक्षित जंगल से होकर जाता है। यहां पर जारवा के अलावा नेग्रिटी श्रेणी की अन्य तीन जनजाति प्रजातियां ग्रेट अंडमानीज, सेंटिनली तथा ओंग

4.अरावली उद्घोष, जून 2010, मिजोरम में कुछ दिन, पृष्ठ संख्या- 13
5.वही, पृष्ठ संख्या- 10

भी अंडमान के जंगलों में रहती हैं। कुछ समय पहले तक जारवा हिंसक जाति के रूप में थी ऐसा लेखिका का मानना है। जारवा आदिवासी पत्तों से अपना शरीर ढकते थे और स्त्रियां फूलों से बनी स्कर्ट पहनती थी "बड़ों ने आधे-अधूरे वस्त्र पहन रखे थे।बड़े लड़कों ने पत्तेनुमा वस्तु से कमर के भाग को ढक रखा था। महिला की कमर पर पीले फूलों वाली स्कर्ट झूल रही थी। युवक ने कमर पर टोकरी बांध रखी थी। उसके हाथ में तीर था। वस्त्रों का अभाव उसकी देहयष्टि पर तनिक भी नहीं अखर रहा था। वहां जीवन संघर्ष से निर्मित शारीरिक सौष्ठव अपने नैसर्गिक रूप में उपस्थित था।"[6]

आज आदिवासियों को लेकर बहुत विमर्श हो रहे हैं, गर्मा गर्म बहसें हो रही हैं, तर्क वितर्क हो रहे हैं लेकिन ये सब केवल बुद्धिजीवियों की कभी न सुलझने वाली बहसें हैं। कोई उनको समझना नहीं चाहता। समझना चाहता है तो केवल दूर से, पास जाने में इन बुद्धिजीवियों को भी घृणा आती है। यदि आदिवासियों को जानना है तो उनकी तरह जीना होगा जैसा कि लेखिका ने जिक्र किया है- "सरदार बख्तावर सिंह के जारवा-प्रेम के बारे में बताया कि आदिवासियों से दोस्ती करने के लिए वह कोई भी जोखिम उठाने को तैयार रहते थे। जारवा आदिवासियों के साथ नाव में नाचते हुए उनकी तस्वीरें देखी तो लगा कि बुद्धिजीवियों को अनिर्णीत पेचीदा बहसों से ऊपर उठकर 'प्रेम के पाखी' बख्तावर सिंह आखिरकार आदिवासियों के हृदय पर अधिकार प्राप्त करने में सफल हो गए थे।"[7]

जारवा लोग अब काफी मित्रवत हो गए हैं। अंडमान ग्रांड ट्रक रोड ने भी इसमें बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, लेकिन इसके गलत परिणाम भी सामने आए हैं। आदिवासियों ने उनकी जीवनशैली में रुचि क्या दिखाई तथाकथित सभ्य लोगों ने उन्हें पान-मसाला, गुटका इत्यादि की सौगात दे डाली। आज जारवा बालक आते-जाते लोगों से हथेली पर अंगूठा रगड़ कर तंबाकू मांग कर विकसित सभ्यता को शर्मसार करते नजर आते हैं।

अंडमान की आदिम जातियों के संरक्षण हेतु पोर्ट ब्लेयर में सत्तर के दशक में आदिम जनजाति विकास समिति का गठन किया गया। यह समिति सामाजिक

6.अरावली उद्घोष, जून-2010, अंडमान यात्रा, पृष्ठ संख्या- 31
7.वहीं, पृष्ठ संख्या- 31

कार्यकर्ताओं के माध्यम से आदिवासियों के साथ संपर्क बनाए रखने, उन्हें चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करवाने एवं उन पर नियंत्रण रखने जैसे कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आज जारवा आदिवासी चिकित्सालय में आकर सुविधाएं प्राप्त करने के लिए सहजता से तैयार हो जाते हैं। इसीलिए सैल्यूलर जेल में बने राजकीय चिकित्सालय में आदिवासियों के विशेष वार्ड की सुविधा उपलब्ध है।

संस्मरण के अंत में लेखिका सभ्य समाज और सरकार से कई प्रश्न करती है- "सरकार द्वारा आदिवासियों के लिए चलाए जा रहे अनेक अभियानों के बावजूद विडंबना यह है कि मनुष्य और प्रकृति के सह-अस्तित्व का दर्शन देने वाले आदिवासी पूर्वजों की संतान को मुख्यधारा में शामिल करने की कोई भी बहस आज तक यह तय नहीं कर पाई कि आदिवासियों के विकास एवं समृद्ध परंपराओं को संरक्षण प्रदान कर उनकी मौलिकता को कैसे बरकरार रखा जा सकता है। आदिवासियों को सभ्य बनाने पर विचारणीय प्रश्न है कि आज तक उन्हें उन्नत करने के उद्देश्य से प्रारंभ की गई करोड़ों रुपए की परिजनाओं ने उनका कितना हित संवर्धित किया है? हम विकास के नाम पर उनके जंगल, जमीन एवं जल जैसे संसाधनों को अधिग्रहित कर उनकी संपदा पर बाजार खड़ा करने की मंशा से उन्हें विस्थापित करने का उपक्रम तो नहीं कर रहे?"[8]

लेखिका ने संस्मरण में अंडमान के आदिवासियों के जीवन-संघर्ष उनकी संस्कृति को भलीभांति उभारा है।

5.1.4. अंडमान यात्रा:-

अंडमान के आदिवासियों पर लिखा गया डा॰ बजरंग बिहारी तिवारी का 'अंडमान यात्रा' उल्लेखनीय संस्मरण है। अंडमान-निकोबार द्वीप समूह में लगभग पाँच सौ द्वीप है। मानव-आबादी वाले द्वीपों की संख्या मात्र 38 है। अंडमान में 26 तथा निकोबार में मानव आबादी वाले 12 द्वीप हैं। नृतत्व शास्त्रियों का मानना है कि दो हजार साल पहले यहां मनुष्य के रहने का साक्ष्य उपलब्ध है। उपनिवेश युग से

8.वहीं, पृष्ठ संख्या-32

पहले यहां के द्वीपों पर ग्रेट अंडमानी, ओंगी, जारवा, सेंटीनली, शोंपेन और निकोबारी रहते थे। आजादी के बाद भारत सरकार ने इन्हें अनुसूचित जनजाति घोषित किया। इनमें निकोबारी को छोड़कर शेष सभी आदिम जनजाति की श्रेणी में आती हैं। ओंगी जनजाति की बसावट लिटिल अंडमान में है। ये अनेक समूहों में विभाजित है। एक समूह के सदस्य के साथ रहते हैं। इनकी सामुदायिक झोपड़ी 'बेपरा' कही जाती है। इस समय ओंगी दो जगहों पर हैं- डुगांग और क्रोक और साउथ बे में।

जारवा और सेंटीनली दो ऐसी आदिम जातियां हैं जिन्होंने प्रयत्न पूर्वक अपने को बाहरी लोगों के संपर्क से बचाया। सेंटिनली तो अभी भी अपने तक सीमित है लेकिन जारवा अपनी दुनिया से थोड़ा बाहर आने लगे हैं। बाहरी दुनिया से उनकी संपर्क भाषा हिंदी है। जंगल में आदिवासियों की सुरक्षा के लिए पुलिस तैनात है और वह सुनिश्चित करती है कि जंगल के भीतर सड़क से गुजरने वाले इन आदिवासी लोगों को बेवजह तंग ना करें। लेखक उन लोगों को कटघरे में खड़ा करता है जो आदिवासियों को नुमाइश की वस्तु समझते हैं।

"कुछ तो सभ्य समाज की मानसिकता के चलते और कुछ भारत सरकार के संस्कृति प्रेम के कारण आदिवासी समुदाय नुमाइश की वस्तु बन गया है। 15 अगस्त, 26 जनवरी के परेड में उनकी झांकी निकली, थोड़ा ढोल तमाशा नाच-गाना हुआ और हमारा मनोरंजन तथा सरकार की वैविध्य-प्रदर्शन की मंशा पूरी हुई।"[9]

मध्य अंडमान के जंगल से गुजरते हुए लेखक ने सभ्य समाज की मानसिकता को उजागर किया है- "हमारे आगे-पीछे कई कारें चल रही थीं। उन कारों में बैठे जेंटलमैन जारवाओं की तरफ ब्रेड, नमकीन, बिस्कुट के पैकेट ऐसे उछाल रहे थे जैसे कुछ लोग चिड़िया घरों में कर्मचारियों की नजर बचाकर जानवरों की तरफ खाद्य सामग्री उछाला करते हैं।"[10] इन सभ्य लोगों ने प्रयत्न करके जारवा लोगों को लालची बनाने का काम किया। उनका स्वाभिमान, उनकी आत्मानिर्भरता, उनकी जीवन शैली का कोई मूल्य नहीं।

9.अरावली उद्घोष, जून 2010, अंडमान यात्रा, पृष्ठ संख्या-33
10.वहीं, पृष्ठ संख्या-33

5.1.5. कितनी दूर है अभी रोशनी:-

स्वाधीन कृत संस्मरण 'कितनी दूर है अभी रोशनी' में नीलगिरी के 'टोडा' आदिवासियों का चित्रण किया गया है। तमिलनाडु की उत्तरी सीमा पर स्थित नीलगिरी पर्वत और उसके आसपास बसी 'टोडा' जनजाति आज भी अपनी परंपराओं को बनाए रखे हुए हैं। यहां मुख्य रूप से तीन आदिवासी समुदाय निवास करते हैं- 1. ऊंट कमंड की 'टोडा' 2.कुनुर की 'कोटा' 3.मिनोला की 'बार गास'। टोडा आदिवासियों का मुख्य व्यवसाय भैंस पालन है। ये लोग चरवाहे होते हैं। इनका मानना है कि सभी भैंसे पूज्य हैं। पेटकार स्वामी टोडा आदिवासियों के कुलदेवता हैं।

टोडा लोगों की तरह 'कोटा' जाती भी है। इनका मुख्य व्यवसाय टोकरी बनाना है। कोटा लोग अच्छे कलाकार एवं शिल्पकार हैं। बढ़ई और कुम्हार का कार्य भी इनके जीवन का अंग है। वर्तमान समय में ये लोग कृषि कार्य भी करते हैं। मिनोला के 'बार गास' आदिवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि है। ये लोग आजीविका के लिए बाहर भी जाते हैं। गांव का मुखिया गांव के बुजुर्गों के साथ जाति बिरादरी का पथ प्रदर्शन करता है।

टोडा जाति काफी उपेक्षित और आर्थिक रूप से बहुत कमजोर है, फिर भी मेहमान नवाजी और आत्मीयता के मामले में तथाकथित सभ्य समाज को बहुत पीछे छोड़ देती है। टोडा आदिवासियों में विवाह की परंपरा अजीब सी है- "बच्चों को बचपन से अधिकार दिया जाता है कि वह किसी बच्ची को पसंद करे। वह बाल सुलभ अनभिज्ञ अवस्था में माँ की गोद से उंगली द्वारा किसी भी टोडा समुदाय की बच्ची की ओर इशारा करता है बस वही से उसका रिश्ता हो जाता है।"[11] टोडा जाति में विवाह से पहले युवक तथा युवतियों को मिलने की स्वतंत्रता होती है। यहां भ्रातृत्व बहुपति की प्रथा प्रचलित है। विवाह के बाद स्त्री सभी भाइयों की पत्नी मानी जाती है। टोडा आदिवासी इसे पांडव और द्रौपदी प्रथा बताते हैं, लेकिन वर्तमान समय में ये परंपरा बदलने लगी है और टोडा बुजुर्ग इसके खिलाफ हैं।

11.अरावली उद्घोष, जून 2010, कितनी दूर है अभी रोशनी, पृष्ठ संख्या- 40

लेखक ने टोडा लोगों के अन्य वर्गों का भी उल्लेख किया है यथा पोकान, पीकी, केन्ना कुल्तान और टुडी। इनमें पीकी वर्ग उच्च मानी जाती है। पीकी वर्ग के टोडा अंतरजातीय विवाह नहीं करते। यदि कोई युवक अंतरजातीय विवाह करता है तो भुंड में रहने वाले समस्त परिवार 'भुंड' छोड़ कर चले जाते हैं। ये लोग अपने लोगों की मृत्यु होने पर उसे जला देते हैं या दफना देते हैं। सामुदायिक समस्याओं के हल के लिए पंचायत का बैठना अनिवार्य है। इसे 'कट्टू' भी कहते हैं। टोडा आदिवासी आदिम जनजाति मानी जाती है। इस संदर्भ में संस्मरण का अभिधान सिद्ध प्रतीत होता है।

<u>5.1.6. आपातानीयों के बीच एक शाम:-</u>

आपातानियों के बीच एक शाम 'राघवेंद्र' का संस्मरण है। संस्मरण के केंद्र में अरुणाचल प्रदेश के आदिवासी हैं। संस्मरण के माध्यम से आदिवासियों के जीवन के विभिन्न पक्षों को उजागर किया गया है। सूर्योदय की भूमि अरुणाचल प्रदेश भारत के सुदूर पूर्व का एक ऐसा राज्य है, जहां प्रकाश की किरणें जीवन में नवचेतना एवं पवित्रता को भर देती हैं। इसी प्रदेश में अनेक जनजातियां वर्षों से अपनी विशिष्ट संस्कृति कला, परंपरा, वेशभूषा और अपनी बोली-भाषाओं को संभाले हुए एक साथ रह रही हैं। इनमें मुख्यतया आदिस, अक्स, अपातानी, निशी, तागिन, बोरी एवं बोकर आदिवासी समुदाय शामिल हैं। ये आदिवासी आज भी पुराने विश्वास एवं सूर्य और चंद्रमा की लोक परंपरा को धारण किये हुए हैं। यह धर्म दोनई-पोलो के नाम से जाना जाता है।

आपातानी ऐसा आदिवासी समुदाय है, जो अपनी विशिष्ट एवं स्वतंत्रत पहचान के लिए विश्वभर में जाना जाता है। यहां परंपरागत तरीके से बीयर बनाई जाती है जिसे 'पोका' कहा जाता है एवं बांस के पेड़ की जड़ से एक सफेद रंग का पदार्थ निकलता है जिसे निकालकर, बारीक काटकर एक से दो महीने के लिए छोड़ दिया जाता है उसके बाद तैयार व्यंजन को 'ईप' कहते हैं। इसे मेहमानों को पोका के साथ परोसा जाता है। आपातानी जहां रहते हैं उसे जीरो घाटी नाम से जाना जाता है। लेखक ने अपातानी समुदाय में शादी विवाह एवं घरों की बनावट का काफी अच्छे से चित्रण किया है- "मंदिर से लौटते हुए खेत में मिथुन दिखाई पड़ते हैं।

अरुणाचल प्रदेश जाएं और मिथुन की चर्चा न हो तो जाना बेईमानी है। मिथुन भैंसे जैसा एक जानवर होता है, जो लड़का लड़की को दहेज में देता है।जितने ज्यादा मिथुन विवाह में दिए जाते हैं उतनी भव्य वह शादी मानी जाती है। यह पुरुष की समृद्धि का प्रतीक है।"[12]

आपातानी लोग आज भी लकड़ी के घरों में रहते हैं- "आज भी अपने आदिम स्वरुप में लकड़ी के बने घरों में रह रहे हैं। घरों के बीच चौक में बापो है जो मैयको उत्सव का प्रतीक चिह्न है। मैयको वर्षा ऋतु में मनाए जाने वाला उत्सव है। घरों में येप(ओखली) में हुनी (मूसल) से चावल कूटते हैं। लकड़ी के घर इस तरह से बने होते हैं कि इनका फर्शतल जमीन से 4 फीट ऊंचा होता है। यह घर बांस व बेंत की लकड़ी से बने होते हैं।"[13] आपातानीयों की संपत्ति 'बंबू गार्डन' होते हैं। ये लोग घरों में ताला नहीं लगाते लेकिन बंबू गार्डन की पूरी सुरक्षा करते हैं।

अंत में लेखक चिंता प्रकट करते हुए उन आदिवासियों के कारनामों को उजागर करता है जो पैसे के लालच में अपनी संस्कृति से कट गए हैं। "यह एक चिंता का विषय है कि इन्हीं आदिवासियों के बीच से कुछ दलाल बन गए हैं जो बड़े-बड़े होटलों से संपर्क रखते हैं और आदिम स्वरूप को पर्यटकों को दिखाने के लिए लाते हैं। वहां की लड़कियां मुंबई के स्वप्न देखती हैं। आपातानी, लड़के लड़कियों के मादक और मोहक नृत्य दिखाते हैं। उन्हें कुछ मामूली सा मेहनताना देकर पर्यटकों के सामने परोस कर कमाई की जाती है।"[14] वर्तमान में यहाँ प्रगति का स्तर बढ़ा है। साक्षरता दर भी बढ़ रही है। प्रकृति के बीच आदिवासी जीवन की सादगी और निश्छलता पाठक के मन को हर लेती है।

5.1.7. बस्तर में कुछ दिन:-

चंद्रकांत देवताले ने अपने संस्मरण 'बस्तर में कुछ दिन' में बस्तर के आदिवासियों के जीवन के विविध पक्षों को उजागर किया है। इस लघु आकार के

12.अरावली उद्घोष, जून 2010, आपातानियों के बीच, पृष्ठ संख्या- 50
13.वहीं, पृष्ठ संख्या-56
14.वहीं, पृष्ठ संख्या-50

संस्मरण को पढ़कर लगता है कि पाठक खुद बस्तर से होकर आया है। लेखक ने प्रकृति की सुंदरता का चित्रण बखूबी खींचा है- "बाहर घूमने निकल आया।ओस टपक रही थी। पत्तियों पर ओस की बूंदे टपकने की आवाज बराबर सुनाई दे रही थी। इतनी और ऐसी हरियाली, भीगी हुई ऊँचे दरख्तों का सिलसिला चारों ओर पक्षियों की ध्वनि को अतिक्रमित करती मुर्गों की बाँग, ऐसा समय और प्रकृति की पूरी स्वतंत्रता दोनों में कहीं किसी पराई चीज का जरा भी हस्तक्षेप नहीं सब कुछ अद्‌भुत था और अद्‌भुत थी सम्मिश्रित वानस्पतिक गंध, फेफड़ों के भीतर प्रवेश कर रहस्य पूर्ण ढंग से रोमांचित करती।"[15]

आदिवासियों के जीवन में गति,लय और जीवंतता की झलक एक साथ देखने को मिलती है। वहां आदिवासी पुरुष एवं स्त्रियां अपनी जरूरत एवं श्रृंगार के सामान की खरीद करते है। यह हाट एक बड़े मैदान में लगती है। भुजिये, गुलगुले, काली जलेबी, चने-कुर्रे की ढिंग। एक हिस्से चूड़ियां बेचने वाली है, पोत की मालाए, घगड़ी में रखी चूड़ियां है। पंजाब-सिंध से आये कपड़े बेचने वाले, कपड़े को आदिवासी बोली में बोलकर बेच रहे थे। लेखक आदिवासियों के एक गांव में जाता है जहां घोटूल में विनोद करते युवक-युवतियों के बीच रात गुजारता है जो उसके लिए अविस्मरणीय पल था। घोटूल के पछड़ी में संगीत के उपकरण टंगे थे। मंद का रस पीते, चुंगी का धुआं उड़ाते, नृत्य और लोकगीतों का असर लेखक के दिमाग पर ऐसा होता है कि उसको लगता है बीसवीं सदी की सभ्यता कहीं खो गई।

जंगल और आबादी में जिस चीज की निर्बाध उपस्थित तुरंत पकड़ सकते हैं वो है करींदो का तंतु-जाल। बस्तर के आदिवासी चालाक हो गए हैं, वे बाहरी हस्तक्षेप से सावधान हो रहे हैं। उदाहरण के लिए कैमरा। आदिवासी स्त्रियां फोकट में फोटो नहीं लेने देतीं। संस्मरण में लेखक कुछ मसलों पर प्रश्न भी करता है और कुछ अपने विचार भी रखता है-"लोक संस्कृति की धारणा पर गंभीर विचार किए बिना.... ही उनके जीवन को उन्नत बनाया जा सकेगा।"[16]

15.अरावली उद्घोष, जून 2010, बस्तर में कुछ दिन, पृष्ठ संख्या-64
16.वहीं, पृष्ठ संख्या-66

संस्मरण में लेखक ने बस्तर के आदिवासियों के रहन-सहन, शिक्षा व्यवस्था के साथ वहां की संस्कृति का सुंदर दृश्य खींचा है।

5.1.8. जमीनी जंग के सहरिया:-

रमेशचंद्र मीणा कृत 'जमीनी जंग के सहरिया' संस्मरण मध्यप्रदेश के श्योपुर की सहरिया आदिवासी पर केंद्रित है। संस्मरण की शुरुआत लेखक सहरिया के सहराना से करता है। सहराना का अर्थ सहरियों की बस्ती से है। लेखक श्योपुर से दूर बसी सहरियाओं की बस्ती में जाता है जहां वह गंगाराम से मुलाकात करना चाहता है। गंगाराम सहरिया है और एकता परिषद के जिला अध्यक्ष हैं। लेखक उनसे मिलता है और विभिन्न मुद्दों पर बात करता है।

सरकार की सारी दूरदर्शिता अमीरों को फायदा, सुख-सुविधाओं को बनाने पर ही केंद्रित रही है इसी का चित्र लेखक ने बखूबी से खींचा है। जब वह श्योपुर से गंगाराम जी के घर जारहा होता है- "नहर के और खेतों के बीच बची खाली जगह में वन विभाग वालों ने रतनजोत का पौधा लगाके हरा भरा कर रखा था। रतनजोत के पौधों से हुई हरियाली को देखकर पारासर जी ने कहा-इन्होंने जगह का अच्छा उपयोग कर लिया है।यह आज के लिए नहीं भविष्य की ज्वलंत मांग को देखते हुए दूरदर्शी होने का परिचय वन विभाग ने दिया है।"[17]

आदिवासियों के भविष्य के साथ खिलवाड़ करने में इनको कोई परेशानी नहीं होती हैं। गंगाराम से मिलने के बाद लेखक सहरियाओं के विभिन्न मुद्दों पर बात करता है और सवाल करता है कि एकता परिषद ने उनके लिए क्या किया? एकता परिषद वाले अपने हक के लिए कैसे लड़े, इसके लिए सहरिया शिविरों का आयोजन करते हैं। सहरियों की यह नई बस्ती गांधी कॉलोनी नाम से जानी जाती है। गांधी आश्रम के बगल होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। ये आदिवासी करीब पच्चीस तीस वर्ष पूर्व आकर यहां पर बसे थे जहां अब 25 घर हैं।इस समय लगभग 35 परिवार वहां निवास कर रहे हैं। सरकारी धन से बनी कॉलोनी और एनजीओ के रूप

17.अरावली उद्घोष, जून 2010, जमीनी जंग के सहरिया, पृष्ठ संख्या-43

में एकता परिषद का सक्रिय होना ही इस बात को साबित करता है कि जंगल में रहने वाले सहरिया पक्के मकानों में आकर रहने लगे हैं। एकता परिषद ने सहरियों के लिए कई काम किये हैं। चरनोइ भूमि को सहरियाओ मे बांटकर पट्टे दिलवा दिये हैं। ट्यूबेल की व्यवस्था करवा दी है और एक-एक जोड़ी बैल दिए गए ताकि अपनी खेती करके आत्मनिर्भर हो सके।

लेखक जब गंगाराम जी से पूछता है कि आपका धर्म क्या है? तो उन्होंने निसंकोच बताया- "हमारा धर्म हिंदू है। हम हिंदू धर्म के सभी देवी-देवताओं की पूजा अर्चना करते हैं।" देवी देवताओं और हिंदू धर्म को लेकर इनका हिंदू करण हो गया है लेकिन यह वनवासी कल्याण परिषद जैसी संस्थाओं द्वारा शनै: शनै: थोपा गया हिंदूकरण है। यही कारण है कि इनकी अनेक आदिवासी प्रवृत्तियाँ आज भी पूर्ववत हैं।

संस्मरण में लेखक ने गैर-आदिवासियों द्वारा सहारियाओं की भूमि पर लोलुप नजर और सहारिया लोगों के संघर्ष को भी उल्लेखित किया है। बाबूलाल और नाथूराम का संघर्ष बाद में चलकर पूरे सहरिया आदिवासियों का संघर्ष हो जाता है। उसी तरह मायापुर निवासी डब्लू सहरिया और सुखदेव सिंह के बीच के संघर्ष को चित्रित किया है। डब्ल्यू सहरिया किस तरह अपने कब्जे की जमीन को बचाने के लिए न्यायिक लड़ाई लड़ता है, जो कि जमीन के लिए किये जा रहे संघर्ष का एक जीता जागता नमूना है।

5.1.9. सावधान, नीचे आग है!:-

मीणा आदिवासियों में दहेज की कुरीति का असर उभरकर सामने आ रहा है, उसके विविध पक्षों को आलोक में लाने वाला संस्मरण है केदार प्रसाद मीणा का 'सावधान, नीचे आग है!' लेखक के अनुसार किसी समाज के बारे में इमानदारी से सोचने के लाभ और हानि दोनों है और जब यही काम ईमानदार व्यक्ति द्वारा किया जाता है तो लाभ और हानि बढ़ जाती है।

मीणा समाज एक विकासशील समाज है लेकिन एक विकासशील समाज का जिस तरह मूल्यांकन किया जाना चाहिए उस तरह नहीं हो रहा है। मूल्यांकन के

नाम पर केवल गुणगान किया जा रहा है। दिल्ली में बैठे मीणा समाज के लोगों की यही स्थिति है या इससे भी खराब हालत में है। वे नेतृत्वकर्ता ना होकर ठेकेदार हो गए हैं। लेखक ने दिल्ली में मीणा समाज के संगठनों की कलई इस संस्मरण में खोल के रख दी है कि किस तरह अपने स्वार्थ के लिए इन लोगों ने अलग-अलग संगठन बना लिए हैं। कई तो बेटे बेटी की शादी करने के लिए संगठन में आते रहते हैं कि किसके घर शादी करने से दहेज अधिक मिलेगा। लेखक जब कहता है कि दहेज जैसी बुराइयों के खिलाफ ये लोग मंच से भी बोलते हैं तो लेखक का एक साथी कहता है- "कैसे बेवकूफ हो तुम, लाखों-करोड़ों का जो लेनदेन समाज में चल रहा है, वह तुम दे रहे हो या मैं दे रहा हूं, या हमारे भाई-बांधव जो गांव में रोजगार गारंटी के सौ दिन के काम से अपना पेट भर रहे हैं, क्या वे दे ले रहे हैं, लाखों करोड़ों रुपये का दहेज?"[18]

लेखक शांत हो जाता है और उसकी सवाल करने की हिम्मत जवाब दे जाती है। समाज के बारे में ईमानदारी से सोचने का लाभ यह होता है कि समाज नई ऊंचाइयों को स्पर्श करता है। उसमें एकता एवं परस्पर विश्वास मजबूत होता है। लेखक ने संस्मरण में दहेजखोर भ्रष्ट आदिवासी अधिकारियों को समस्या का मूल बताकर अपने आदिवासी समाज को सचेत करने का प्रयास किया है। लेखक खुद मीणा आदिवासियों में फैलती दहेज की समस्या के विरुद्ध लड़ाई छिड़ा हुआ है और उनकी इस पहल छाप संस्मरण पर भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

5.1.10. दहकते बुलबुले:-

सुरेंद्र नायक ने अपने संस्मरण 'दहकते बुलबुले' में बिहार के मुंगेर के आदिवासियों की खस्ताहाल स्थिति को उजागर किया है। इस छोटे से संस्मरण को पढ़कर लगता है कि आदिवासियों का पैदा होना ही गैरकानूनी और अपराध है।

संस्मरण में लेखक बैंक प्रबंधक के पद पर कार्यरत है जिसका स्थानांतरण आदिवासियों के गांव के पास की शाखा में कर दिया जाता है। बैंक प्रबंधन भी उस शाखा में युवा कर्मठ निर्भीक और साहसी प्रबंधक की नियुक्ति चाहता था। बैंक

18.अरावली उद्घोष, जून-2010, सावधान, नीचे आग है!, पृष्ठ संख्या-24

प्रबंधक के रूप में लेखक की छवि एक दबंग व्यक्ति की थी और लेखक को इसके बारे में भ्रम था। शाखा में पहले ही दिन लेखक की दबंग छवि का भ्रम टूटता रहता है।

संस्मरण में आदिवासियों की गरीबी और भूख का मार्मिक चित्रण किया गया है। लेखक को वहां की शाखा में काम करते हुए 15 दिन भी नहीं होते हैं, एक व्यक्ति आता है जिसका नाम 'बीनू हांसदा' था उसको दो व्यक्ति अपने कंधे से सहारा दिए होते हैं और वह बुखार की वजह से थर-थर कांप रहा होता है। लेखक उसके आने का मंतव्य पूछता है तो साथ वाले व्यक्ति ने कहा- "खंड विकास कार्यालय से स्वर्ण जयंती रोजगार योजना के अंतर्गत जो आवेदन पत्र भेजे गए हैं उसमें इसका भी आवेदन पत्र है। वह चाहता है कि वह ऋण जल्दी से जल्दी स्वीकृत हो जाए ताकि बकरियां पाल कर पेट पाला जा सके।"[19]

लेखक बीनू हांसदा के अलावा अन्य को ऋण के लिए जब उसके भौतिक सत्यापन के लिए उसके गांव में जाता है तो एक आदिवासी मिलता है जिसका नाम 'अनिल किस्कू' है। वह भी ऋण के लिए आवेदन किया है। लेखक जब अनिल के पास जाकर मिलता है तो देखता है कि वहां कई और आदिवासी घेरा बनाकर खड़े हैं और बीच में आग जल रही है और देखा कि एक अजगर का सिर कटा था और उसके बाकी के हिस्से को लोग खाने के लिए भून रहे थे। लेखक जब उनसे बोलता है कि शिकार करना तो गैरकानूनी है। इसपर अनिल किस्कू कहता है- "हाकिम, जमीन आपकी, जंगल आपके, कानून आपके, हमारा तो पैदा होना ही गैरकानूनी है।"[20]

आक्रोश का आवेग कब शालीनता को निगल जाए, इसलिए लेखक वहां से निकल जाता है और बीनू हंसदा के टोले पर पहुंचता है। बीनू के घर पहुंचने पर पता चला कि वह अभी डॉक्टर के पास गया है।उसके घर के सामने महुआ, गूलर और गोल-गोल मोटी रोटियां जैसी चीज सूख रही थी। पड़ोसी से पूछने पर पता चला कि- "ये पीली मिट्टी में नमक और तेल मिलाकर बनी रोटियां है जब खाने में कुछ नहीं होता है तो हम लोग यही खा लेते हैं, तीन-चार घंटे के लिए भूख सध जाती है।"[21]

19.अरावली उद्घोष, जून-2010, दहकते बुलबुले, पृष्ठ संख्या-16
20.वहीं, पृष्ठ संख्या-17
21.वहीं, पृष्ठ संख्या-17

लेखक ने मोटरसाइकिल बैंक की ओर वापस मोड़ दी और वह रास्ते भर सोचता रहा। बैंक के तो सामाजिक सरोकार हैं लेकिन बैंक कितना कर पाएगी। अंत में लेखक अपना इस्तीफा दे देता है और वापस लौट जाता है।तब तक व्यवस्था में सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन नहीं होगा, जब तक आदिवासियों की स्थितियों में सुधार नहीं होगा और बीनू हंसदा जैसे लोग भूख से मरते रहेंगे।

5.2. यात्रा वृतांत:-

यात्रा करना मनुष्य की मूल प्रवृत्ति रही है। यदि हम मानव इतिहास पर नजर डालें तो पाएंगे कि मानव सभ्यता विकास-यात्रा में यात्राओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जीवन में मनुष्य यात्रा के लिए कहीं न कहीं अवश्य जाता है। कुछ साहित्यिक रुचि रखने वाले व्यक्ति अपनी यात्रा के अनुभव व ज्ञान को पाठकों के लिए कलम बद्ध कर यात्रा-साहित्य में अपना योगदान देते हैं। यात्रा वृतांत एक रोचक विधा है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का सूत्र वाक्य "चरैवेति चरैवेति" मानव की यायावरी वृत्ति का सूचक है। "यात्रा-वृत्तों में हम दृश्यों, स्थितियों, व्यक्तियों और आधुनिक तकनीकी ज्ञान के बल पर निर्मित विविध विस्मयकारी परिदृश्य तथा इनके प्रति लेखक की अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं से साथ-साथ परिचित होते चलते हैं। लेखक की रुचि, संस्कार, मानसिकता और संवेदनशीलता के अनुसार यात्रा वृत्तों के बदलते रूपाकार हमारी राग चेतना को निरंतर उद्वेलित करते चलते हैं।"[22]

यात्रा साहित्य में यात्री अपनी यात्रा के प्रत्येक स्थल और क्षेत्रों में से उन्हीं क्षेत्रों का संयोजन करता है जिसको वह सत्य के रूप में ग्रहण करता है। बाह्य संसार की प्रतिक्रिया से उसके हृदय में जो भावनाएं उमड़ती हैं, वह उन्हें अपने संपूर्ण चेतना के साथ अभिव्यक्त करता है। संकलित सामग्री में आदिवासियों पर तीन यात्रा वृतांत साहित्यिक पत्रिकाओं में मिले हैं जिसमें दो वृतांत हरिराम मीणा द्वारा कृत है और एक सतीश जायसवाल द्वारा।

22.हिंदी का गद्य साहित्य, रामचंद्र तिवारी, पृष्ठ संख्या- 518

5.2.1. भुला बिलोरिया तक जहाँ सैकड़ो आदिवासी शहीद हुए:-

हरिराम मीणा कृत 'भूला-बिलोरिया तक जहाँ सैकड़ों आदिवासी शहीद हुए' यात्रा-वृतांत में राजस्थान की भील एवं गारसिया आदिवासियों के नरसंहार को दिखाया गया है। इस नरसंहार के पृष्ठभूमि में आदिवासियों के अनेक दुख-दर्द थे। जिनमें अकाल, रियासत व जागीरदारों के द्वारा ली जाने वाली बेगार, वन संपदा के उपयोग पर प्रशासन की पाबंदी, भारी भरकम लगान, अफसरों व कर्मचारियों द्वारा अन्य प्रकार के शोषण जिनमें आदिवासी महिलाओं का दैहिक शोषण भी शामिल था आदि प्रमुख थे। भूला बिलोरिया गांव राजस्थान के सिरोही जिले के रोहिड़ा थाने के अंतर्गत आता है। लेखक अपनी यात्रा 4 सितंबर, 2002 को अपने एक साथी सोहनलाल पटनी जी के साथ शुरू करता है। रोहिड़ा से आगे कुछ दूर पर रोहिड़ा नदी को पार कर दो किलोमीटर आगे शनवारा गांव में पहुंचता है। यहीं सेआरंभ होता है आदिवासी क्षेत्र। आदिवासियों के क्षेत्र से थोड़ा आगे चलने पर 'लिलुड़ी-बड़ली' स्थान पर रुकते हैं। यहीं पर 'गोली कांड' हुआ था। भूला बिलोरिया दो पड़ोसी गांव है जिसकी शुरुआत लिलुड़ी बड़ली से होती है। लिलुड़ी का अर्थ है हरा और बड़ली का बरगद। आदिवासी बोली में हरे बरगद को लिलुड़ी बड़ली कहते हैं। लेखक ने भूला जाते समय वहां के सौदर्य का अच्छा वर्णन किया है- "यह एक छोटी सी तलाई है एक तरफ भूला की ओर जाने वाला रास्ता है। शेष तीन तरफ पहाड़ियां पहाड़ियों का पानी इस तलाई में भर जाता है। इस बार बरसात कम होने की वजह से तलाई में गंदला-सा कुछ पानी भरा था। तलाई के दक्षिण और पूर्वी उठान पर एक पीपल का तथा अन्य पेड़ों पर आंवला, पलाश विलायती बबूल (जूलिया फ्लोरा) आदि थे। पश्चिम की ओर उठा हुआ पठारी स्लोप जिसकी दरारें एवं उभरी चट्टानों की बगल में उगी हुई थूर अन्य किस्म की झाड़ियां एवं नन्ही वनस्पतियां नजर आई, उत्तर में तलाई की कच्ची पाल है जो एनीकट की तरह बनाई गई है, मगर यह बहुत

पुरानी है। इस मुख्य स्थल पर बरगद का वृक्ष है.... लिलुड़ी बड़ली भी ऐसा ही दरख़्त है।"[23]

इसी लिलुड़ी-बड़ली तलाई पर 05 मई, 1922 को मोतीलाल तेजावत के अगुवाई में हजारों आदिवासी इकट्ठे हुए थे। अंग्रेजी सरकार और देसी रियासतों के शासकों ने मिलकर आदिवासियों का सामूहिक नरसंहार किया था। निहत्थे भील और गिरासियों पर अंधाधुंध गोलियां चलाई गई, जिसमें सैकड़ों आदिवासी हताहत हुए। मई माह में सूख चुकी तलाई आदिवासियों के खून से लाल हो गई। "आज भी यह तलाई, इर्द-गिर्द... अन्यथा घटना का आंखों देखा हाल अवश्य सुनाते।"[24]

मोतीलाल ने ऐक्या की घोषणा की। मुद्दा लगान का था। सरकार ने प्रत्येक परिवार से पाँच मणें मक्का या सवा रुपए की मांग की। आदिवासियों के लिए यह लगान चुकाना असंभव सा था। मोतीलाल आदिवासियों के हितैषी थे, उन्होंने गांव-गांव से लोगों को एकत्रित किया और एकता करने का आह्वान किया। लोग उनके ऐक्या आंदोलन से जुड़ते गये।

इस हत्याकांड के अगले दिन अंग्रेजी फौज ने पंचायत स्थल, भूला-बिलोरिया गांव और निकटवर्ती पहाड़ियों से लाशों को इकट्ठा कर बैलगाड़ी में लादकर आस-पास के गांव में घुमाया। ऐसा लोगों में डर पैदा करने के लिए किया गया। इस हत्याकांड ने क्रूरता के अन्य जघन्य हत्याकांड को पीछे छोड़ दिया। यह क्रूरतम हत्याकांड ब्रिटिश सत्ता एवं सिरोही के शासक महाराव स्वरूप सिंह की संयुक्त कार्यवाही थी। फौजी कार्यवाही का नेतृत्व राजपूताना के ए॰ जी॰ जी (गवर्नर जनरल का एजेंट) के सेक्रेटरी मेजर प्रिचर्ड ने किया था। मोतीलाल के नेतृत्व में हुई इस पंचायत में भील व गरासिया के इतर डूंगरपुर, उदयपुर, बांसवाड़ा एवं गुजरात सीमा से लगे आदिवासी शामिल हुए थे। मोतीलाल के अलावा मोतीरा भील और लाडूरा भील भीलों के प्रमुख नेता थे।उन दिनों का एक गीत इन दोनों भील संघर्ष नायकों को केंद्र में रखकर आज भी गाया जाता है-

---

23.कथादेश, जून-2003, भुला बिलोरिया तक जहाँ सैकड़ो आदिवासी शहीद हुए, पृष्ठ संख्या-30
24.वहीं, पृष्ठ संख्या-30

"ऐला टोपियों आयो रे.....

लाडूरो आयो रे......"[25]

अर्थात अंग्रेज आ रहे हैं, बंदूक से लैस हैं, औरत, मर्द और बच्चों को घेर लिया है। इन सब से मोर्चा लेने के लिए मोतीरा और लाडूरा आ रहे हैं, इसलिए कोई डरना नहीं।बाद में 1929 में महात्मा गांधी के कहने पर मोतीलाल तेजावत ने ईडर रियासत में आत्मसमर्पण कर दिया। इसके ठीक पहले वे सात वर्ष तक अज्ञातवास में रहे।

इस तरह के आदिवासी संघर्षों का रिकॉर्ड सरकारी दस्तावेजो में कम रखा जाता था या नहीं रखा जाता था। पत्राचार, फौजों की मूवमेंट से घटनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। या फिर प्रत्यक्षदर्शी गवाहों से जानकारी मिलने की गुंजाइश बनती है लेकिन क्षेत्रों में जो कथा-कहावतें चलती आयी, वे इसका प्रमाण मानी जानी चाहिए, क्योंकि लोक प्रचलित कहानी-किस्से सच्चाई की काफी निकट होते हैं।

5.2.2. मानगढ़: अनलिखे आदिवासी बलिदान के तहखानों तक:-

हरिराम मीणा का यह यात्रा वृतांत राजस्थान की भील आदिवासियों पर केंद्रित है। राजस्थान का दक्षिणी भाग अच्छी बारिश के लिए जाना जाता है। बांसवाड़ा को राजस्थान का चेरापूंजी कहा जाता है। सिरोही से माउंट आबू के आसपास विशेषकर गिरासिया और बागड़ क्षेत्र में भील व मीणा आदिवासी हैं। बांसवाड़ा से लगभग पचपन-साठ किलोमीटर पहले इगर पूर की अनरपुर तहसील के सांबला गांव के निकट माही और सोम नदी के संगम पर टापू आकार के उभरे पठार पर बटेश्वर धाम है, जहां हर साल माघ सुदी एकादशी का मेला लगता है। यह मेला पाँच दिन चलता है, जो आदिवासी कुंभ नाम से प्रसिद्ध है। भौतिक अभाव के बीच आदिवासियों की नैसर्गिक सभाओं का वर्णन करते हुए लेखक कहता है- "बीच

25.वहीं, पृष्ठ संख्या-40

में बागीदोरा कस्बों तथा मलवासा व वांसला.... निसंदेह उनकी परंपरागत प्रकृति थी।"[26] इस क्षेत्र में मानव के अलावा प्राणी जगत व प्रकृति काफी समृद्ध है।

लेखक एक आदिवासी युवक की सहायता से मानगढ़ पहुंचता है। यहां के आदिवासी "जय गुरु महाराज" कह कर लोगों का अभिवादन करते हैं। यह संबंधोन महान संग्रामी, आदिवासी समाज सेवक गोविंद गुरु के प्रति आस्था व श्रद्धा का प्रतीक है; जिनकी कर्म भूमि इस क्षेत्र की केंद्र भूमि मानगढ़ का पहाड़ रहा है। मानगढ़ की पहाड़ी पर ही वह हृदय विदारक घटना घटी थी जिसे इतिहासकारों ने कलम बद्ध नहीं किया। 1919 के जलियांवाला बाग हत्याकांड से पहले एक और जलियांवाला बाग हत्याकांड 1913 में हुआ था। गोविंद गुरु का जन्म 20 दिसंबर,1858 में डूंगरपुर रियासत के बासिया (बड़ेता) गांव की एक बंजारा परिवार में हुआ था। उन्होंने बचपन में गांव के पुजारी से पढ़ना-लिखना सीखा। आदिवासियों में चेतना पैदा करने के कारण गोविंद गुरु कहलाए। इन्होंने मानगढ़ की पहाड़ी पर एक यज्ञ आयोजित किया; लोगों को इसके माध्यम से इकट्ठा किया और उन लोगों तक अपनी बात पहुंचाई। इस क्षेत्र के विशेषकर बांसवाड़ा, डूंगरपुर, कुशलगढ़, सूथ, इडर रियासतों में गोविंद गुरु आदिवासी लोगों में धार्मिक, आर्थिक, सामाजिकएवं राजनीतिक चेतना का प्रसार कर रहे थे। गोविंद गुरु ने अभियान को सुनियोजित रूप देने के लिए 1905 में 'संप सभा' का गठन किया।

आदिवासियों की एकजुटता और विद्रोह को कुचलने के लिए सुंथ, बांसकड़ा, डूंगरपुर, संतरामपुर और ईडर रियासतों ने ब्रिटिश हुकूमत से निवेदन किया। अप्रैल 1913 में गोविंद गुरु को गिरफ्तार कर लिया गया लेकिन तीन दिन बाद उनको इस शर्त पर रिहा कर दिया गया कि वे डूंगरपुर राज्य सीमा में प्रवेश नहीं करेंगे। लेकिन वे कहां रुकने वाले थे।

17 नवंबर, 1913 को आदिवासी धार्मिक कार्य के निमित्त इकट्ठे हुए। किसी राजनीतिक कारण से नहीं, फिर भी अंग्रेज इस मौके का लाभ उठाना चाहते थे।

26.पहल, अप्रैल-मई 2002, मानगढ़ : अनलिखें आदिवासी बलिदान के तहखानों तक, पृष्ठ संख्या-118

कमांडेंट जे-पी स्टोक्ले के नेतृत्व में मेवाड़ भील कोर की दो, राजपूत रेजीमेंट व जाट रेजीमेंट की कंपनियों की फौज चुपचाप पहाड़ पर चढ़कर बिना किसी चेतावनी के आदिवासियों पर मशीनगनों से अंधाधुंध फायरिंग करने लगी। अंग्रेजी और देसी रियासतों के विरुद्ध मोर्चा ताने आदिवासियों में से डेढ़ हजार आदिवासी शहीद हो गए। लेखक कहता है –"उस दिन वक्त से पहले साँझ.... अरावली पर्वत पहले से ज्यादा धंसा था धरती में।"[27] गोविंद गुरु को गिरफ्तार कर लिया गया। 12 जुलाई, 1923 को उन्हें संतरामपुर से निष्कासित कर दिया जाता है। बांसवाड़ा, डूंगरपुर, संतरामपुर आदि रियासतों ने उनके प्रवेश पर पाबंदी लगा दी, फिर भी वह भील सेवा सदन झालोद के माध्यम से आदिवासी संघर्ष का अलख जलाते रहे। 30 अक्टूबर, 1931 को लिमड़ी (गुजरात) के निकट कंबोई गांव में निधन हो गया।

5.2.3. पलाश अरण्य में ढूंढता गाथा सूत्रः-

सतीश जायसवाल का यात्रा संस्मरण 'पलाश अरण्य में ढूंढता गाथा सूत्र' छोटा नागपुर के आदिवासियों पर केंद्रित है। लेखक के अनुसार छोटानागपुर का आदिवासी संदर्भ दो भागों में बटा हुआ है। प्रशासनिक और उच्च शैक्षिक मुख्यालय रांची में है जबकि सामाजिक और सांस्कृतिक केंद्र खूंटी में स्थित है। रांची पहले एक शांत,सुरम्य छोटा पहाड़ी नगर था लेकिन जबसे राजधानी बना है इसमें निरंतर बदलाव हो रहा है। लेखक के अनुसार रांची में बहुत बदलाव हो रहे और वे बदलाव केवल भौतिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक तौर पर भी हो रहे हैं। पढ़ा लिखा आदिवासी इस विकास को अच्छे से समझ रहा है इसलिए चीजों को अपनी जगह निर्धारित कर रहा है। लेखक, आदिवासी तथा गैर-आदिवासियों को लेकर जो द्वंद रच रहा है, उसकी तरफ इशारा करता है: "छत्तीसगढ़ जो कि नवगठित आदिवासी..... का द्वंद्व रचा जा रहा है।"[28] इस द्वंद के लिए भाषा और मूल्यों का प्रयोग अस्त्र के रूप में हो रहा है।

27.पहल, अप्रैल-मई 2002, मानगढ़: अनलिखे आदिवासी बलिदान के तहखानों तक, पृष्ठ संख्या-136
28.वागर्थ, अक्टूबर- 2002, पलाश अरण्य में ढूंढता गाथा सूत्र, पृष्ठ संख्या- 41

लेखक बिरसा मुंडा जन्मभूमि भी जाता है। उलीहातू व्यावहारिक अर्थ में बिरसा मुंडा के घर परिवार और नातेदारों का गांव है। इस गांव में लोग ईसाई धर्म या मिशन से जुड़े हैं। वे लोग अपने को बिरसा से अलग मानते हैं। ऐसा इसलिए कि बिरसा ने 'भगवान धर्म' अपना लिया था। अंत में लेखक स्थानीय हाट का चित्रण करते हुए अपनी इस यात्रा को समाप्त करता है।यात्रा संस्मरण में केवल ऊपरी वर्णन किया गया है ठोस आधार पर कोई जानकारी नहीं मिलती।

5.3. नाटक:-

भारत का आदिवासी समाज काफी उपेक्षित रहा है। यदि इसको जानने और समझने की कोशिश की गई तो सिर्फ मानवविज्ञान तथा समाजशास्त्र में। साहित्य, रंगमंच और अन्य कला में आदिवासी अनुपस्थित रहा है। कुछ रचनाएं साहित्य और रंगमंच में आई भी हैं तो उससे आदिवासी समाज की पूरी तस्वीर नहीं बनती। शास्त्रीय और पारंपरिक रंगमंच के भीतर अगर हम आधुनिक भारत के हिंदी रंगमंच को देखें, तो दो धाराएं साफ दिखाई पड़ती हैं। एक धारा प्रेक्षागृह के नाटकों की है तो दूसरी मुक्ताकाशी रंगमंच की। प्रेक्षागृह का झुकाव कलावादी और जनपक्षीय रहा है। आम और खास दोनों ही समाज कबीर की परंपरा के बावजूद तुलसी की रामायणी परंपरा के निकट ज्यादा रहा है। हिंदी समाज का बल स्वतंत्रता के उपरांत आत्मालोचना पर कम और आत्ममुग्धता पर अधिक है। "यह व्यक्ति केंद्रित आत्ममुग्धता हमें समाज और उसकी परंपरागत सांस्कृतिक विशेषताओं से अलग ही नहीं करता बल्कि हमारी संवेदनात्मक दृष्टि को कुंद करता है। भारत का हिंदी रंगमंच इसी आत्ममुग्धता का शिकार है और गैर-आलोचनात्मक दृष्टि के कारण आदिवासी, दलित और स्त्री विषयों से एक अभिजात्य और सामंती दूरी बनाए रहा।"[29]

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम अंतिम दशक के हिंदी रंगमंच पर दृष्टि डालते हैं, तो पाते हैं कि यहां मंचनो में ईमानदार छवियों का अभाव है। विशेषकर आदिवासी जीवन और समाज के संदर्भ में।

---

29. कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, रंगमंच पर आदिवासी अनुपस्थिति, पृष्ठ संख्या-220

इक्कीसवीं सदी में आदिवासियों को लेकर कई नाटकों की रचना हुई है। लेकिन साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशन ना के बराबर हुआ है। मेरी सामग्री संकलन में केवल दो नाटक प्राप्त हुए हैं। एक 'कोड़ा राज्य' और दूसरा 'आजादी के दीवाने' जो क्रमशः पक्षधर और युद्धरत आम आदमी पत्रिका में प्रकाशित हुए।

5.3.1. कोड़ा राज्य:-

विमल कुमार टोप्पो आदिवासी नाटककार हैं जिन्होंने 'कोड़ा राज्य' नाटक लिखा। आदिवासी साहित्य में नाटकों का विकास संघर्ष एवं आंदोलन के सिलसिले में हुआ। यह नाटक कुडुख भाषा में लिखित है। यह प्रतिरोध नाटक हमें आदिवासियों की विभिन्न समस्याओं से अवगत कराता है। प्रकृति की निर्मम मार, बेगारी, भुखमरी, साहूकारों के अत्याचार से मुक्ति की तलाश में अपनी भूईंहरी धरती को भी त्याग कर पलायन को मजबूर होना आदि पहलू इसमें उजागर होते हैं।

असम, बंगाल, भूटान को कुडुख में कोड़ा राज्य कहा जाता है। दो अंकों का यह नाटक आदिवासियों की समस्या को मुखरता से उठाता है। नाटक की शुरुआत में जमींदार का बेटा जगना जबरदस्ती आदिवासियों से अपना खेत जोतवाता है, तो साहूकार अपने लठैतों को लेकर वसूली पर निकलता है। इस अंक में आदिवासियों के खुद के घर में क्या-क्या अत्याचार हो रहा है दिखाया गया है। दूसरे अंक में आदिवासियों को कोड़ा राज्य में नौकरी के लिए ले जाया जाता है। वहां इनसे ईंट के भट्टे एंव चाय के बागानों में काम कराया जाता है और भरपूर शोषण किया जाता

स्त्रियों की इज्जत से खिलवाड़ किया जाता है, लेकिन इस ओर ध्यान देने वाला कोई नहीं है। यदि कोई आदिवासी इनके विरुद्ध आवाज उठाता है तो उनको जान से मार देते हैं। इस तरह की समस्या से छुटकारा पाने के लिए आदिवासी आज भी संघर्ष कर रहे हैं।

5.3.2. आजादी के दीवाने:-

अनीता पंडा के नाटक 'आजादी के दीवाने' में पूर्वोत्तर के मेघालय राज्य के आदिवासियों की स्वतंत्रता आंदोलन में भूमिका को दिखाया गया है। उनके लिए

आर्थिक स्वतंत्रता भी उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी की सामाजिक और राजनैतिक। नाटक में मेघालय के महान स्वतंत्रता सेनानी 'उ तिरोत सिंह' को अंग्रेजों द्वारा धोखे से पकड़कर ढाका जेल में बंद कर दिया जाता है और वहीं पर उनकी मृत्यु हो जाती है। नाटक खासी राजा उ तिरोत सिंह द्वारा प्रारंभ किए गए स्वतंत्रता आंदोलन की चिंगारी के बाद का है। तीन दृश्यों वाले इस नाटक का नायक उ कियांग है जिसे अंग्रेज पकड़ना चाहते थे। उ कियांग अपने देश की आजादी के रक्षा के लिए दृढ़ संकल्पित थे। आदिवासी, अंग्रेजों से सीधी लड़ाई नहीं लड़ सकते थे इसलिए वे छापामार युद्ध नीति का प्रयोग करते थे। उ कियांग के साथी गांव-गांव जाकर आदिवासियों को समझाते हैं और अंग्रेजो के खिलाफ स्वतंत्रता आंदोलन की लड़ाई के लिए तैयार करते हैं। लगभग पचास हजार क्रांतिकारी सैनिकों की फ़ौज तैयार हो जाती है जो छापामार युद्ध में निपुण है। साथ ही उनका निशाना भी अचूक है। ये सब क्रांतिकारी आदिवासी खासी- जयंतिया मुख्यालय जोपाई थाने पर धावा बोलते हैं और थाने में आग लगा देते हैं।

उ कियांग अंग्रेजों की आंखों के किरकिरी बने हुए थे। अंग्रेज उनको किसी भी तरह पकड़ना चाहते थे। ऐसे में एक गांव का मुखिया पैसों की लालच में अंग्रेजों से मिल जाता है जिससे आदिवासी घबरा जाते हैं। उनको समझाते हुए उ कियांग कहते हैं- "आप लोग विश्वास साहस रखिए और आशा से मेरा चेहरा देखिए। मातृभूमि की परतंत्रता की बेड़ियां काटने के लिए अपना संघर्ष जारी रखिए। एक दिन अवश्य सफलता मिलेगी। आजादी की एक छोटी सी चिंगारी आग की लपटें बनकर पूरे देश में फैल जाएगी और हम सब आजाद होंगे। री यांगई! जय मातृभूमि सभी-री यांग ई! यांग ई!"[30] भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन खड़ा करने में पूर्वोत्तर राज्यों के आदिवासियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आदिवासियों द्वारा लड़े गए स्वतंत्रता संग्राम ने गुलाम भारत में राजनीतिक संघर्ष को प्रेरित किया।

उपरोक्त संस्मरणों, यात्रा-वृत्तातों और नाटकों मात्र में आदिवासी जीवन को समाविष्ट नहीं किया जा सकता। इन पाठों को समग्रता में देखने पर रमणिका जी का एक कथन याद आता है- "आदिवासी साहित्य और आदिवासी समाज का संबंध

30.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-मार्च 2009,आज़ादी के दीवाने, पृष्ठ संख्या-68

अटूट एवं नजदीकी है। संभवतः आदिवासी समाज से आदिवासी साहित्य अलग रह ही नहीं सकता। आदिवासी साहित्य का एक भाग समझे जाने वाले 'लोक साहित्य' का आदिवासी समाज से बहुत निकट का संबंध है। इस संबंध की सदियां गवाह हैं। यही साहित्य उनकी प्रेरणा, प्रवृत्ति तथा जीवन-संघर्ष के दर्शन कराता है।"[31]

31.आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, सं० रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या-101

छठा : अध्याय

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता और आदिवासी लोक साहित्य

हमें आदिवासी सभ्यता और संस्कृति की जानकारी लौकिक आदिवासी साहित्य से भी मिलती है जिसमें काव्य, नृत्य, कला और चित्रकला आदि अंतर्भुक्त हैं। इसे लोक साहित्य (पुरखा साहित्य) के श्रेणी में रखा गया है। लोकगीत, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोककथा इत्यादि लोक साहित्य के अंतर्गत आते हैं। लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं से आदिवासियों के विशिष्ट सांस्कृतिक गुण-धर्म की जानकारी मिलती है। आदिवासियों की सामूहिक चेतना, सुख-दुःख, आशा-निराशा, संघर्ष, कल्पना और आकांक्षाओं आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण उनके पुरखा साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। साथ ही विभिन्न पर्व-त्योहार, उत्सव, अनुष्ठान, हर्ष-विषाद आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण भी पुरखा साहित्य में मिलता है। पुरखा साहित्य के आदिसृजन में जिनका योगदान रहा है उनके बारे में कोई भी जानकारी नहीं मिलती है। यह तथ्य लगभग सभी समाज के लोकसाहित्य के संदर्भ में सच महसूस होता है। पुरखा साहित्य कुछ आंशिक बदलाव के साथ समृद्ध होते हुए पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानांतरित होती आदिवासी आकांक्षाओं को विशुद्ध रूप से प्रतिबिंबित करता है। देश के विभिन्न भागों में आदिवासी अति प्राचीन काल से प्रकृति की गोद में जीवन बिताते रहे हैं। उनका जीवन प्रकृति पर आश्रित होता है, उनकी हर गतिविधि में प्रकृति शामिल होती है, जो आदिवासी संस्कृति को सांस्कृतिक धरोहरों में विशिष्ट बनाती है। अपनी इस विशिष्ट संस्कृति को कई आदिवासी समूहों ने सुरक्षित रखा है। आदिवासी रचनाएं वेशभूषा, रहन-सहन, गीत-संगीत, नृत्य आदि कलात्मक सौंदर्य से भरा हुआ है। ये रचनाएं देखने में साधारण सी लग सकती हैं लेकिन इनका समेकित प्रभाव हृदय को भावनाओं से ओत-प्रोत कर देता है।

लोक साहित्य शब्द 'लोक' और 'साहित्य' के योग से निर्मित है जिसका अभिप्राय लोक का साहित्य है। 'लोक' शब्द अंग्रेजी के 'folk' शब्द का पर्याय है और लोक साहित्य भी अंग्रेजी के folk literature का अनुवाद है। आदिवासी, अपने साहित्य को 'ऑरेचर' (वाचिकता) कहते है। 'ऑरेचर' की अवधारणा सर्वप्रथम युगांडा के आदिवासी लेखक पियो जिरिमू ने दी थी। इस अवधारणा को भारत समेत दुनिया भर के बहुत से आदिवासी लेखकों ने मान्यता दी। उनका मानना है कि आदिवासी दर्शन व साहित्य का आधार वाचिक यानि पुरखा साहित्य ही है। पुरखा साहित्य कहने के पीछे उनका तर्क है कि मौखिक या लोक साहित्य कहने से मालूम नहीं चलता कि किसका और कैसा लोक साहित्य? संसार के बहुत से समाजों में लिखित साहित्य से पहले मौखिक साहित्य की परंपरा रही है। इसी अंतर को दिखाने के लिए आदिवासी लेखक अपने मौखिक साहित्य को 'पुरखा साहित्य' कहते हैं। इसी क्रम वे इसे लोक साहित्य से अलग बताते हैं। इस संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं कि 'चूंकि आदिवासी समाज में बाहरी समाज की तरह लोक और शास्त्र का भेद नहीं है, इसलिए साहित्य को भी नहीं बाँटा जा सकता।'

आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्त्व है और मौखिक परंपराओं में मिलने वाले गीत, कथाएँ आदि भी पुरखों की ही देन हैं, इसलिए अकादमिक जगत में 'पुरखा साहित्य' को प्रायः 'लोक साहित्य' पद में अंतर्निहित माना जाता है किंतु आदिवासी समाज की विशिष्ट जीवन-शैली, संस्कृति और सामाजिक उपादानों को देखते हुए इस मौखिक परंपरा को 'पुरखा साहित्य' कहना तर्कसंगत है।

आदिवासियों का गान जीवन का गीत होता है। नृत्य का अवलंबन पाकर वे आनंदित हो उठते हैं। उनके पास विभिन्न अवसरों के लिए गीतों व कथाओं का दुर्लभ और अक्षय संकलन है। वे अपनी सरल, सहज भाषा-बोली में भाव-प्रदर्शन

और विचारों की प्रस्तुति बहुत ही विलक्षण ढंग से करते हैं। लोकगीत, लोक कथाएँ, नाटक, पहेली आदि उनके लोक साहित्य की पूंजी है, जिसे वे सुनते-सुनाते और दोहराते आये हैं। इनके गीतों के शब्द भले ही सरल हों लेकिन भावों की उत्कृष्टता में कोई कमी नहीं आने देते हैं। स्त्रियों के जीवन का भावप्रद वर्णन इनके साहित्य में है। स्त्रियाँ, लोकगीतों की गतिशील संस्थान होती हैं और गीतों से उनका ऐसा लगाव है कि उसे नहीं छोड़ना चाहती हैं। शायद ही कोई ऐसा अवसर होता होगा जिसमें वे नृत्य-संगीत न लेकर चलती हों।

अपने सशक्त संगठन और रुचिर जीवंतता के कारण आदिवासी साहित्य पिछली कई शताब्दियों से जीवित है। हिंदी के अतिरिक्त विभिन्न आदिवासी भाषाओं में आदिवासी साहित्य लिखा जा रहा है, जिससे हिंदी तो समृद्ध हुई ही है; साथ ही आदिवासियों की संस्कृति, परंपरा, बंधुता, समानता तथा स्वतंत्रता के सूत्रों को हिंदी क्षेत्र ने स्वीकार भी किया है। इससे हिंदी भाषी मानस के नजरिये में परिवर्तन लाने में मदद भी मिल रही है।

आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी, सह-अस्तित्व का अभ्यस्त, ऊंच-नीच, भेदभाव व छल-कपट से दूर है। वह संपत्ति के संग्रह की प्रवृत्ति से मुक्त है। वह किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोधी तथा समानता का पक्षधर है। उक्त सभी की अभिव्यक्ति आदिवासी साहित्य में हुई है।

आदिवासी समाज के बारे में साहित्य में आजादी के पहले से ही लिखा जा रहा है लेकिन इसमें तेजी आजादी के उपरांत देखने को मिलती है, विशेषकर पिछली शताब्दी के अंतिम दशकों में। देश की छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में कविता, कहानी, उपन्यास और चिंतनपरक लेखों, विचारों आदि के माध्यम से आदिवासी साहित्य को विकसित और समृद्ध करने की कोशिश की जा रही है जिससे हिंदी भाषा में आदिवासी साहित्य के प्रति जिज्ञासा और विचार-विवेचन के प्रति

गंभीर साहित्यिक स्वीकृति मिली। आदिवासी साहित्य रचाव-बचाव का साहित्य है; उसमें नई चेतना का भाव परिलक्षित होता है। उनका अपना साहित्य समाज के जीवन-संघर्ष तथा समस्याओं सहित सभ्यता, संस्कृति और भाषा आदि को सामने लाने का मजबूत जरिया है। आदिवासी समाज अपनी जीवन-शैली, पर्व-त्योहारों एवं विभिन्न उत्सवों के माध्यम से सभ्य समाज को आकर्षित करता रहा है।

आदिवासी साहित्य के उद्भव के विषय में निश्चित तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता। साहित्यिक संदर्भों में आदिवासी साहित्य अभी अपने रूप को गढ़ने की प्रक्रिया में है इसलिए इसकी निश्चित व्याख्या करना भी कठिन है। ऊपर बताया गया है कि पिछली कई शताब्दियों से आदिवासियों के यहाँ लोक-कथाएँ, लोकगीत, कई प्रकार की लोकोक्तियाँ, कहावतें विद्यमान थीं। पाँचवें आदिवासी साहित्य सम्मेलन में प्रसिद्ध मराठी आदिवासी साहित्यकार वाहरू सोनवणे ने कहा था- "लिखित ही केवल साहित्य होता है यह कहना ही आदिवासियों की दृष्टि से गौण है। साहित्य और कला, साहित्य और जीवन - इनके बीच जो दीवारें समाज में खड़ी की जाती है, उन दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है। इन व्याख्याओं को बदलना जरूरी है क्योंकि आज आदिवासी समाज में कई कथाएँ, लोकगीत और नाटक तथा अनेक अन्य कलाएँ विद्यमान हैं जिन्हें शब्दबद्ध नहीं किया गया है। हजारों वर्षों से चली आ रही परंपराएँ कभी भी थमी नहीं। वे परंपराएँ आज भी मौखिक रूप में आदिवासी जनजीवन का अभिन्न अंग बनी हुई हैं। फिर इसे 'साहित्य' कैसे नहीं कहेंगे? जो कलाकृति हृदय से निकलकर हृदयों तक पहुँचती है और मानवी जीवन सजाती-सँवारती है वह कलाकृति (रचना) लिखित हो अथवा अलिखित हो, उसे साहित्य कहना चाहिए।"[1]

1.साहित्यमाला योजना, आदिवासी विमर्श,(DSK-II 2015) आदिवासी साहित्य इतिहास बोध, पृष्ठ संख्या 59,

साहित्य की लिखित विधाओं के अतिरिक्त लोकगीतों, कथाओं, शौर्यगाथाओं में आदिवासी समाज का आश्चर्यजनक चित्रण मिलता है जिसका उल्लेख आगे किया गया है।

6.1.आदिवासी लोकगीत:-

आदिम काल से ही आदिवासी समाज विभिन्न आक्रमणकारी जातियों के संघर्षों का शिकार बना है। ऐसे रक्त-रंजित संघर्ष आदिवासी समाजों के एकाकी जीवन को और अधिक एकाकी बनाते गये। आदिवासियों को विस्थापित होकर जंगलो-पहाड़ों में शरण लेनी पड़ी। आदिवासियों का सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन कमजोर होने लगा। आदिवासी अपनी जगह से विस्थापित हुए थे, अपनी संस्कृति, सभ्यता और परम्परा से नहीं। लोक साहित्य जिसे पुरखा साहित्य भी कहा जाता है और जिसमें लोकगीत, लोककथाएँ, लोकोक्ति आदि निहित हैं, आदिवासी समाज की बहुमूल्य थाती है। आदिवासी लोकगीतों का साहित्य-परम्परा में श्रेष्ठ स्थान है। इसमें भावनाओं के समुचित समावेश के साथ उनका व्यापक विकास भी हुआ है। “आदिवासी गीतों में कला व अनुभूति दोनों होती है। भावनाओं के प्रबल आवेश में हृदय में दबी पीड़ा पिघलकर फूट पड़ती है और गीत का जन्म हो जाता है। यही कारण है कि इनके गीतों में कहीं कोयलों की कूहू-कूहू की ध्वनि सुनाई देती है, तो कहीं मोरों की, कहीं नदी-नालों और झरनों की कलकल ध्वनि सुनाई देती है तो कहीं सावन की वर्षा हमें भिगोती है, तो कहीं प्रचण्ड मार्तण्ड की भीषण ऊष्मा महसूस होती है। 'प्रेम' इनके जीवन का आधार है- गीतों में लौकिक प्रेम की धाराएँ बहती दृष्टिगत होती है। कहीं प्रेमिका प्रेमी की प्रतीक्षा करती है तो कहीं पर अभिसार का निमंत्रण मिलता है। तो कहीं प्रेमलीला की मधुर स्मृति में आकुल-व्याकुल है। यह सब कहीं प्रतीक रूप में गुंथी गई है, कहीं खुला श्रृंगार है। कहीं धूप में काम करते, घास तथा लकड़ियों का

गठ्ठर सिर पर उठाये दौड़ते-भागते गीत गाये जाते है इनका जीवन गीत, नृत्य तथा प्रेम के त्रिवेणी संगम हैं। दिनभर के थके मांदे होने पर भी शाम को पीना, गाना, नाचना, हमेशा का काम है। मेलों व त्यौहारों के खूब गीत हैं।"[2]

इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि सुख-दुःख, हास्य-व्यंग्य, दया-ममता, शौर्य, उत्साह, प्रेम, वैराग्य इत्यादि समस्त मानवीय गुणों-अवगुणों की सबलता तथा दुर्बलताओं के भावों का वर्णन आदिवासी लोकगीतों में बिलकुल स्पष्ट और मनोनुकूल तरीके से प्रतिबिंबित हुआ है।

लोकगीत मानवीय भावनाओं से संबंधित होने के कारण परिवर्तनशील होते हैं इसलिए उनका वर्गीकरण आसान काम नहीं है। मैंने उपलब्ध शोध-सामग्री के आधार पर संबंधित लोकगीतों का विभाजन करने का प्रयास किया है।

6.1.1. आदिवासी लोकगीतों में स्त्री:-

संसार के सभ्य समाज की अपेक्षा आदिवासी समाज में स्त्री और पुरुष के बीच बराबरी का भाव दिखाई देता है। उनके यहाँ लड़के का जन्म हो या लड़की का, दोनों का समान रूप से स्वागत होता है। इसके पीछे कई कारण हैं जैसे कि आदिवासी समाजों का मातृसत्तात्मक होना, दहेज प्रथा का न होना। पिता को धन संचय करने की व्यर्थ की चिंता नहीं रहती इसलिए लड़के और लड़की का सत्कार बराबर होता है। संताल आदिवासियों में लड़की के जन्म के बाद उसे अपने पुरखों को समर्पित कर उसके लिए आशीर्वाद मांगते हैं। घर में बेटी के जन्म के अवसर पर एक संताली लोकगीत द्रष्टव्य है-

"ओहाय आपे गे आपे गे दाय दादा को

आपे गे आपे गे बोंगा बुरू को

2.अरावली उद्घोष, जुलाई-दिसम्बर 2014, आदिवासी साहित्य का उद्भव,विकास तथा स्वरुप, पृष्ठ संख्या-30

ओहाय आपे लागित नोवा ओड़ाक् रे

कुड़ी गिदराय उपेल आकाना

ओहाय आपे बाड़े नोवा धरती पुरी रे

हारा को माय बुरू कोक् माय”[3]

अर्थात् अपने पूर्वजों से लड़की के माता-पिता कहते हैं कि हे पुरखा लोग, आप ही के लिए हे ईश्वर, आप ही के लिए यह लड़की इस घर में पैदा हुई है। आप ही लोगों के लिए इस धरती में बड़ी हो जाए और पृथ्वी की तरह उसका हृदय विशाल हो। लड़की के माता-पिता अपने पूर्वजों से प्रार्थना करते हैं कि यह लड़की आपके वंश को आगे बढ़ाएगी। अतः जब तक यह इस दुनिया में रहे आप लोगों की कृपा बनी रहे।

बेटी की परवरिश, पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से किया जाता है। उसके शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के विकास का पूरा ध्यान रखा जाता है। उसका स्वास्थ्य बना रहे इसलिए खाने-पीने की समुचित व्यवस्था की जाती है। माता-पिता दोनों हमेशा इस बात का ध्यान रखते हैं। माता कहती है-

“कोद टुसा होड़मो बिटी

बाहा लेकान मुठान

चेदाक् बिटी गोसोयेन ताम

दाकाञ थोड़ा केत में

नुतूञ थोड़ा केत में

कोद तुसा होड़मो बिटी मुलिन एन ताम

तोआञ थोड़ा केत में से

दोहेञ थोड़ा केत में

3.आदिवासी साहित्य, अप्रैल-जून 2016, आदिवासी लोकगीतों में स्त्री, पृष्ठ संख्या- 22

बाहा लेकान मुठान बिटी मुलिन एन ताम
ने बिटी दाका बिटी
ने बिटी नुतू
कोद तुसा होड़मो बिटी आलोम ढिलाउताम
ने बिटी तोवा बिटी
ने बिटी दाहे
बाहा लेकान मुठान बिटी नालोम बाड़िजताम”[4]

आदिवासियों में जामुनी वर्ण की अपनी अहमियत है। आदिवासी लोग भी ज्यदातर इसी रंग के होते हैं। यही रंग उनके लिए सुन्दर है। आदिवासी लोक गीतों में इस रंग का बड़ा महत्व है। माँ अपनी बेटी से कहती है कि जामुन की तरह सुन्दर तुम्हारा शरीर और फूल की तरह चेहरा है लेकिन तुम्हारा चेहरा मुरझाया क्यों हैं? क्या मैंने दूध-दही कम दी हूँ या खाने में कोई कमी की है। बेटी तुम सब्जी लो, भात लो परन्तु अपनी शरीर की सुन्दरता को मत बिगाड़ो। इस लोकगीत से यह स्पष्ट होता है कि आदिवासी सौन्दर्य के प्रतीक के रूप में जामुनी रंग का चुनाव करते है और उनके यहाँ हर रंग सुन्दर होता है न कि सभ्य समाज की तरह काला केवल कलंक का प्रतीक है।

आदिवासी समाज में स्त्रियाँ सभी कामों में हाथ बटाती हैं, चाहे वह घर में हो या बाहर। वे स्वालंबी और आत्मनिर्भर होकर जीना चाहती हैं। वे कपड़े बुनने से लेकर खेत में साग-सब्जी उगाने तक की सलाह देती हैं-

“बेड़ा रे कासकोम एराबोन में
बाबोन ताहेंना गांदुर-गापुर
रिदू ताबोनाञ - ताकोय ताबोनाञ
तिञ आबोनं मेकं भोरोम दापाल”[5]

4.आदिवासी साहित्य, अप्रैल-जून 2016, आदिवासी लोकगीतों में स्त्री, पृष्ठ संख्या 23

5.वही ,पृष्ठ संख्या- 27

गीत में एक पत्नी पति से कहती है कि कपास की खेती करो। हम लोग गरीबी में जीवन नहीं बिताएंगे। खेत में पैदा हुए कपास को मैं धुनकर सूत कातूंगी और उससे तुम कपड़ा बनाना। ताकि हम अपनी रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा कर सकें। इस गीत से यह भी स्पष्ट होता है कि आदिवासी समाज में प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

आदिवासी लोक गीतों में आदिवासी स्त्री के जीवन के हर पहलू का समावेश है। स्त्री के दुःख का वर्णन एक आदिवासी लोकगीत में हुआ है, जिसमें अपने प्रेमी से धोखा खाने के बाद आदिवासी स्त्री की मनोदशा का चित्रण हुआ है। वह शादी के बाद स्त्री को छोड़ कर चला जाता है-

"चाक् ना दुन्दुरपुली

दुन-दुन एम तेंगो आकाना

ए दादा चामका दादा

हाना टोना रेञ जावांय लेना,

बागी किदिञाय दादाय बागी किदिञा"[6]

अर्थात् हे बहन तुम इतनी उदास क्यों हो? तुम्हारे बाल अस्त-व्यस्त हैं। इस पर स्त्री अपनी व्यथा कहती है कि क्या कहूँ दादा, भईया मैंने गाँव के उस टोले के एक व्यक्ति से प्रेम किया, विवाह किया लेकिन उस बेदर्दी ने बिना किसी वजह के मुझे छोड़ दिया।

दुनिया के किसी भी समाज में माँ का स्थान सबसे ऊँचा और श्रेष्ठ है। माँ के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। प्रायः आदिवासी समाज मातृसत्तात्मक हैं और उनके यहाँ भी माँ को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है-

6.युद्धरत आम आदमी, जनवरी 2014, संताली लोकगीत, पृष्ठ संख्या-71

“नायो बाबा दो ना दाय ना

माची चेतान रेलाङ दोहो किना

नायो निया दायना मानवाँ जोनोम।”[7]

अर्थात् एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि हम लोग अपने माता-पिता को पलंग पर बैठा कर रखेंगे। उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देंगे, क्योंकि मां के द्वारा ही जीवन संभव हो पता है।

आदिवासी लोकगीतों में स्त्रियों का सम्पूर्ण जीवन दिखाई देता है। ये गीत स्त्रियों को विभिन्न संस्कार देते हैं। हर परिस्थिति और काल में उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं। ये गीत एक तरफ जहाँ स्त्रियों की खुशी को अभिव्यक्त करते हैं वहीं दूसरी तरफ दुख या पीड़ा में होने पर धीरज बढाते हैं और शुभ कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए ये गीत आस्था, विश्वास, अनुराग और प्रेरणा के पुंज हैं।

6.1.2. क्रांति के गीत:-

औपनिवेशिक काल के आदिवासी लोकगीत स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास पराधीनता की वेदना और शोषण की कड़वाहट को प्रकट करता है। इतिहास का यह अध्याय देश के लिए प्राण उत्सर्ग करने वाले वीर शहीदों के रक्त से रंजित है, साथ ही सत्य, अहिंसा और शांति के रास्ते पर चले सत्याग्रह के औजस्य से भी भरा पड़ा है। आज़ादी की लड़ाई में समाज के सभी वर्गों ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया। इस संदर्भ में देश में नवजागृति लाने के क्रम में पत्रकारों, लेखकों एंव लोक कलाकारों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अपनी रचनाओं में रचनाकारों ने सशस्त्र और भूमिगत क्रांतिकारियों से लेकर सत्य और अहिंसा के अनुयायी और सत्याग्रहियों, आम जन के आजादी में योगदान को उजागर किया।

7.आदिवासी साहित्य, अप्रैल-जून 2016, आदिवासी लोकगीतों में स्त्री, पृष्ठ संख्या-29

औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश हुकूमत से मुक्ति पाने के लिए देश के सभी राज्यों में ऐसी साहित्यिक रचनाएँ रची गईं जिससे राष्ट्रीय चेतना जगी। विभिन्न भाषाओं के प्रतिष्ठित रचनाकारों ने देशप्रेम की भावना से ओत-प्रोत रचनाओं के माध्यम से पराधीनता को अभिशाप बताया तथा आज़ादी हासिल करने के वास्ते संघर्ष एंव प्राणों के बलिदान करने की प्रेरणा दी। देश की प्रमुख भाषाओं के अलावा लोक भाषाओं एंव आदिवासियों की भाषा-बोली में भी राष्ट्रीय चेतना को जगाने एवं उत्तेजित करने वाली रचनाएँ रची गईं। यह कहना सही होगा कि मुख्यधारा की भाषाओं की रचनाओं का विस्तार बुद्धिजीवी वर्ग तक परिसीमित था किंतु लोक भाषाओं और आदिवासियों की बोली-भाषा में रचित गीत देश के आम जनमानस के अपने गीत बन गये थे। विभिन्न अवसरों पर लोकगीत घरों में गाए जाते हैं उसी प्रकार आजादी की लड़ाई का बखान करने, देश की जनता को संघर्ष के लिए प्रेरित करना तथा अमर शहीदों का सम्मान करने वाले लोकगीत उस समय के राष्ट्रीय चेतना के संस्कार गीत बन गये थे।

आदिवासी संस्कृति में गीत-संगीत की विशेष परंपरा रही है। उनका कोई भी पर्व-त्यौहार, अनुष्ठान आदि जीवन का हर सोपान बिना गीत और संगीत के पूरा नहीं होता। क्षेत्रों में परंपरागत आदिवासी गीतों की स्वरों की ध्वनि निरंतर कंपायमान होती रहती है। आदिवासी अंचलों में मुख्यधारा के क्षेत्रों से पहले ही अंग्रेजों के खिलाफ आजादी की लड़ाई का बिगुल बज चुका था। अंचलों में आदिवासियों की बोलियों के लोकगीतों में पहले उनके क्षेत्रों में चल रहे विद्रोह के स्वर गुंजायमान थे फिर जोर पकड़ रहे स्वाधीनता आंदोलन के स्वर भी गीतों के माध्यम से लोक में गूंजने लगे। इन गीतों में जहाँ एक ओर अपने नायकों की वीरता का ओजपूर्ण गुणगान था तो दूसरी ओर स्वतंत्रता की लड़ाई में लोगों को भाग लेने के लिए प्रेरित करना भी शामिल था।

आदिवासियों की देशभक्ति और स्वतंत्र चेतना के गीत विभिन्न आदिवासी बोलियों यथा– संथाली, गोंडी, उरांव, भीली, बैगा आदि में मिलते हैं। इन गीतों की विषय वस्तु आदिवासी विद्रोह तथा स्वाधीनता की लड़ाई की घटनाएँ हैं।

देखा जाए तो अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर आज तक आदिवासी, बाहरी हस्तक्षेप के कारण भूमि-व्यवस्था के बिखराव एंव सांस्कृतिक बदलाव की चुनौतियों के प्रतिक्रिया में कई आंदोलन हुए हैं। स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास को देखा जाए तो इसमें आदिवासियों के संघर्ष और उनके नायक गुमनाम हैं, लेकिन आदिवासी लोकगीतों में उनकी उपस्थिति सहज रूप में दिखाई देती है। इस संदर्भ में राकेश कुमार सिंह लिखते हैं- "भाषा का समुचित विकास न होने के कारण आदिवासी साहित्य में महत्वपूर्ण कागजी लेखन संभव नहीं हो सका। आदिवासी लोकगीतों में स्वाधीनता आंदोलन से संबंधित छिट-पुट उद्गार अवश्य मिलते हैं।"[8] इस सन्दर्भ में संथाल आदिवासियों के यहाँ गाए जाने वाला गीत द्रष्टव्य है-

"पायेल लगेत सेदाय लेकां बेतावेतेत्
जाम रुपोड़ लागित
तउबे दो-बोन छूल गोया हो..."[9]

अर्थात् पहले जैसा जंगल और अपने अधिकारों को फिर से प्राप्त करने के लिए हम विद्रोह करेंगे।इसी प्रकार संथाल क्रांति से संबंधित एक अन्य लोकगीत बहुचर्चित हुआ था जो उस समय बहुत गाया जाता था-

"हेन्दे रम्बड़ा केचे-केचे
पुण्डी रम्बड़ा केचे-केचे
सामरे हिज़ूले नाको मार गोयेकोये..."[10]

अर्थात काले दीकू अर्थात् जमींदार और महाजन-टेढ़े-मेढ़े! गोरे दीकू-अर्थात् अंग्रेज और बहिरागतसाहूकार भी टेढ़े-मेढ़े। जो तुम्हारा सामना करे उसका सिर काट डालो।

8.कथाक्रम, अक्तूबर-दिसम्बर 2014, स्वाधीनता आंदोलन और आदिवासी साहित्य, पृष्ठ संख्या-67

9.वहीं, पृष्ठ संख्या-67

10.वहीं, पृष्ठ संख्या-67

अंग्रेजों से लोहा लेने वाले शहीद वीर बुधु भगत का नाम आदिवासी समाज में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। बुधु भगत छोटा नागपुर के कोल विद्रोह के नायक थे। इस विद्रोह की तुलना 1857 की क्रांति से भी की जाती है। यह विद्रोह केवल कोलों का विद्रोह नहीं था अपितु ब्रितानी हुकुमत के खिलाफ स्वाधीनता का आंदोलन था, जिसमें आदिवासियों के साथ छोटा नागपुर के धरती पर पले बढ़े सभी जाति-धर्म के लोग शामिल थे। इस सन्दर्भ में पी.सी.राय चौधरी सिंहभूम जिला गजेटियर में लिखते हैं - "The Kol revolt was indeed a national movement of the aboriginals. It had more right to be regarded as a freedom struggle by the half civilized jungle folks than the movement of 1857. It was a widespread revolt of different sections of aboriginal people in Singhbhum, Chotanagpur and the adjoining territories as a protest against the inequities, inefficiency and maladmi- nistration by the British."[11]

अपने आत्मविश्वास, दृढ़ संकल्प और बहादुरी के दम पर बुधु भगत ने अंग्रेजों से लोहा लिया और उनके छक्के छुड़ा दिये थे। अंग्रेजों को इस अप्रत्याशित विद्रोह को दबाने के लिए अन्य जगहों से अपनी फ़ौज बुलानी पड़ी लेकिन वे बुधु भगत का बाल बांका नहीं कर सके। बुधु भगत और उनके साथियों की वीरता से भरी कहानी आज भी लोकगीतों मे सुनी जा सकती है, जो उनकी शहादत की लोकप्रियता का प्रतीक है। एक लोकगीत इस प्रकार हैं-

"टिको के डांडे में आजादी की खातिर

अनेक वीरों ने जान दे दी

अनेक वीरों ने काया गंवा दी

11.Bihar District gazetteer Singhbhum by P.C Roy Chaudhury, indianculture.gov.in/flipbook/3450, Pg.No.83

सिला गमीक बुधु वीर तानडका बिरसा भगवान है

अपने राज के खातिर जाने दे दी

अपने देश की खातिर काया गंवा दी

अपने राज की खातिर जान दे दी

देश की खातिर अपनी काया गंवा दी

रुमियाँ झुनियाँ दोनों बहिनों ने

राज के खातिर अपनी जान देदी

देश की खातिर अपनी काया गंवा दी

भाइयो बहनो इन्हें मत भुलाना।

तेरा राज वापिस आया है

तेरा झारखण्ड भी लौट आया है।" [12]

कोल विद्रोह के अंत हो जाने के उपरांत 'कोल्हान स्टेट' का निर्माण और उसके लिए अलग प्रशासनिक ढांचा तैयार किया गया, जो आदिवासियों की स्वायत्तता और स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने में मील का पत्थर साबित हुआ। कोल्हान के आदिवासी जमींदारों से मुक्त हो गये और सीधे अंग्रेजी शासन के साथ संवाद करने तथा अपने क्षेत्र में कानून व्यवस्था बनाये रखने में सक्षम हो गये, जिसके गीत आज भी गूंजते हैं-

"सिंगभूमि हासारेबु जोनोमलेना

सिंहलेकन पाइटिबु रिका गेया

जोनोम नेनगा, दिसुम नेलगा

किलिमिलिबु सेवा सिंगारेया।" [13]

12.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर 2013, अमर शहीद वीर बुधु भगत, पृष्ठ संख्या-64

13.युद्धरत आम आदमी, दिसंबर 2013, उलगुलान की कथा यात्रा, पृष्ठ संख्या-56

अर्थात् : हम लोगों का जन्म सिंहों की भूमि अथवा सिंगबोंगा के प्रदेश में हुआ है। हम लोगों को शक्तिशाली सिंहों की तरह कार्य एवं व्यवहार करना चाहिए। हम अपनी मातृभूमि सिंहभूम के लिए अच्छे-अच्छे काम करें और अच्छाई से इसे सजाएं, इसका श्रृंगार करें।

इसी प्रकार 1832 में छोटानागपुर में नए जागीरदारों और अंग्रेजों के अत्याचार से परेशान होकर मुण्डा आदिवासियों ने विद्रोह किया था। इन मुण्डा आदिवासियों ने अपने कार्य को अंजाम देने के लिए सिंहभूम जिले के सदोम गुटु पहाड़ पर एक बैठक की, जिसमें कई मुण्डा नेताओं समेत तीन हजार लोग शामिल हुए। बैठक में यह निर्णय लिया गया कि छोटानागपुर से सभी अत्याचारी दिकुओं को भगाना है।

अब जगह-जगह मुंडाओं द्वारा अत्याचारी दिकुओं पर हमला शुरू हो गया। चारों ओर तोड़-फोड़ और आगजनी फैल गई। विद्रोह को दबाने के लिए 14 फरवरी 1832 को कलकत्ता से कैप्टन इम्पे पाँच हजार सिपाहियों के साथ शिलगाँव में पहुंचकर मुंडाओं के नेता भगत सिंह के सहित सैकड़ों मुंडा आदिवासियों को मार डाला और कई गाँवों को जला दिया। इसके बाद वह विद्रोहियों की खोज में सेलूदा, गोवा तथा कलगांव में पहुंचा, जहाँ उसे स्त्री और बच्चों के अलावा कोई नहीं मिला। गाँव के सभी पुरुष अपने पारंपरिक हथियार लेकर जंगलों,पहाड़ों में छिप गए थे। अंग्रेज सिपाही दिन में गाँवों में जाकर विद्रोहियों को खोजते और शाम में जब कैम्प में लौटते तो अँधेरे का फायदा उठाकर आदिवासी अपने धनुष-बाण से हमला कर देते। इस प्रकार अनेक अंग्रेज सिपाही जख्मी हो गये और कई मारे गये। अंत में हताश-निराश होकर कैप्टन इम्पे अपने घायल सिपाहियों के साथ वापस कलकत्ता लौट गया। अत्याचारी दिकुओं पर जीत के गीत आज भी मुंडा लोग जदूर राग में गाते हैं-

"तेलेंगा को जमन जना पिठुरिया परागनारे।

लड़ाका को हुण्डिन जना गोवा बलगां रे।

मरे होको तुपुइङ जना जिकिलता पिडि रे

मरे होकी मपगा जन्म...

तेलेंगा को हरातिंग जना जिकि लता पिडिं रे

लड़ाका को दड़ि जना डोम्बाघाट रे।"[14]

अर्थात् अंग्रेज सिपाही पिठोरिया परगना में जमा हुए हैं। मुण्डा लड़ाका लोग गोवा बलंगा गाँव में इकट्ठे हुए हैं। जिकी लता नामक मैदान में खूब तीर चले, इच्छा हुअंग डोम्बा घाट में घमासान मार-काट हुई, अंग्रेज सिपाही जिकि लता पिडि स्थल में हार गये, गुण्डा लड़ाका लोग इंचअ हुअंग डोम्बाघाट में जीत गये। आदिवासी जंगलों में स्वतंत्र रूप से विचरण करते हैं और उनका स्वभाव भी ऐसा होता है। लेकिन जब वन अधिनियम कानून बनाकर अंग्रेज उनकी भूमि को हथियाने और उनके जीवन में दखलंदाजी करने लगे तो उन्होंने विरोध किया। जंगलों में रहने के अभ्यस्त आदिवासियों ने अंग्रेजी फ़ौज पर हमला किया और उनका भारी नुक़सान किया। अंग्रेजों ने कानून लाकर यहाँ के लोगों को विभाजित कर दिया। जिन आदिवासियों से अंग्रेज आक्रांत थे उन्हें आपराधिक जाति घोषित कर दिया। इस श्रेणी में लोधा, खड़िया, शबर-खड़िया जैसे अनेक आदिवासी समुदाय शामिल थे। कुछ गैर आदिवासी जातियों को भी अंग्रेज ने आपराधिक जाति घोषित किये थे।

बंगाल, उड़ीसा और झारखंड के सिंहभूम और रांची जिले में निवास करने वाला खड़िया आदिवासी समुदाय भी इस कानून की चपेट में आ गया। बंगाल से अलग करने के बाद भी खड़िया आदिवासियों में कोई सुधार नहीं हुआ। इन आदिवासियों ने अंग्रेजों, जमींदारो के अत्याचार से त्रस्त होकर विद्रोह कर दिया,

---

14.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर 2013, मुंडाओं की लड़ाई, पृष्ठ संख्या-66

जिसके नेता बने खड़िया समुदाय के तेलंगा खड़िया और उन्ही के नाम पर इस आंदोलन का नाम 'तेलंगा खड़िया का आंदोलन'पड़ा। तेलंगा ने अंग्रेजों से जमकर लोहा लिया, विपरीत परस्थितियों में भी उन्होंने अपना विद्रोह जारी रखा। एक बार जब वे अपने सहयोगियों के साथ वन में विद्रोह की आगे की योजना पर बैठक कर रहे थे, तभी जमीदारों के आदमियों के माध्यम से उनके ठिकाने का पता अंग्रेजों को दे दिया गया। बाद में अंग्रेजों द्वारा उनको गिरफ्तार कर कलकत्ता जेल भेज दिया गया। तेलंगा की गिरफ्तारी के जो गीत खड़िया में गाए गये थे वे आज भी उस क्षेत्र में गाए जाते हैं। एक गीत इस प्रकार है-

"कहां का राइज राजा, कहां का हीरा राजा

राजा भाई कलिकाता तेलेंगाक डेरा ।।

जसपुर का राइज राजा, नागपुर का हीराराजा

राजा भाई कलिकाता तेलेंगाक डेरा।।"[15]

अर्थात् कहां के राज करने वाले राजा और हीरानागपुर के राजा, लेकिन तेलंगा का वासस्थान कलकत्ता हो गया। जसपुर और छोटानागपुर के राजाओं के राज्य में तेलंगा को वासस्थान मिला।

राजस्थान और गुजरात के आदिवासियों से अंग्रेजी सरकार और देसी रियासतों ने प्रत्येक परिवार से पाँच मणें मक्का या सवा रुपए की मांग की। आदिवासियों के लिए यह लगान चुकाना असंभव सा था। ऐसे में मोतीलाल तेजावत आदिवासियों के हितैषी बनकर उभरे। उन्होंने इस लगान के खिलाफ ऐक्या की घोषणा की। गांव-गांव से लोगों को एकत्रित किया और एकता करने का आह्वान किया। लोग उनके ऐक्या आंदोलन से जुड़ते गये। मोतीलाल के अलावा मोतीरा भील और लाडूरा भील भीलों के प्रमुख नेता थे। उन दिनों का

15.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर 2013, तेलंगा खड़िया का आंदोलन, पृष्ठ संख्या.77

एक गीत इन दोनों भील संघर्ष नायकों को केंद्र में रखकर आज भी गाया जाता है-

"ऐला टोपियो आयो रे
ऐसा बंदूक लायो रे
मर्द लुगायँ टाबरा घेरया रे
डरज्यों मती, मोतीरो आयो रे
लाडूरो आयो रे...."[16]

भावार्थ अंग्रेज आ रहे हैं, वे बंदूक से लैस हैं, औरत, मर्द और बच्चे घेरे हुए हैं। इन सब से लड़ने के लिए मोतीरा और लाडूरा आ रहे हैं। इसलिए कोई डरना नहीं।

आदिवासी लोकगीतों ने देश के लिए शहीद हुए क्रांतिकारियों को तो पालना दिया ही है, साथ ही ये गीत ब्रिटिश काल में आमजन की व्यथा-कथा को भी उजागर करते हैं। छत्तीसगढ़ के हलबी आदिवासी समुदायों की एक हलबी लोकगीत की पंक्तियां दृष्टव्य हैं-

"अंग्रेज राज, कंगाल होली।
गोटक रूपिया चाउर सोली।"[17]

आदिवासियों को लेकर प्रायः लोगों में धारणा होती है कि वे जंगल, पहाड़, नदी-नालों के दायरे से बाहर की नहीं सोच सकते, जो कि बिल्कुल भ्रामक धारणा है। सच तो यह है कि जंगलों, बीहड़ पहाड़ो में रहने के बावजूद भी उनकी स्वतंत्रता की अभिलाषा और संघर्ष-चेतना कभी कम नहीं हुई अपितु प्रतिकूल परिस्थितियों में यह आग और भड़की ही-

---

16.कथादेश, जून 2003, भुला बिलोरिया तक जहाँ सैकड़ो आदिवासी शहीद हुए, पृष्ठ संख्या-40

17.कथाक्रम, अक्तूबर-दिसम्बर 2011, आटविक जनजातियों में संघर्ष चेतना, पृष्ठ संख्या-98

"जो माटी चो किरिया खासत

हुन माटी जेचो धन आय

देस हुनी के बलसत आय"[18]

अर्थात् जिस मिट्टी की सौगंध उठाते हो, वही माटी (धरती) जो हमारा धन है, देश उसी का नाम है। उसे ही देश कहते हैं । ये पंक्तियां देश की अवधारणा को स्पष्ट करती हैं साथ ही आदिवासी मन को भी उद्घाटित करती हैं।

आदिवासी लोकगीत इस बात के प्रमाण हैं कि आदिवासी समाज ने अंग्रेजों के अत्याचार, शोषण का मुखर होकर विरोध किया। इसके लिए उन्होंने शांति का भी रास्ता चुना और शस्त्र का भी लेकिन अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की भावना से कभी खाली नहीं रहा। उनके पास विद्वान नहीं थे जो स्वतंत्रता की उनकी उद्दाम आकांक्षा और स्वाधीनता की लड़ाई में हुए खूनी संघर्ष को लिपिबद्ध करते। यह वही बिंदु (स्थान) है जो इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता को महसूस कराता है और विमुख इतिहासकारों के सामने लोकगीतों, प्राचीन अभिलेखों तथा कथाओं की मौखिक परंपरा के जरिये सही इतिहास लिखने की चुनौती भी पेश करता है।

6.1.3. पर्व सम्बन्धी गीत:-

आदिवासियों की संस्कृति बहुरंगी है। उनके यहाँ किसी एक भाषा-संस्कृति का दबदबा नहीं है। देश की कुल आबादी का लगभग 8.6 प्रतिशत हिस्सा आदिवासियों का है। पूर्वोत्तर के राज्यों, पश्चिम बंगाल, झारखंड, छत्तीसगढ़, राजस्थान राज्यों में आदिवासियों की सघनता अधिक है। विभिन्न सांस्कृतिक विविधता के साथ इन क्षेत्रों में मनाएं जाने वाले आदिवासियों के पर्व भी अनुपम हैं। आदिवासी क्षेत्रों में जहाँ विभिन्न लोक संस्कृतियों का समावेशी संसार है वहीं

18.वहीं, पृष्ठ संख्या-98

अनेक आदिवासियों की आदिम संस्कृतियों का फलक फैला हुआ है। आदिवासियों के उत्सव में प्रकृति अपरिहार्य रूप से शामिल रहती है जो भारत की विविधता के कैनवास पर भी कुछ अधिक रंग डालता है। आदिवासियों के यहाँ उल्लास के साथ मनाए जाने वाले त्योहारों में से एक है सरहुल। पतझड़ के उपरांत, जब पेड़-पौधों में पुनः हरे पत्ते आने लगते हैं, नयी-नयी कलियाँ निकलने लगती हैं, चारों तरफ नये रंग-बिरंगे फूल-पत्ते अपनी सुंदरता बिखेर देते हैं, मानो पूरी धरा नाच उठी है, तब सरहुल पर्व मनाया जाना शुरू होता है। यह पर्व पूरे चैत माह भर मनाया जाता है। इसी के साथ आदिवासियों का नया साल भी प्रारंभ होता है। इस अवसर पर साल के वृक्ष की पूजा होती है। आदिवासी इस उपलक्ष्य में नाचते-गाते हैं, इनके गीतों से कानन गूंज उठता है। राकेश कुमार सिंह की 'अगिन देवी' कहानी में सरहुल पर्व पर युवतियों द्वारा एक गीत गाया जाता है-

खद्दी चांदी हियो रे नाद नौर
फागू चांदी हियो रे नाद नौर
भर चांदो चांद रे नाद नौर
मिरिम चांदो हो-सांड लेउनाऽऽऽ" [19]

अर्थात् लो आ गया सरहुल का चांद! फल- फूल लेकर आया है सरहुल का चांद। पूरे चांद हम इसे अगोरते हैं फिर त्याग देते हैं।

करमा पर्व एक प्राकृतिक पर्व है जो कि झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, बिहार, पश्चिम बंगाल तथा असम राज्य में मनाया जाता है। इन राज्यों के आदिवासी इस त्योहार को बड़े ही धूमधाम तथा हर्ष-उल्लास के साथ मनाते हैं। उराँवों में करमा पर्व मनाने की प्रथा बहुत प्राचीन है। इस पर्व में कुंवारी लड़कियां व्रत रखती हैं और करम की डाल की पूजा करती हैं। करमा पर्व का एक लोकगीत इस प्रकार है-

---

19.हंस ,अप्रैल-2003, अगिन देवी, पृष्ठ संख्या-59

"सातों भैया, सातों करम गाड़े

सातो गोतनी सेवा करै,

आयो न सेवा करै,बाबा न सेवा करैं,

सातो गोतनी सेवा करैं।" [20]

अर्थात् सातों भैया, सातों करम गाड़े सातो गोतनी सेवा करै, आयो न सेवा करै, बाबा न सेवा करें, सातो गोतनी सेवा करैं।

जनी-शिकार उरांव समाज में शूरता का प्रतीक है। रोहतासगढ़ की लड़ाई की याद में उरांव आदिवासी समुदाय की महिलाएं हर बारह वर्ष पर जनी-शिकार का पर्व मनाती हैं। उराँव समुदाय के अलावा खड़िया एंव मुंडा आदिवासी समुदाय में भी यह परंपरा मिलती है। यह पर्व फगुवा समाप्त होने के बाद शुरू होकर जेठ महीने में खत्म होता है। जनी पर्व से संबंधित गीत आज भी गाया जाता है-

"बारह बछारे राजा जनी-शिकार

बइनी का मुड़े राजा पगारी बांधय,

एक लड़ाई भेल बइनी,

दुई लड़ाई भेल रे,

तीन लड़ाई हराइयो गेल,

जनी का मुड़े राजा पगारी बांधय।

ओरे हूं गंगा, पारे हुं जमुना,

20.आदिवासी साहित्य अप्रैल-जून 2016, उराँव कथाओं में परंपराएं, पृष्ठ संख्या-12

से बचे लड़ाइयों भेल,

रूइदास गढ़ हराइयों गेल

जनी का मुड़े राजा पगारी बांधय।

बारह बछारे राजा जनी-शिकार,

बइनी का मुड़े राजा

पगारी बांधय।"[21]

आदिवासियों की दुनिया अनूठी है। इनका रहन-सहन, जन-जीवन तथा पर्व-उत्सव बड़ा आकर्षक होता है। इन आदिवासियों को भी अपनी इस संस्कृति, परंपरा पर गर्व होता है। 'गलचूल' और 'गढ़' भीलों के प्रमुख त्योहार हैं, जिन्हें होली के दूसरे दिन मनाया जाता है। यह भीलों का महत्वपूर्ण मनौती-पर्व होता है। इस पर्व के दस से ग्यारह दिन बाद 'गढ़' का पर्व मनाया जाता है। बहादुर आदिवासी युवक एक गुड की पोटली लेकर पंद्रह से बीस फुट के चिकने 'गढ़' (लकड़ी का खम्भा) पर चढ़ता है। कई प्रयास के बाद जब वह 'गढ़' के एकदम उपरी छोर पर गुड़ की पोटली टांगने में सफल हो जाता है तो वह विजयी होता है। विजय के दौरान आदिवासी नवयुवतियाँ बाँस की पतली बेतों से पुरुषों को श्रृंगार के गीत गाते हुए धीरे-धीरे मारती हैं और गोठ(पार्टी) के लिए पैसे इकठ्ठा करती हैं। एक लोकगीत द्रष्टव्य है -

"ऐ राधा सर पर पाले पाले जायरी रे

ऐ! सोरी काकरडी हेलो कानो गले रे

ऐ! राधा काना नी मेरे-मेरे नसि रे

21.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर 2013, वीरांगना सिनगी, पृष्ठ संख्या-75

ऐ! कानो टालो माहती राधा टाली रे"[22]

इस शौर्यपूर्ण व लोमहर्षक दृश्य को देखने के लिए आसपास के नगर व गाँवों के हजारों स्त्री-पुरुष आते हैं।

आंध्र प्रदेश में भगता, गदबा, गौड, जातपू, कम्मर, मन्नेदेरा, नूकदेरा, नायक, तोटि, पैको आदि आदिवासी समुदाय निवास करते हैं। इन आदिवासियों द्वारा 'चोयत पोरोब' मनाया जाता है। इसे 'इटुकला पर्व' नाम से भी जाना जाता है। चैत महीने में मनाये जाने के कारण इसे चोयत पोरोब नाम से भी जाना जाता है। इस पर्व का उद्देश्य बीज बोना है। पहान जिसे दिसारी के नाम से जाना जाता है, वह इस महीने के उस शुभ दिन को बताता है जिस दिन बीज बोना होता है। यह संक्रांति के बाद आदिवासियों का सबसे बड़ा पर्व है। पंद्रह दिनों तक चलने वाले इस त्योहार के दौरान कोई भी व्यक्ति काम नहीं करता। इस पर्व से संबंधित गीत आज भी आदिवासियों के द्वारा गाया जाता है जो द्रष्टव्य है-

"आंबो पोत्रो ऽऽऽ सोरू सोरू सोंबुर मारिअणले सोरोदाकोरू तोडे ऽऽऽ

पोलातो पोलो ऽऽऽ नोडिया पोलो सोंबुर मारिअणले सोबुके बोलो

तोडे SSS आते गोजा दांगो ऽऽऽ जुडि पायको सोबोर मारिअण

चोंपि नायको तोडे ऽऽऽ अमोर चौंपिनायको ऽऽऽ चीलुपदारू

चोंपिनाय गोरे दांगडा उडाणो बारू तोडे ऽऽऽ गुदिता गुदिओ ऽऽऽ

कोटारो गुदि आमोर चोंपिनाय गुदिरि पुदि तोडे ऽऽऽ "[23]

22.अक्षरा, मार्च-अप्रैल 2004, भीलांचल होली: अजीब रंग अजब गलचूल व 'गढ़', पृष्ठ संख्या-39

23.आदिवासी साहित्य अप्रैल-जून 2016, अरकू घाटी के पर्व त्योहार, पृष्ठ संख्या- 19

भावार्थ: सांबार का शिकार करके लाइये, हम गीत गाकर धिंसा नृत्य करते हुए खुशी मनायेंगे। बारासिंगा का शिकार करके लाइये, खुशी मनायेंगे। हमारे गाँव का मुखिया ठोस लाठी की तरह दृढ़ है किन्तु गुदी (धान की कटाई होने के बाद उसे खूटने के लिए खेत में एक जगह को साफ किया जाता है और उसके बीच में एक छोटा सा गड्ढा बना दिया जाता है ताकि धान को उठाने में आसानी हो) की तरह सिमटकर बैठा है बाहर नहीं निकल रहा है।

इन सब गीतों के अतिरिक्त कुछ और गीत मेरे द्वारा संकलित सामग्री में मिले हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

आदिवासी समाज मेहनतकश उत्सवधर्मी समाज है। मेहनत आदिवासी समाज की पूंजी है। बड़े से लेकर छोटे तक, पुरुष, स्त्री, बच्चे तक सभी अपने सामर्थ्य के अनुकूल काम करते हैं। उनके यहाँ कोई भी कार्य समूह में किया जाता है जो आदिवासियों की महत्वपूर्ण विशेषता है। दिनभर खेत में काम करने के उपरांत शाम में थकान मिटाने के लिए सामूहिक नाच-गान करते हैं। उनके यहाँ आनंद भी सामूहिक रूप से मनाया जाता है। यह आनंद उन्हें ऊर्जावान बनाये रखता है तो मेहनत प्रतिकूल परिस्थितियों में भी लड़ने की साहस देती है। श्रम व आनन्द की मिश्रित संस्कृति उनके गीतों में भी दिखाई देती है।

"सिगिदोबू सियरू कमिया

अंगोरू नपंग दुमंग दंगोड़ी

निदा दोबू सुसुन करमा

सिंगी दोबू सियरू कमिया"[24]

अर्थात् दिन में हल जोतेंगे, मेहनत करेंगे/ सुबह तक मांदल की धुन में नाचेंगे-गायेंगे/रात में करम नाचेंगे/ फिर सुबह हल जोतेंगे, मेहनत करेंगे।

24. पक्षधर, वर्ष:12 संयुक्तांक: 25, 26, उपनिवेशवाद के विरुद्ध आदिवासी आंदोलन एंव उनका सांस्कृतिक पक्ष, पृष्ठ संख्या-87

इस गीत में आदिवासियों के द्वारा श्रम को प्रमुखता दी जा रही है। उसमें श्रम प्राप्ति की आकांक्षा प्रकट हो रही है। चूँकि आदिवासी लाभ की प्रवृति से दूर हैं इसलिए उनके लिए परावलम्बी होना अनुचित है। उनके यहाँ कभी भी श्रम के जरिये पूंजी इकठ्ठा करने की भावना नहीं रही। सहजीविता, सामूहिकता ने आदिवासियों को 'लोभ-लाभ' की प्रवृत्ति से दूर रखा।

आदिवासी समाज सामूहिकता, सहअस्तित्व में विश्वास रखता है। उनके यहाँ कोई भी कार्य समूह में होता है। सबको साथ लेकर चलना होता है जो उनकी संस्कृति को विशेष बनाता है। आदिवासियों का यह दर्शन उनके लोकगीतों में दिखाई देता है। गोविंद गुरु के समय वहां के आदिवासियों द्वारा एक गीत गाया जाता था, जिसमें एक साथ चलने और गलत काम नहीं करने का सन्देश था। गीत इस प्रकार है-

"सब हली-मली ने संप में रे जो रे मारा भाई
एक बीजा ने हाथे लई ने चाल जो रे मारा भाई
भगती ने भणती कर जो रे मारा भाई
वालम ऋषि भावजी महाराज ने
गोविंद गुरु ना उपदेश हुणजो रे मारा भाई।
धणी मोटी है दुनियाँ रे मारा भाई ।
तमे हंमली ने रे जो रे मारा भाई
घणा मोटा थावा हारू
खोटु काम करो नखे रे मारा भाई
गामे-गाम जन जागरती नो काम करजो रे मारा भाई .....।"[25]

भावार्थ कि सब मिलजुल कर संप सभा में रहो। सभी एक दूसरे का हाथ पकड़ कर चलें। भक्ति के माध्यम से नव निर्माण करना। मावजी महाराज और

25.पहल, अप्रैल, मई 2002, मानगढ़:अनलिखे आदिवासी-बलिदान के तहखानों तक, पृष्ठ संख्या-132

गोविंद गुरु जी के बताये मार्ग पर चलना। यह संसार बहुत बड़ा है, तुमसे संभली नहीं जायेगी। बस, कोई गलत काम नहीं करना और गाँव-गाँव में जन जागरण करते रहना।

आदिवासी गीतों में प्रेम के विभिन्न पक्ष देखने को मिलते है। आशा-निराशा, मिलन-विछोह, सुख-दुख, हास्य-रूदन, निन्दा-प्रशंसा आदि की अभिव्यक्ति लोकगीतों में हुई है। यहाँ पर मिसिंग आदिवासी समाज से संबंधित एक प्रणय गीत प्रस्तुत है। इन गीतों में दो पंक्तियाँ होती हैं। पहली पंक्ति में उपमा, उपमान होते हैं और दूसरी पंक्ति में गायक, गायिका अपनी प्रेम-व्याकुलता अभिव्यक्त करते हैं। हर गीत में सुन्दर एवं यथोचित उपमा रहती है। प्राय गीतों में उपमाएँ समसामयिक होती हैं-

"पाकिस्तानै सिमात्दुङ कास्मिरदक् लेगाङे;

ङऐमा सिमात्दुङ् आमिक अमे लेगाडे।"[26]

अभिप्राय है- पाकिस्तान पागल है भारत के सुन्दर प्रान्त कश्मीर के लिए और मैं पागल हूँ, दूसरे की पुत्री के लिए।

मणिपुर राज्य की बर्मा सीमा पर तांखुल आदिवासी रहते हैं। उनके यहाँ प्रणय गीत, पर्व गीत, युद्ध गीत आदि विभिन्न गीत प्रचलित है। यहाँ पर तांखुल आदिवासी समुदाय के एक प्रणय गीत का हिंदी रूपांतर प्रस्तुत है। ताँखुल समुदाय में अविवाहित लड़के-लड़कियों के लिए सोने के लिए अलग-अलग कमरे होते हैं, जहां लड़के, लड़कियों को एक दूसरे को जानने, समझने तथा विवाह करने में सहूलियत होती है। ऐसे में एक लड़की का प्रेमी जो एक वर्ष पूर्व दूसरे देश गया होता है उसके दूर से सुनाई देने वाली बांसुरी की आवाज से पहचानकर गीत गाती है-

---

26.अक्षर पर्व, नवंबर 2014,मिसिंग जनजाति का लोक साहित्य, पृष्ठ संख्या-16

"ओह! यह मेरा बुलावा है

बाँसुरी की आवाज आ रही है।

उसके शयनागार से

मेरे अंदर वह प्रतिध्वनि गूंज रही है

हाँ एक साल पूरे एक साल तक

तुम्हें आयी नहीं याद मेरी

अब आए हो यहाँ

अब होगा सही मिलन हमारा।"[27]

आदिवासी लोकगीतों में भी अन्य भाषिक क्षेत्रीय लोकगीतों की तरह रूप-सौंदर्य पर गर्वित मनुष्य को सचेत किया गया है। एक गीत प्रस्तुत है-

"मानुसेका काया माटी रो काया

कोन राया कुंदाक् मानेवा

ढःकुराही बोरान गो कुंदाक्

ढः कुराही कुंदाल मानवा।

आबो तेबोन जेलोक् काना लिकिर-लिकिर होड़मो।

माटी रेबोन मिलावोक् कान हाय-हाय दायागे।"[28]

मनुष्य का शरीर मिट्टी से बना है, इसे किसने बनाया है। बिल्कुल ठाकुर (सृजनकर्त्ता) के रूप-रंग में ढाला गया है। ठाकुर ने अपने प्रतिरूप में हमें ढाला है। मनुष्य अपने रूप पर अहंकार करता हैं। जबकि एक दिन यह मिट्टी का शरीर मिट्टी में मिल जायेगी।

27.बहुवचन, अप्रैल-जून 2010, आदिवासी साहित्य:विविध परिदृश्य, पृष्ठ संख्या-99,

28.युद्धरत आम आदमी, जनवरी 2014, संताली लोकगीत, पृष्ठ संख्या-71

आदिवासी पढ़े-लिखे नहीं होते। उनकी भाषा ज्यादा विकसित नहीं होती। बावजूद इसके उनके लोकगीतों में दृश्य, श्रवण, स्पर्श संबंधी अनुकरणात्मक शब्द-युग्म अनूठे होते हैं। वे इतने गूढ़ अर्थ प्रकट करने वाले होते हैं कि संबंधित विषय-वस्तु के भाव-चित्र स्पष्ट हो जाते हैं। आदिवासी लोकगीतों में यथार्थ को प्रामाणिक और प्रभावशाली बनाने के लिए कथोपकथन शैली का भी व्यवहार किया जाता है।

आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं की सरल, सहज एंव स्वाभाविक अभिव्यक्ति उनके लोकगीतों में दिखाई, सुनाई देती है। उनके लोकगीत असाधारण और विशिष्ट हैं क्योंकि इन गीतों में वो सब कुछ दर्ज है जो लिखित रूप में नहीं है।

6.2. आदिवासी लोक-कथाएं:-

लोक कथाएं, लोक साहित्य का अविभाज्य अंग होती हैं, जो लोक की वाचिक परंपरा से जुड़ी होती हैं। लोक कथाओं में लोक संस्कृति संरक्षित होती है। आम बोलचाल की भाषा-बोली में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी फिर उसके आगे आने वाली पीढ़ी में मौखिक रूप से सतत प्रवाहित लोक कहानियाँ चल रही होती हैं। इसमें आम जनमानस की भावनाएँ, प्रथाएं, परंपराएं, आस्था आदि शामिल होती हैं। लोक-आस्था, लोक कथाओं का अविभिन्न हिस्सा होती है। इसी आस्था पर लोक जीवन अवलंबित होता है। सभी लोककथाओं का उद्देश्य हो जरुरी नहीं है, लेकिन उसमें संस्कृति की झलक अवश्य परिलक्षित होती है। लोक कथाओं में तंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत, देवी-देवताओं की शक्तियां, परियाँ, पशु-पक्षी, शकुन-अपशकुन, नदी-नाले, प्राकृतिक चिह्न आदि विषय हुआ करते हैं। लोक कथाओं का सुखांत होता है। कहीं-कहीं कथा जहाँ खत्म होती है वहीं से सोचने की

प्रक्रिया प्रारंभ होती है। कहावत भी है -'कथा गईल वन में, सोचऽ अपना मन में', जिसे हम बचपन में कथा के समापन पर अपने बड़े-बुजुर्गों के मुख सुना करते थे।

लोककथा का इतिहास मानव सभ्यता ही जितना प्राचीन है। प्राचीन काल से लोककथा सुनी-सुनाई जाती रही है और इसके द्वारा मनुष्य के सुख-दुःख, हर्ष, उल्लास, जीने की इच्छा, परोपकारिता, जय-पराजय इत्यादि की कथात्मक अभिव्यंजना होती रही है। इस संदर्भ में रोज केरकेट्टा लिखती हैं- “लोककथाओं में सांस्कृतिक समन्वय की ताकत सबसे अधिक है। संसार भर में जो भी आदान- प्रदान, जिस ढंग से इसके सहारे हुआ है, उसको जानना जरूरी है, क्योंकि लोककथाओं में संस्कृति के अवशेष छिपे हुए हैं। इन छिपे तत्वों को खोज कर आधुनिक जनजीवन में इनके योगदान को पहचानने की कोशिश करनी है। इन तत्वों की लोकप्रियता की वजह जाने बगैर संस्कृति की सही जानकारी संभव नहीं है। लोककथाओं के मुख्य तत्व जिंदगी के प्रमुख मनोभाव सुख-दुख, आशा-निराशा, काम, लोभ, ईर्ष्या हैं। इन्हें सही दिशा की ओर मोड़ कर संसार का कल्याण इनका मकसद है। इससे निराशा आशा में बदलती है, हानि लाभ में तब्दील हो जाती है। सबसे बड़ी बात होती है, पात्रों का अदम्य उल्लास। इसी उल्लास के सहारे जिंदगी के घात-प्रतिघात से लड़ते-भिड़ते पात्र आगे बढ़ते हैं। यह आगे बढ़ना ही इन लोगों की उपलब्धि होती है... कहा जा सकता है कि संस्कृति और लोककथाओं के बीच एक अदृश्य मजबूत सूत्र -धागा हमेशा मौजूद रहता है।”[29]

लोककथाएँ छल-कपट, वक्रता, अत्याचार और अन्याय के प्रतिरोध का मानस निर्मित करती हैं। प्रायः इन कथाओं में भोले-भाले लोग अत्याचार,

---

29.वागर्थ, जुलाई 2018, लोककथा: भारतीय संस्कृति की थाती, पृष्ठ संख्या-76

अन्याय का शिकार होते हैं लेकिन अंत में लोक कथाकार इनके साथ अन्याय करने वालों को सजा दिलाता है और सत्य एवं न्याय को स्थापित करता है।

आदिवासी बड़ी संख्या में देश के विभिन्न हिस्सों में निवास करते हैं। विभिन्न हिस्सों में निवास करने वाले इन आदिवासियों की बहुत सारी मान्यताएँ हैं, जो कि परोक्ष-अपरोक्ष रूप से भारतीय संस्कृति को प्रभावित करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं।

आदिवासियों में बड़ी संख्या में देवी-देवता नजर आते हैं जो इनको संकट और दुःख के समय सहायता एंव सुख शांति देते हैं। आदिवासी प्रकृति के अंक में जीवन-बसर करते हैं और जब काम-धाम से खाली होते हैं तो इसी प्रकृति की छाँव में अपने लोगों के साथ हँसी-विनोद करते हुए जीवन की कठिनाइयों से निजात पाने हेतु कहानी, किस्से, गीत, कहावतें आदि सुन-सुनाकर अपने लोगों का मनोविनोद करते हैं।

लोककथाएं आदिवासियों के लिए आत्मिक शक्ति है, जो उन्हें उर्जावान और आशावान बनाए रखती हैं। इन लोककथाओं से उन्हें प्रेरणा एंव शिक्षा मिलती है, जो विषम परिस्थितियों में भी आत्म-अनुशासन, स्वयं पर नियंत्रण, परिस्थिति के आगे जा कर सोचने की क्षमता विकसित करती है। इसलिए उनके बीच लोककथाओं की सरिता कभी भी निर्जल नहीं हुई, बल्कि अविरल प्रवाहमान है। लोककथाएं, आदिवासियों के जीवन में घुल-मिलकर उनके जीवन का मार्गदर्शन भी करती हैं। आदिवासी लोककथाओं के संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं- "लोककथाएं या मिथक विश्व की हर भाषा में होते हैं। आदिवासी मिथक व लोक-कथाओं की खास विशेषता यह है कि वे अपनी संस्कृति के अनुरूप हर अस्तित्व की कल्पना करते हैं और अपनी तत्कालीन समझ के अनुसार उनकी व्याख्या। आदिवासी के जीवनक्रम में, जो कुछ भी घटता है या जिसे वह घटते देखता, सुनता, परसता या महसूसता है वह उसे दर्ज करता है।

यह सब कैसे हुआ क्यों हुआ-इस सब की व्याख्या वह अपनी कथाओं या मिथकों के माध्यम से करता रहता है। इन कथाओं की सबसे बड़ी खूबी है - कल्पना की ऊंची उड़ान के साथ-साथ, धरती के भीतर तक पहुंच, अपनी जड़ों को छू आना। उनकी कल्पना एक तार्किक व मानवीय रूप ले लेती है और यथार्थ की ठोस जमीन उन्हें चमत्कार से बचाती है।"[30]

आदिवासी लोककथाओं की अधिकतर कथाएं काल्पनिक, पौराणिक, ऐतिहासिक और घटना प्रधान हैं एवं वक्रता, छल-कपट, प्रेम, युद्ध, शादी, आपसी क्लेश, मुर्खता, चतुराई आदि वर्णन के विषय होते हैं। कथा प्रारंभ के पूर्व वातावरण बनाने हेतु भूमिका का निर्माण किया जाता है। ये लोककथाएं आपस में इतनी संश्लेषित होती हैं कि स्पष्ट विभाजन करना बहुत कठिन कार्य है। यहाँ मैंने अपनी संकलित सामग्री में उपलब्ध आदवासी लोक कथाओं को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। चूँकि लोक कथाएं कम संख्या में मिली हैं इसलिए एक-एक कथा के अनुसार विवेचन का प्रयास किया है।

6.2.1. मानव उत्पत्ति की लोककथा:-

बैगा लोककथा:-

बैगा आदिवासी मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में निवास करते हैं। बिहार, उड़ीसा और महाराष्ट्र में भी ये आदिवासी समुदाय मिलते हैं लेकिन वहां उनकी संख्या कम है। बैगा, प्राचीन आदिवासी समूहों में से एक है। बड़ा देव, दुलहा देव, बूढ़ा भाई, एवं नांगा बैगिन इनके प्रमुख देवता हैं।

मानव उत्पत्ति कैसे हुई, इसको लेकर विभिन्न आदिवासी समुदायों में अलग-अलग मान्यताएं हैं। बैगा आदिवासियों में एक लोक कथा प्रचलित है,

30.पूर्वोत्तर: आदिवासी सृजन मिथक एंव लोककथाएं (संपादन) रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या-14

जिसके अनुसार-एक बार भगवान के मन में विचार आया कि मैंने इतनी सुन्दर धरती बनाई है परंतु उसमें कोई हलचल नहीं है। धरती एकदम वीरान सी लग रही है। बहुत सोचने विचारने के बाद भगवान के मन में विचार आया कि ऐसा जीव बनाया जाए जिससे पृथ्वी सुंदर और आकर्षक हो जाए। तब उन्होंने एक पुरुष और स्त्री की रचना कर धरती पर भेजा। दोनों धरती पर विचरण करने लगे। कुछ समय बाद भगवान को जिज्ञासा हुई कि जिस स्त्री और पुरुष को धरती पर भेजा था; वह क्या कर रहा है? भगवान ने जब धरती की ओर देखा तो दोनों साथ-साथ घूमते तो दिखे किन्तु पृथ्वी पर कोई हलचल नहीं दिखी। अब मात्र दो प्राणी कितनी हलचल होती ? भगवान ने सोचा ऐसा उपाय किया जाए, जिससे दोनों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाए। "भगवान ने बहुत सोच-विचार किया और फिर एक मंत्र पढ़ा और पृथ्वी की ओर फूंक मारी। जैसे ही मंत्र नागा बैगा और नांगा बैगिन के पास पहुंचा वैसे ही उन दोनों के मन में परस्पर एक-दूसरे के शारीरिक अंगो को छू कर जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

'हम दोनों एक जैसे दिखाई देते हैं फिर भी हमारे शरीर में कुछ भिन्नता है। मैं चाहता हूं कि मैं तुम्हारे शरीर को छू कर देखूं कि यह कैसी भिन्नता है।' नांगा बैगा ने नांगा बैगिन से कहा। मैं भी यही चाहती हूं कि मैं तुम्हारे शरीर को छू कर देखूं। नांगा बैगिन ने कहा। दोनों ने एक-दूसरे को छूना और जानना चाहा जिसके परिणामस्वरूप नांगा संतति का जन्म हुआ।

कुछ समय बाद भगवान ने नांगा बैगा और नांगा बैगिन का हालचाल जानने के लिए पुनः पृथ्वी की ओर देखा। भगवान यह देख कर बहुत चकित रह गए कि बैगाओं के रूप में पृथ्वी पर मनुष्यों की संख्या बढ़ गई थी और पृथ्वी पर हलचल हो रही थी। पृथ्वी को पूर्ण करने, रोचक बनाने और सुन्दर बनाने का भगवान का उद्देश्य इस प्रकार पूरा हो गया।"[31]

31.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, भारत की आदिवासी लोककथाओं में स्त्री विमर्श, पृष्ठ संख्या-64

इस लोककथा में मानव की उत्पत्ति और उसकी की कामप्रवृति को बहुत मर्यादित तरीके से दिखाया गया है। साथ ही स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं, इस तथ्य के महत्त्व को भी रेखांकित किया गया है। आदिवासी समुदायों में मानव उत्पत्ति से संबंधित अनेक कथाएं हैं। देश-काल के अनुसार उसमे थोड़े बहुत बदलाव होते रहते हैं।

6.2.2. रूईदास कुँड़ुख बेलस की कथा (ऐतिहासिक कथा):-

उरांव लोककथा:-

उराँव भारत का एक प्रमुख आदिवासी समुदाय है। उराँव शब्द की उत्पत्ति 'उ-रावण' 'रावणा-पूत' आदि से माना जाता है। उराँव आदिवासियों को 'कुँडुख' या 'कुँडुखर' नाम से भी जाना जाता है। उराँव आदिवासी बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ राज्य में निवास करते है।

लोककथाएं विभिन्न रूपों में प्राप्त होती हैं, जिसमें एक रूप इतिहास का भी है जो ऐतिहासिक तथ्यों को लेकर उपस्थित होता है। भारत पर बहुत-सी जातियों ने हमले की, उन जातियों द्वारा किये गये संघर्ष की कथा को ऐतिहासिक तथ्यों के अंतर्गत शामिल किया जा सकता है। उराँव आदिवासियों में इतिहास से जुड़ी कई कथाएं मिलती हैं। इन कथाओं में शौर्य से परिपूर्ण कार्य मानस पटल पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं, जो सुखदायी होते हैं। ऐतिहासिक कथाओं में अज्ञात शक्ति होती है जो मनुष्य को आगे बढ़ने को प्रेरित करती है। पहले लोग कैसे रहते थे, शासन-व्यवस्था कैसी थी आदि ऐतिहासिक कथाओं से स्पष्ट होता है।

'रोहतासगढ़' की कथा उराँव आदिवासियों में बहुत प्रचलित है। रोहतासगढ़ उराँवों का प्रमुख गढ़ माना जाता है। कुँडुख भाषा में रोहतासगढ़ का किला को 'रूईदास' नाम से जाना जाता है। उरांवों में रोहतासगढ़ की कथा

'रूईदास कुँडुख बेलस' (रोहतास का उराँव शासक) नाम से मिलती है। इससे इतिहास की जानकारी मिलती है। कथा इस प्रकार है- "बहुत समय पहले एक राजा-रानी रहते थे। उनका एकलौता पुत्र था। राजा अत्यधिक दानी था। वह गरीब दुखियों को दान देता था। इसी दानशील व्यक्तित्व की परीक्षा के लिए ईश्वर भिखारी बनकर राजा के पास आया और भिक्षा मांगने लगा। राजा ने भिखारी को देखकर कहा- तुम क्या चाहते हो? भिखारी- कहने से डरता हूँ। क्योंकि मैं नहीं जानता कि आप मेरी मांग पूरी करेंगे। राजा ने उनकी मांग पूरी करने की बात कही। भिखारी (ईश्वर) ने राजा से अत्यधिक भिक्षा मांगी कि राजा को उनकी मांग पूरी करने के लिए पूरे राजपाट की सभी वस्तुओं को बेचना पड़ा। वह रानी से भी अलग हो गया और एक डोम के घर स्वयं नौकर बनकर कार्य करने लगा। कई दिनों के बाद राजा के पुत्र का देहान्त बीमारी के कारण हो गया। रानी अपने बेटे के शव के पास बैठकर विलाप कर रही थी। शव को डोम जलाते थे। डोम ने अपने नौकर अर्थात् राजा को शव जलाने के लिए कहा। लड़के की माँ का बिलखना सुनकर राजा को तरस आ गया क्योंकि राजा और रानी एक दूसरे को पहचान नहीं सके थे। अन्ततः दोनों ने आपस में बात की और एक दूसरे को पहचान लिया। दोनों विलापने लगे। तभी पुनः भिखारी के वेश में ईश्वर प्रकट - हुए और उनसे कहा- "तुमने मुझे बहुत स्नेह और सम्मान दिया इसीलिए मैं तुम्हे वरदान देता हूं। ईश्वर ने लड़के को जीवित कर दिया। उसे राजा-रानी को सौंपते हुए कहा- अपने बेटे को रूईदास लेकर जाओ। तुम महान् शासक बनोगे।" राजा रानी बेटे को लेकर रूईदास चले गए। राजा ने वहां भव्य गढ़ का निर्माण किया। राजा का शासन लम्बे समय तक चलता रहा।"[32]

उरांव लोगों का मानना है कि रोहतास गढ़ रूईदास का अपभ्रंशित रूप है। रोहतासगढ़ उराँवों का गढ़ माना जाता है। बाद में मुगलों के आक्रमण की वजह से रोहतासगढ़ से उराँव विस्थापित होकर इधर-उधर चले गये। उरांव लोग आज भी अपने किसी भी अनुष्ठान में रोहतासगढ़ का नाम बहुत सम्मान के

32.आदिवासी साहित्य, अप्रैल-जून 2016, उरांव कथाओं में परंपराएं, पृष्ठ संख्या-10

साथ लेते हैं। उक्त कथा से हमें यह सीख मिलती है कि हमें अपने सच्चे और सही कर्मों का निर्वहन ईमानदारी से करना चाहिए। यदि उस दौरान कौन परेशानी भी हो तो धैर्य व विवेकशीलता से काम लेना चाहिए।

ठीक यही कथा हमारे पौराणिक कथाओं में भी त्रेतायुग के सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र के जीवन से जुड़ी हुई है। वास्तव में स्थान-नाम में अंतर्भुक्त घटनाएं ही किंवदंती और लोककथा बनकर लोक में प्रचलित और प्रतिष्ठित होती है। इसे इतिहास ना मानकर केवल कल्पित रचना मानना गलत है।

6.2.3. पर्यावरण संरक्षण (पौराणिक कथा):-

आदिवासी प्रकृति की गोद में ही पैदा होता है और उसी की छाँव में पलता बढ़ता है। इसी कारण उसके हृदय में प्रकृति के प्रति आत्मिक लगाव होता है। वह उसे माँ के समान मानता है। प्रकृति के बिना वह अपने अस्तित्व के बारे में सोच भी नहीं सकता है। उसके पर्व, उत्सव, अनुष्ठान आदि में प्रकृति अनिवार्य रूप से शामिल होती है। यही कारण है कि उसे अपनी माँ के समान प्राकृतिक वातावरण से दूर तथाकथित विकसित सभ्य समुदायों की सुख सुविधा, विलासिता से भरा जीवन मंजूर नहीं है।

आदिवासी प्रकृति प्रेमी और प्रकृति पूजक होते हैं। पर्यावरण का संरक्षण और संतुलन बनाए रखने में आदिवासी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आदिवासी जीवन-दर्शन प्रकृति के साथ साहचर्य व सहअस्तित्व पर जोर देता है। आदिवासी लोककथाओं में प्रकृति के संरक्षण से संबंधित कथा मिलती है। वासुदेव की कहानी ‘शांबरी’ में रामायण कालीन एक कथा शांबरी, राय साहब को सुनाती है- “रामायण काल में परशुराम नामक एक महान योद्धा हुए थे। उन्होंने समाज की तब की व्यवस्था जो जन्म के आधार पर जाति और वर्ण-व्यवस्था पर आधारित थी-के विरोध में एक आन्दोलन किया था।... धनुष-यज्ञ के समय जब उनका सामना राम से हुआ था, तो राम ने उन्हें समझाते हुए कहा था, 'आपने

अपने इस फरसे से असंख्य मानवों का संहार किया है। अब आप इससे लोक-कल्याण का कार्य कीजिए...।'

राम के उपदेश से परशुराम की आंखें खुल गयी थीं। उन्होंने वनों को काटना, गरीबों-भूमिहीनों को बसाना शुरू कर दिया था। किंतु वे तो अतिवादी थे। उन्होंने वनों को काटना जो शुरू किया था तो अविराम गति से उसे काटते ही चले गये थे।... तभी एक दिन उन्हें पता चला था कि राम पंचवटी में अपना डेरा डाले हुए हैं।

जब वे पंचवटी पहुंचे थे, तो देखा था कि राम अपने हाथों लगाये गये नये पौधों को पानी दे रहे हैं। उन्होंने पहले तो आश्चर्य किया, फिर उन्होंने अपने शिष्यों को समझाते हुए कहा था, 'हम लोग जंगल काटकर बस्ती बसाने का जो कार्य कर रहे हैं, वह जनोपयोगी तो है, परंतु उसकी भी एक मर्यादा है, जबकि हम लोग अमर्यादित ढंग से जंगल काटते ही जा रहे हैं। यदि इसी तरह जंगल कटते रहे, तो एक दिन यह धरती बिल्कुल नंगी हो जाएगी, और तब प्रकृति में हमारे लिए जीवन के लाले पड़ जाएंगे। राम ने हमें मर्यादित कर्म और आचरण की सीख दी है, अर्थात् हम पेड़-पौधों को केवल काटे ही नहीं अपितु पर्यावरण और प्रकृति की सुरक्षा के लिए नये पौधे भी लगाएं और उनकी देख-भाल भी करें।"[33]

आज जिस पर्यावरण की सुरक्षा के लिए पूरी दुनिया में हाहाकार मचा है, हमारे भारत में विशेषकर आदिवासियों के यहाँ हजारों वर्ष पूर्व यह अनूठी पहल हो चुकी है, इसकी झलक आदिवासी लोककथाओं में दिखाई देती है।

33.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर, 2011, शांबरी, पृष्ठ संख्या-118

6.2.4. महुआ फूलों की शराब (परधान गौंड समुदाय की कथा):-

शराब एक प्रकार का पेय पदार्थ है, जिसे पीया जाता है। आदिवासियों की संस्कृति में कई ऐसी परंपराएं है, जो उन्हें दूसरे समाज की संस्कृति से अलग करती हैं। पूजा की अलग-अलग विधियों के साथ या उत्सव के समय हड़िया (शराब) का इस्तेमाल कमोबेश सभी आदिवासी समुदायों में किया जाता है। किसी भी तरह का धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठान इस हड़िया (शराब) के बिना पूरा नहीं हो सकता है। और यही कारण है कि यह कब से प्रचलन में आया, पर्वों और उत्सवों में कब आया और इसकी आवश्यकता क्या है इसे लेकर आदिवासियों में तमाम कथाएँ प्रचलित हैं। गौंड आदिवासी समुदाय की उपजाति परधान समुदाय में महुआ के फूलों से शराब बनाने की कथा काफी प्रचलित है, जो इस प्रकार है- "एक दिन भगवान शिव ने मनुष्यों के बारे में सोचा। वह सोचने लगे कि देवी-देवताओं को बकरे और मुर्गे की बलि चढ़ाने के बाद हम लोग उन्हें मदिरा कैसे अर्पित कर पाएंगे। महुआ के वृक्षों के अभाव में मदिरा भेंट करने की रस्म कैसे पूरी हो पाएगी।

शिव ने तोता, बाघ और सूअर को बुलाया और कहा, 'महुआ वृक्ष बन जाओ।' 'अवश्य, हम महुआ पेड़ बन जाते हैं', उन तीनों ने उत्तर दिया। चैत माह में महुआ के पेड़ में फूल खिलने लगे। चिड़ियों के झुंड इन तीन वृक्षों पर आने लगे। उन्होंने फूलो पर चोंच मारी और उन्हें खा गए। दो, तीन फूल खाने के बाद वे तेज स्वर में चीं चीं चें चें करके चहचहाने लगे। उनका कलरव चारों तरफ गूंजने लगा।

लोगों ने सोचा कि इन फूलों में अवश्य ही कुछ मादक द्रव्य है अन्यथा इन्हें खाकर चिड़ियां इतना नहीं चहकतीं। लोगों ने उन्हीं फूलों से शराब बनानी शुरू कर दी और उसका प्रयोग सभी पर्वों और उत्सवों में करने लगे।"[34]

प्रस्तुत कथा इस बात का सूचक है कि शराब का सेवन आदिवासियों में धार्मिक एवं सामाजिक परंपरा बन गयी है। पर्व-त्योहारों एवं उत्सवों के अवसर पर शराब पीना उनके लिए आवश्यक माना गया है लेकिन एक सीमा तक। परधान आदिवासियों का मानना है कि जो आदमी कम मात्रा में महुआ शराब पीता है वह तोता बन जाता है और एक ही बात की आवृत्ति करता है; उससे थोड़ा अधिक पीने वाला व्यक्ति बाघ बन जाता है, जो केवल गरजता है कुछ बोलता नहीं है। और जो व्यक्ति इन दोनों से अधिक पी लेता है वह सूअर हो जाता है और जमीन पर गिरा पड़ा रहता है। शराब से संबंधित अधिकतर आदिवासी समुदायों में इसी प्रकार की लोककथा प्रचलित है।

6.2.5. सरहुल पर्व की कथा (संताली लोककथा):-

सरहुल प्रकृति पर्व है, साथ जी आदिवासियों का प्रमुख पर्व भी है। यह पर्व आदिवासियों द्वारा वसंत ऋतु में मनाया जाता है। पतझड़ बीत जाने के बाद जब पेड़-पौधों में नई कोंपले निकलती है, आम की मंजरियों तथा महुआ एंव सखुआ के फूलों से संपूर्ण वातावरण सुगंधित हो उठता है, तब प्रकृति पर्व सरहुल मनाया जाता है। यह पर्व प्रत्येक वर्ष चैत्र माह में मनाया जाता है। इस पर्व में 'साल'(सखुआ) के वृक्ष की पूजा होती है। इसी पर्व से आदिवासियों का 'नया साल' भी शुरू होता है।

सरहुल पर्व से जुड़ी कई किवदंतियां आदिवासी समुदायों में प्रचलित है। उनमें से संताल आदिवासी समुदाय में 'बिंदी रुआड़' नाम से एक लोककथा

34.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर, 2011, संगीत से चित्रकलातक परधानों के विचित्र किंतु सामान्य कथाएं, पृष्ठ संख्या-2011

प्रचलित है। इस कथा के अनुसार सरहुल मनाने की प्रथा कुछ इस प्रकार शुरू हुई- "धरती की एक ही सन्तान थी। बेटी बिन्दी...! एक दिन बिन्दी स्नान के लिए नदी की ओर निकली तो वापस घर नहीं लौटी। नदी की राह से ही लापता हो गई बिन्दी ।

धरती की इकलौती बेटी गुम...! बिन्दी की खोज की जाने लगी। दसों दिशाओं में दौड़ाए, गए दूत। धरती के गुप्तचर ब्रह्माण्ड के कोने-कोन में बिन्दी को ढूँढने लगे। अंततः बिन्दी का पता लगा लिया गया। धरती के दूतों ने आकर बताया कि बिन्दी को मृत्यु के देवता उठा ले गए थे। इस लोक में बिन्दी के रहने की अवधि समाप्त हो चुकी थी। यह सुनते ही धरती छाती पीठ कर रोने लगी। बिलखती धरती के साथ क्रंदन करने लगा पवन विलाप करने लगी धूप हाहाकार करने लगी बदरी! विषण्ण धरती के शोक के कारण पृथ्वी पर पतझड़ छा गया।

धरती के दूतों ने यमराज को समझाया कि शोकमग्न धरती रोती-कलपती रहेगी। दुःख से मर भी सकती है धरती के मरते ही मर जाएगी ईश्वर की सृष्टि अतः बिन्दी को वापस लौटा दिया जाए, परन्तु यमराज नहीं माने।

यमराज जीवन-मरण के नियमों में तनिक भी ढील देने पर सहमत नहीं हुए। धरती पर पतझड़ छाया रहा... छाया रहा। पृथ्वी पर तप्त पवन बहने लगा जल शेष हो गया। मिट्टी में दरारें पड़ गई। प्यास से मरने लगे पंछी-पखेरू। छटपटाने लगे पशु-मनुष्य भस्म होने लगीं वनस्पतियाँ...।

यमराज का सिंहासन डोल उठा। ईश्वरीय सृष्टि की रक्षा के निमित्त यमराज पुनर्विचार कर जन्ममरण के नियम में थोड़ी ढील देने पर विवश हुए। यमराज ने बिन्दी को अपनी माँ के पास लौटने की आज्ञा तो दी परन्तु इस शर्त के साथ कि बिन्दी को अपना आधा समय माँ के साथ बिताना होगा और शेष आधा समय उसे पाताल नगरी में रहना होगा। सम्पूर्ण खोने से अच्छा था आधे पर संतुष्ट होना। धरती भी इस शर्त को मानने पर विवश थी।

बिन्दी की वापसी हुई तो धरती ने हर्षित होकर साज-सिंगार किया। पवन सुहाना हो उठा। मिलन के अश्रु बहे तो नम हो उठी हवा। आर्द्र हो उठी भूमि। नई घास उग आई। वृक्षों ने नए पत्ते पहने। पुष्प धारण किए। महुवा टपकने लगा। मंजरियाँ लद आईं। धरती की हँसी के साथ सृष्टि में मानो जीवन लौट आया। बिन्दी की वापसी को त्यौहार की भाँति मनाया गया। आज भी मनाया जाता है...वसंतोत्सव बिन्दी की वापसी का महापर्व सरहुल....!"[35]

6.2.6. मनोरंजन की कथा (विमुक्त जनजाति की लोककथा):-

आदिवासी समाज में कई ऐसी कथाएं हैं, जो मनोरंजन से संबंधित है; सभी को अच्छी लगती हैं जिनसे दिल बहलाव के साथ सीख, प्रेरणा आदि मिलता है। लोग कुछ समय के लिए दुःख तकलीफ को भूल जाते हैं। ऐसे ही एक विमुक्त जनजाति की मनोरंजन से संबंधित लोककथा है, जो बहुत ही आनंददायी है।

हवाई महल:-

दो भिखारी थे। दोनों हृष्ट-पुष्ट तथा जवान थे लेकिन कोई काम नहीं करते थे। उनके न कोई घर- द्वार था न नाते-रिश्तेदार। दोनों दिन-भर इधर-उधर से भीख माँगकर खाते और रात में कहाँ पर भी किसी कुएँ, तालाब या मन्दिर के पास सो जाते।

दोनों भिखारियों में आपस में घनिष्ठ मित्रता थी। वे साथ-साथ भीख माँगते, साथ ही खाते और हर समय साथ रहते थे। उन्हें प्रतिदिन इतनी भीख मिल जाती कि उनका पेट आराम से भर जाता। हमेशा उन्हें रूखा-सूखा खाने को मिलता था। एक दिन उन्हें एक धनी सेठ ने घी चुपड़ी गेहूँ की रोटियाँ व मट्ठा

35.नया ज्ञानोदय, जुलाई 2004, बिंदी रुआड़, पृष्ठ संख्या-85

दिया। दोनों ने खूब छककर खाया और डकार ली। इसके पहले उन्होंने इतना स्वादिष्ट भोजन कभी नहीं खाया था।

रात में सोते समय भी दोनों दोस्त उसी भोजन की याद कर रहे थे। भोजन को याद करते ही उनके मुँह में पानी आ जाता था।

'यार, गेहूँ की रोटी तो बड़ी स्वादिष्ट होती है।' एक भिखारी से न रहा गया तो वह बोल पड़ा। 'और मट्ठे के साथ तो गेहूँ की रोटी का मजा दुगुना हो जाता है।' दूसरे ने भी अपने मुँह में आए पानी को गटकते हुए कहा।

'सुनो दोस्त, मैं तो अब एक काम करूंगा, मैं खेत खरीदूंगा और अब गेहूं की खेती करूंगा जिससे हमेशा गेहूँ की रोटियाँ खा सकूँ।' पहले भिखारी ने बहुत सोच-समझकर अपनी योजना बतायी। 'ठीक है यार, तुम खेत खरीदो और गेहूं की खेती करो। मैं एक भैंस खरीदूंगा, उसके दूध से घी और मट्ठा बनाऊँगा। तुम मुझे अपने गेहूँ की रोटियाँ खिलाना और मैं तुम्हें अपना घी और मट्ठा खिलाऊंगा।' दूसरे भिखारी ने हमेशा के लिए गेहूँ की घी चुपड़ी रोटी और मट्ठे का इंतजाम करने की अपनी योजना बता दी।

दोनों भिखारी एक-दूसरे की योजनाएँ सुनकर बहुत खुश हुए और पास के ही एक पेड़ के नीचे सो गए।

प्रातः काफी धूप निकलने पर उनकी आँखें खुलीं। दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा। उन्हें फिर रात की बातें ताजा हो गयीं। 'तो तुम खेत खरीदोगे और गेहूं की खेती करोगे? यह पक्की बात है ?' दूसरे भिखारी ने पहले भिखारी से पूछा।

'हाँ दोस्त, बिल्कुल पक्का है। और तुम भी भैंस खरीदोगे व दूध से घी- मट्ठा बनाओगे। तभी तो हम दोनों जिन्दगी भर गेहूं की घी चुपड़ी रोटी और मट्ठा खा सकेंगे।' कहते-कहते पहले भिखारी के मुँह में पानी आ गया।

हाँ दोस्त, मैं भैंस अवश्य पालूँगा, लेकिन उसे चराने कहीं नहीं जाऊँगा। मेरी भैंस तुम्हारे खेत के आसपास ही चरेगी।' दूसरे भिखारी ने कुछ अकड़कर कहा ।

'वाह, यह कैसे हो सकता है ? तुम्हारी भैंस मेरे खेत के पास कैसे चर सकती है? मैं ऐसा कभी नहीं होने दूंगा।' पहले भिखारी को क्रोध आ गया।

दोनों भिखारी इस बात को लेकर झगड़ने लगे। उनकी चीख-पुकार सुनकर आसपास के लोग इकट्ठे हो गये।

'क्यों भाई, तुम लोग आपस में क्यों झगड़ रहे हो ?' भीड़ में से एक आदमी ने आगे बढ़कर पूछा।

दोनों भिखारी एक साथ बोल रहे थे। वे एक-दूसरे को अपशब्द भी कहने लगे थे। उनकी बात किसी को समझ में नहीं आ रही थी। तभी एक वृद्ध व्यक्ति ने आगे बढ़कर कहा, 'देखो भाई, तुम लोग आपस में झगड़ा बंद करो और पंचायत बैठा लो। पंच तुम्हारा न्याय करेंगे।'

दोनों भिखारी पंचायत के लिए तैयार हो गए। दोपहर हो रही थी। एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठ गयी। दोनों भिखारी अपनी-अपनी जिद पर अड़े थे। एक भिखारी कह रहा था, 'मैं तुम्हें अपने खेत में भैंस नहीं चराने दूंगा।' और दूसरा भिखारी कह रहा था, 'मैं तुम्हारे खेत में ही अपनी भैंस चराऊँगा।' दोनों भिखारी इस तरह तकरार कर रहे थे कि शाम हो गई और पंच कुछ भी न समझ पाए।

तभी एक वृद्ध पंच ने आगे बढ़कर दोनों को चुप कराया और एक भिखारी से पूरी बात बताने के लिए कहा। पहले भिखारी ने सेठ द्वारा गेहूँ की घी चुपड़ी

रोटी व मट्ठा दिये जाने से लेकर अंत तक की बात बता दी। अब वृद्ध पंच ने दूसरे भिखारी से पूरी बात बताने के लिए कहा। उसने भी वही कहानी दुहरा दी। वृद्ध पंच सब समझ गया। उसने गम्भीर स्वर में पहले भिखारी से पूछा, 'तुम्हारा खेत कहाँ हैं ?"

'अभी कहाँ है? लेकिन मैं खरीदूंगा।' पहले भिखारी ने उत्तर दिया।

'तुम्हारी भैंस कहाँ है?' वृद्ध पंच ने दूसरे भिखारी से पूछा ।

'अभी कहाँ है ? पर मैं खरीदूंगा।' दूसरे ने उत्तर दिया। वृद्ध पंच ने गंभीर आवाज़ में अपना निर्णय दिया, 'अभी न पास खेत हैं और न भैंस तुम व्यर्थ में झगड़ा कर रहे हो। जाओ और प्रेम से रहो।' वृद्ध पंच ने अपने साथियों की ओर मुँह करके हँसते हुए कहा- 'इसी को कहते हैं 'सूत न कपास कोरी में लाठी लठा।' चलो अब अपने घर चलें।' और पंचायत उठ गयी।"[36]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है आदिवासी प्रकृति की गोद में ही पैदा होता है और उसी के सान्निध्य में पलता बढ़ता है। उनके जीवन का साहित्य बनकर लोककथाओं का जन्म हुआ। लोककथाओं की गणना आदिवासी मौखिक साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधाओं में की जाती है। इन लोककथाओं में उनका सारा दर्शन प्रतिबिंबित होता है। संसार की रचना कैसे हुई, सूर्य, चाँद, ग्रहों की रचना कैसे हुई, मानव की रचना कैसे हुई, विभिन्न पर्व-त्योहार कब और कैसे शुरू हुए आदि उनकी लोककथाओं के विषय हैं। इन कथाओं में उनके समुदाय की जातीय स्मृतियां भी हैं। लोककथाओं के माध्यम से आदिवासी समाज के विकास की यात्रा के समाजशास्त्र को देखा जा सकता है। इस संदर्भ में आदिवासी लोककथा अपने आप में अनोखा साहित्य है।

36.वागर्थ, अप्रैल 2007, हवाई महल, पृष्ठ संख्या-132

सातवाँ-अध्याय

आदिवासी साहित्य का भाषिक पक्ष

आदिवासी साहित्य का भाषिक पक्ष

किसी भी साहित्य का सौष्ठव उसकी भाषिक संरचना और परिपक्वता पर निर्भर होता है। कथावस्तु और भाषिक पक्ष, दोनों मिलकर किसी भी साहित्य को महत्तम ऊँचाई देते हैं। भाषिक पहलुओं की बात करें तो उसमें भाषा शैली, भाषिक शिल्प और भाषा का समेकित स्वरुप महत्वपूर्ण है। 'शिल्प' शब्द का अर्थ है निर्माण अथवा गढ़न के तत्व। किसी साहित्यिक रचना के लिए शिल्प का बड़ा महत्व होता है। साहित्य के संबंध में किसी कृति के निर्माण में जिस सामग्री का प्रयोग होता है उसे शिल्प सामग्री कहा जा सकता है। भाव के साथ कल्पना का उचित मेल होता है, तो काव्य का सृजन होता है। इन भावों को शब्दों का रूप देना पड़ता है। भाव को अस्तित्व प्रदान करने के लिए जिन तत्वों का आलंबन लिया जाता है, उन सब का विश्लेषण शिल्प के अंतर्गत किया जाता है। आदिवासी हिंदी कविता संप्रेषणीयता को ज्यादा महत्व देती है, इसलिए काव्यशास्त्र की परिपाटी पर खरी नहीं उतरती। आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र परंपरागत काव्यशास्त्र के स्थान पर मानवीय संवेदना को महत्व देता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मानना था कि 'विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का ढंग भी बदलता रहता है|' वहीं भाषा और शब्दों के उचित चुनाव से शिल्प का विधान निश्चित होता है। साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है और वहीं शब्दों के द्वारा एकरूपता आती है। इन्हीं तत्वों का आश्रय लेकर रचनाकार अपनी रचनाओं को सृजित करता है, जिसके आधार पर हर रचनाकार का अलग शिल्प-विधान बनता है।

7.1. कविता:-

कविता साहित्य की ऐसी विधा है जिसमें रचनाकार अपनी संवेदनाओं को न्यूनतम शब्दों में पिरो कर गहराई के साथ प्रस्तुत करता है। कविता का संबंध हृदय से होता है। यह जीवन में परिवर्तन लाती है और पढ़ने वाले के मन को उद्वेलित करती है। कविता हमें सुख-दुख, क्रोध, आशा-निराशा आदि आंतरिक भावों का

अनुभव कराती है। कविता का आदर्श उच्च होता है; यह जीवन को सहजता से जीने की सीख देती है। कविता व्यक्ति के सुख-दुख में शामिल व सृजित होती है।

आदिवासी साहित्य सृजन की परंपरा मुख्यतः वाचिक रही है। आदिवासी कविता का मौखिक स्वरुप उनकी वाचिक परंपराओं में देखने को मिलता है। आदिवासी कविता कई स्थानीय भाषाओं में रची गई है और रची जा रही है जिनसे संवाद होना बाकी है। वर्तमान में आदिवासियों पर आदिवासी तथा गैर-आदिवासी दोनों लिख रहे हैं। आदिवासी अपनी मातृभाषा के साथ-साथ हिंदी में भी लिख रहे हैं। अपनी अस्मिता की लड़ाई में उन्होंने कविता को मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी कविता शोषितों, पीड़ितों, वंचितों की आकांक्षाओं का जीवंत दस्तावेज है। आदिवासी कविताओं की छवियां, शिल्प और वस्तु बिल्कुल भिन्न है। इस विषय पर गंगा सहाय मीणा लिखा हैं- "आदिवासी साहित्य की लंबी मौखिक और लगभग एक सदी पुरानी लिखित परंपरा के विकास के रूप में आए समकालीन आदिवासी लेखन और विमर्श की शुरुआत हमें 1991 के बाद से माननी चाहिए।"[1]

अतः आदिवासी कविता अपनी प्रारंभिक अवस्था में है लेकिन भाषा-शैली, शिल्प-विधान, विषय-वस्तु, भाव एवं संदेश में मुख्यधारा की समकालीन कविताओं से कमतर नहीं है। आदिवासियों का स्वभाव जिस तरह सरल एवं सहज है उसी प्रकार उनकी कविता भी है। उनकी अभिव्यक्ति, शास्त्रीय न होकर सामूहिक मन की सहज अभिव्यक्ति है। उनकी कविता की भाषा में आदिवासी जीवन दर्शन प्रतिबिंबित होता है।

7.1.1.भाषा में सहजता:-

आदिवासी कवियों ने अपनी कविता के लिए दैनिक बोल-चाल की भाषा को अपनाया है। बात को घुमा फिरा के कहने की अपेक्षा सीधे-सीधे कहा है, जिससे

1.आदिवासी साहित्य विमर्श- संपादक गंगा सहाय मीणा,पृष्ठ संख्या-15

भाषा में सहजता आ गई है और वह पढ़ने वाले तक आसानी से पहुंच जाती है। सहजता ने कविता के गंभीर से गंभीर विषय को संप्रेषणीय बना दिया है। भाषा की सहजता 'बचे रहने की उम्मीद' कविता में देखी जा सकती है-

"जब नदी
तुम्हें लीलने के लिए

स्वयं को डूबने से बचाने
और
अपनी नस्ल को
विलुप्ति से" [2]

जसिंता केरकेट्टा की कविता 'कौन करेगा इसकी पड़ताल' में भाषा की सहजता देखी जा सकती है-

"कौन करेगा इसकी पड़ताल
कि किसने बना लिया है
धरती को किसी गुमनाम जगह पर बंदी
और रोज करता है उस पर क्रूर परीक्षण।"[3]

विजय सिंह की कविता में भाषा की सहजता उल्लेखनीय है-

"पहली बारिश में
भीग कर
जंगल की मिट्टी हंसती है
और धूप की उजास में
सरई जंगल जी उठता है।"[4]

2.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, बचे रहने की उम्मीद, पृष्ठ संख्या-226

3.वागर्थ, मार्च 2018, कौन करेगा इसकी पड़ताल, पृष्ठ संख्या-51

4.युद्धरत आम आदमी,अगस्त 2005, बोड़ा, पृष्ठ संख्या-32

उपर्युक्त कविताओं को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि आदिवासी कविता की भाषा सहज एवं सरल है। आदिवासी कवियों ने अपनी बात को कहने के लिए लक्षणा, व्यंजना की अपेक्षा अभिधा का सहारा लिया है। इन कविताओं की भाषा जितनी सहज और सरल है, भाव की गहराई भी उतनी ही अधिक है। इन कविताओं में अपने अस्तित्व और अस्मिता को बचाए रखने की बेचैनी सहजता साथ अभिव्यंजित हुई है।

7.1.2. शब्द प्रयोग:-

समकालीन कविता अपने नए कलेवर के लिए जानी जाती है। इस वजह से उसकीअभिव्यक्ति के उपकरण में परिवर्तन आ गया है। यह परिवर्तन हिंदी कविता से आदिवासी कविता तक देखने को मिलती है। आदिवासी कवियों ने अपनी कविता में संगीतात्मकता के स्थान पर अर्थ को ज्यादा महत्व दिया है। यहां शब्द ज्यादा मजबूत दिखाई देते हैं। नए रचनाकारों की कविता के बारे में अज्ञेय का मानना है- "नए रचनाकार की यह आकांक्षा रहती है कि वह भाषा कि क्रमश संकुचित होती हुई सार्थकता की केचुली फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहते हैं।"[5]

शब्दों के नवीन संदर्भ तथा नवीन अभिव्यक्ति को आदिवासी कवियों ने अपनी कविताओं का जरिया बनाया। आदिवासी कविता, परंपरागत प्रबंध काव्य की भाषिक संरचना से हटकर एक अलग पहचान लेकर खड़ी है। डॉ०श्यामसुंदर दास का मानना है- "भाषा ऐसे शब्द-समूह का नाम है, जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे मन तक पहुंचाने तथा उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होती है, अतएव भाषा का मूलाधार शब्द है, जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल-तत्व समझना चाहिए, अर्थात किसी लेखक या कवि के शब्द योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उसकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।"[6]

5.नई कविता का अनुशीलन- डॉ० ललिता अरोड़ा, पृष्ठ संख्या-219

6.हिंदी उपन्यास: शिल्प और प्रयोग- त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ सं०-395

भाषा, भावों एवं विचारों को प्रकट करने का माध्यम है। भाषा के द्वारा मानव अपने अस्तित्व का निर्धारण करता है। कोई रचनाकार, जब रचना करता है तो उसके विचारों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से संभव हो पाती है। ऐसा इसलिए हो पाता है क्योंकि रचनाकार रचना-कर्म करते हुए भाषा से सुगमता से जुड़ पाता है। भाषा की रचना हम खुद करते हैं जिसका उत्स 'शब्द' होता है। शब्दों के बिना भाषा की कल्पना करना नामुमकिन है क्योंकि शब्दों के द्वारा हम अपने भावों और विचारों को भाषा में भी पिरोते हैं। शब्द न हो तो सब कुछ रिक्त रह जाता है। यही कारण है कि शब्द को 'ब्रह्म' के समान माना जाता है। ये शब्द ही हैं जो हमारे होने का सदैव महसूस कराते हैं। किसी भी भाषा की रचना शब्दों के बिना असंभव है।

आदिवासी कविता में तत्सम, तद्भव के साथ-साथ आंचलिक एवं देशी भाषा के शब्दों का अपरिमित भंडार है जो कविता को विशिष्टता प्रदान करती है। इन शब्दों को हम आदिवासी कविता के माध्यम से देखेंगे।

7.1.2.1. तत्सम:-

"किसी भाषा के मूल शब्द को 'तत्सम' कहते हैं।"[7]

तत्सम का शाब्दिक अर्थ है उसी (तद्) के समान (सम)- उसी का अर्थ है वही पुरानी भाषा। 'वही पुरानी भाषा' संस्कृत है; लेकिन समान का अर्थ बराबर होता है, रूढ़ अर्थ हो गया है 'बिल्कुल वही'। अर्थात संस्कृत के शब्दों को तत्सम कहा जाता है। आदिवासी कवियों ने अपनी कविताओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। हरिराम मीणा कृत 'एकलव्य' कविता में तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है-

"आभास हुआ

चीते के आगे **निरीह मृग**

दुर्भेद्य लक्ष्य,

7.आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना- डॉ॰ वासुदेवनंदन प्रसाद, पृष्ठ संख्या-156

कंपायमान है धनुर्दंड

प्रत्यंचा खींचती नहीं

न ही सधते **नाराच**

निस्तेज हुए **दैवीय शास्त्र**"[8]

वंदना टेटे की कविता 'बिटिया मुर्मू के लिए' में आये तत्सम शब्द

"देर रात **अनुत्साहित** देह पर **पाशविक तांडव!**"[9]

लारेंस सिलाल हेंब्रम की कविता 'नहीं छोड़ूंगा' में आए तत्सम शब्द-

"नदी नालों से **रेखांकित** देश

पहाड़ों के हार- माला से **श्रृंगारित** देश,

वृक्ष की पत्तियों से घूंघटा देश

प्रणाम करता हूं मेरे देश, तुम्हें नहीं छोड़ूंगा"[10]

7.1.2.2. तद्भव:-

संस्कृत के जो शब्द कुछ रूप परिवर्तन के साथ हिंदी में प्रयुक्त होते हैं, उसे 'तद्भव' कहते हैं। तद्भव शब्दों के प्रयोग से भाषा में सरलता और सहजता आ जाती है, जिससे रचना संप्रेषणीय और बोधगम्य बन पाती है-

"जब मेरा पड़ोसी
मेरे खून का प्यासा हो गया
मैं समझ गया
राष्ट्रवाद आ गया"[11]

8.युद्धरत आम आदमी, अप्रैल-जून 2009,एकलव्य, पृष्ठ संख्या-50

9.कथादेश, मई-2004,बिटिया मुर्मू के लिए, पृष्ठ संख्या-69

10.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, नहीं छोड़ूंगा, पृष्ठ संख्या-25

11.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, राष्ट्रवाद, पृष्ठ संख्या-205

“पहाड़ों में है कि जंगलों में है

खाई-खोह में है, सच्चा साथी आदिवासी।”[12]

“भाई-भाई में दरार बढ़ाते

गांव-गांव में दुश्मनी कराते

नजर है उनकी सारंडा-वनपर

गरीब-बेसहारा आदिवासियों की

कोमल किशोरी बहन-बेटियों को

रुपए-पैसा से फुसलाते।”[13]

7.1.2.3. आंचलिक शब्द:-

किसी ‘अंचल’ या क्षेत्र विशेष में बोले जाने वाली बोली को आंचलिक शब्द कहते हैं। समकालीन कविता में आंचलिक शब्द और शब्दावलियों का प्रयोग दिखाई देता है। ये आंचलिक शब्दावलियाँ कविता को और जीवंत बनाती हैं-

“मैंने देखा था चुड़का सोरेन

तुम्हारे पिता अक्सर **हड़िया** पीकर

पिछवाड़े **बंसबिट्टी** के पास औघड़ाये हुए

कठुवायी अंगुलियों से दोना-पत्तल-चटाई बून।”[14]

जूनास कंडुलना की कविता ‘बिरसा सभा’ में आदिवासियों की बोलियों का प्रयोग हुआ है-

---

12.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, सच्चा साथी आदिवासी, पृष्ठ संख्या -255

13.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-2014, सारंडा वन, पृष्ठ संख्या-33

14.कथादेश, मई-2004, चुड़का सोरेन से, पृष्ठ संख्या-72

"जंगल-झाड़ को काट-झोंप साफ कर-

जगह-जमीन-**टांड** बना दिया बुजुर्गों पुरखों ने।"[15]

"मत चुनना ऐसा वर

जो **पोचई** और **हड़िया** में डूबा रहता हो अक्सर।"[16]

"बिहाने-बिहाने

दुकनी मुंड में उठाए

हाथ में **कुटकी** लिए

बोड़ा कोदने के लिए

वे **लोहुन-लोहुन**

पाना को हटा-हटाकर

भूई कोदती"[17]

लारेंस सिलालहेंब्रम की कविता 'नहीं छोड़ूंगा' में आंचलिक शब्दों का प्रयोग हुआ है-

"**टीलहा-टका-टुकू** पर भेड़ बकरियों के साथ

वन **पतरा** के किनारे मैंने **जोत कोड़** किया।"[18]

15.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,बिरसा सभा, पृष्ठ संख्या-255

16.अक्षरा, जनवरी-फरवरी 2004 , इतनी दूर मत ब्याहना बाबा, पृष्ठ संख्या- 66

17.युद्धरत आम आदमी, अगस्त-2015 , बोड़ा, पृष्ठ संख्या-32

18.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, नहीं छोड़ूंगा, पृष्ठ संख्या-257

7.1.2.4. अंग्रेजी शब्द:-

"**ग्लैमर** की भूख
फैशन की भूख
मोबाइल की भूख"[19]

"इसे ही कहा है **रेड-इंडियन** ने
ए लैंड ऑफ़सेवेन हंड्रेडहिल्स ....

रेलगाड़ी, **लाइन ट्रक-डंपर** और **पार्सल**"[20]

"नेतरहाट **फिल्डिंग फायरिंग रेंज**।"[21]

उपर्युक्त कविताओं के अंश से यह स्पष्ट पता होता है कि आदिवासी कवियों ने प्रसंग अनुसार तत्सम, तद्भव, आंचलिक, देशज एवं अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग किए हैं।

7.1.3. अलंकार:-

जिस प्रकार आभूषण स्त्री की सुंदरता को बढ़ाते हैं उसी प्रकार अलंकार भी काव्य की सुंदरता बढ़ाते हैं। आदिवासी कवियों ने भी अपनी कविता में अलंकार का प्रयोगकिया है। आदिवासी कविता मुक्ति की आकांक्षा, अस्मिता की तलाश, संघर्ष की पीड़ा और शोषण के प्रतिरोध की दृष्टि से रची गई है; न कि कवि बनने के लिए। मन की पीड़ा, आक्रोश, सुख-दुख आदि से संपृक्त कविताएं सिर्फ अलंकार की दृष्टि से नहीं रची गई हैं। अलंकार तो अपने आप ही सहज अभिव्यक्ति के साथ जुड़ते चले गए हैं।

19.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, भूख, पृष्ठ संख्या-223

20.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-2014,सारंडा वन, पृष्ठ संख्या-30

21.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011,एचबी रोड से कल्व रोड तक, पृष्ठ संख्या-188

आदिवासी कविताओं में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा मानवीकरण अलंकारों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है इसलिए इन्हीं अलंकारों का उदाहरण यहां दिया गया है।

7.1.3.1. उपमा अलंकार:-

उपमा का शाब्दिक अर्थ है सादृश्य, समानता या तुलना। जहां उपमेय और उपमान में गुण, रुप या चमत्कृत सौंदर्यमूलक सादृश का प्रतिपादन किया जाए, वहां 'उपमा' अलंकार होता है।

"इन सारे लोगों की चेतना

डरे हुए खरगोश-सी हो गई...."[22]

"ज्ञात आदिमता का सजीव संग्रहालय

बरगद की जड़ों सी स्मृतियां...."[23]

"जादुई यथार्थ के तहखाने सा जीवन...."[24]

"आकाश-गंगाओं सी लंबी लड़ाई"[25]

"जहां होता पहाड़-सा दुख!

पहाड़-सा धीरज!

जंगल की-सी वीरानियां!!!"[26]

22.कथन, अप्रैल-जून 2003, सर्द रात के हमलों के खिलाफ, पृष्ठ संख्या-24

23.वहीं, पृष्ठ संख्या-88

24.बयां, जुलाई-दिसंबर 2011,आदिवासी और यह दौर, पृष्ठ संख्या- 88

25.कथन, अप्रैल-जून 2003, सर्द रात के हमलों के खिलाफ, पृष्ठ संख्या-88

26.कथादेश,मई 2004, बिटिया मुर्मू के लिए, पृष्ठ संख्या-69

"पीली रोशनी में सोने सा चमकता सीना

और चिंगारी सी कोई अल्हड़ हंसी।"[27]

"ट्रक के घिसे टायर सी देह"[28]

"सोना,तांबा, हीरा-मोती-सी लबालब

कोल्हान प्रदेश का यह सारंडा वन है...।"[29]

"परिंदों के झुंड-सा

अजनबीयत लिए शुरू होता है दिन...."[30]

उपर्युक्त उदाहरणों में आदिवासी कवियों ने ऐसे उपमानो का प्रयोग किया है जिसे वे दैनिक जीवन में जीते और देखते आए हैं जो पाठक के मन को उद्वेलित करते हैं।ये उपमान अनूठे हैं क्योंकि अधिकतर उपमान प्रकृति से संबंधित हैं।

7.1.3.2. उत्प्रेक्षा अलंकार:-

"उत्+प्र+ईक्षा अर्थात प्रकृष्ट रूप से देखना। जहां पर उपमेय या प्रस्तुत की उत्कृष्ट उपमान या अप्रस्तुत के रूप में संभावना या कल्पना की जाए, वहां उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।"[31]

दूसरे शब्दों में कहे तो जब उपमेय में उपमान की संभावना या कल्पना कर ली जाए, तब उत्प्रेक्षा अलंकार माना जाता है। आदिवासी कवियों ने प्रसंग के अनुकूल उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग किया है जिसके कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं-

---

27.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,आदिवासी लड़कियां, पृष्ठ संख्या-208

28.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,दातुन बेचने वाली के बहाने, पृष्ठ संख्या-240

29.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-2014,सारंडा वन, पृष्ठ संख्या- 31

30.युद्धरत आम आदमी, सितंबर-2011,अघोषित उलगुलान, पृष्ठ संख्या-54

31.काव्यशास्त्र, डॉ० भागीरथ मिश्र, पृष्ठ संख्या- 169

“कंधे से टपक रहा है, पसीना जैसे खून

बेगारी दोने की वजह से।”[32]

“कांपता है जैसे आसमान किसी तारे के टूट जाने पर

लामबंद होती है पूरी कायनात....”[33]

“उम्मीदों का ढूह ढहा

छाती में जैसे तीर चुभा !!....

“कोहराम मचा नव मंडल में

ज्यो गाज गिरी हो अंचल में....”[34]

“हंस रहे हैं तुम्हारी नादानी और मूर्खता पर

जैसे बंदरों की जमात में रोटी का टुकड़ा फेंक तमाशा देख हंसते लोग”[35]

7.1.3.3. रूपक अलंकार:-

जहां उपमेय और उपमान में भेदरहित आरोप किया जाता है, वहां ‘रूपक अलंकार’ होता है।

“गूंजे होंगे मस्तिष्क कन्दराओं के भीतर
हृदय-सिंधु में उमड़ा होगा ज्वार घृणा का
भोली आंखों के पर्दों पर खून सिमट आया होगा
घनीभूत प्रतिशोध-तरंगे दौड़ी होंगी अंग-अंग में”[36]

32.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,बिरसा सभा, पृष्ठ संख्या- 254

33.बया, जुलाई-सितंबर 2011आदिवासी और यह दौर, पृष्ठ संख्या- 89

34.युद्धरत आम आदमी, अप्रैल-जून 2009,एकलव्य, पृष्ठ संख्या-48

35.कथादेश, मई-2004 घड़ा उतार तमाशा के विरुद्ध, पृष्ठ संख्या-71

36.युद्धरत आम आदमी, अप्रैल-जून 2009, एकलव्य, पृष्ठ संख्या-49

"कौशल की आधी-नदी
अविरत श्रम का गहरा सागर"[37]

"जब जंगल कटते हैं
हाथ कटते हैं
पहाडियां कराहती हैं
पांव कटते हैं....।"[38]

"वस्तुतः राजनीति
पौधशाला की मिट्टी
उपजाऊ मिट्टी है
आदिवासी
राजनीति माइलेज की ईंधन है आदिवासी...."[39]

"शाम घिरते ही अपनी बस्तियों में उतर आये
उन खतरनाक शहरी-जानवरों को पहचानो चुड़का सोरेन"[40]

"यह मत भूलिए कि मैं
झारखंड के मानचित्र पर
संथाल परगना का चेहरा हूं...
मेरे लिए दिल
जंग लगा हुआ ताला है....
दुमका की मिट्टी से बना झारखंड का पठार हूं मैं

37.वहीं, पृष्ठ संख्या- 49

38.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर-दिसंबर 2012,नक्सली कॉम, पृष्ठ संख्या-68

39.युद्धरत आम आदमी, अप्रैल-जून 2009,एकलव्य, पृष्ठ संख्या-49

40.कथादेश, मई-2004, चुड़का सोरेन से, पृष्ठ संख्या-72

जंगल पहाड़ों में खेलने वाली जंगली फूल हूं।"[41]

"शीतल झर-झर झरने 'कारो' नदी है

सिंहभूम का यह अमृत नद...."[42]

7.1.3.4. मानवीकरण अलंकार:-

जब प्रकृति या जड़ पदार्थों आदि पर मानवीय क्रियाओं का आरोप किया जाता है वहां मानवीकरण अलंकार होता है।

"अटल पर्वत पर खड़े वृक्ष

हरियाली लिए पवन संग झूमता है।"[43]

"नदी-नालों में मछलियां अठखेलियां कर रही है...

पेड़ पर चिड़िया गीत गा रही है।"[44]

"आज सारंडा रात

की नींद लिए

जागता जा रहा है

एक समय था

जब चिड़ियों की

कौतुहल, कोलाहल

रात की खामोशी

के सर का घुंघट

उतारती थी।"[45]

41.हंस, मई 2004, आपके शहर में आप के बीच रहते आपके लिए, पृष्ठ संख्या-51

42.युद्धरत आम आदमी, जनवरी-2014, सारंडा वन, पृष्ठ संख्या- 31

43.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,क्या तुम्हें दिखाई देता है, पृष्ठ संख्या-233

44.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,नहीं छोड़ूंगा, पृष्ठ संख्या-257

“पहली बारिश में

भीग कर

जंगल की मिट्टी हंसती है

और धूप की उजास में

सरई जंगल जी उठता है

सरई जंगल में

यह बोड़ा की आँख

खोलने का समय है।”[46]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि इन कविताओं में अलंकार योजना जहां-तहां दिखती है। सरल भाषा में प्रभावशाली तरीके से अलंकारों का प्रयोग हुआ है। आदिवासी समुदाय से जिन कवियों का नाता रहा है उनकी कविता में प्रकृति का मानवीकरण हुआ है। इसके पार्श्व में प्रकृति की प्रेरणा है। आदिवासी जनकवि हैं, उनकी कविता की भाषा सरल एवं सहज है इसलिए उनकी कविता में अलंकार अनायास ही आए हैं, सायास नहीं।

7.1.4. बिंब और प्रतीक:-

‘बिंब’ अंग्रेजी भाषा के ‘Image’ शब्द का हिंदी अनुवाद है। बिंब का शाब्दिक अर्थ प्रतिमा, चित्र, रूप आदि है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी काव्य आलोचना के क्षेत्र में बिंब शब्द का सबसे पहले प्रयोग किया। बिंब को परिभाषित करते हुए शुक्ल जी कहते हैं- “बिंब योजना विभाव के अंतर्गत होती है, चित्रण उसका मुख्य धर्म है। इसकी दूसरी विशेषता है संश्लिष्ट रूप-विधान। बिंब, व्यक्ति या

45.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर-दिसंबर 2012, ऑपरेशन मानसून, पृष्ठ संख्या-67

46.युद्धरत आम आदमी, अगस्त-2015, बोड़ा, पृष्ठ संख्या-32

विशेष का होगा, सामान्य या जाति का नहीं। कविता का कार्य बिंब ग्रहण कराना होता है, अर्थ ग्रहण नहीं।”47

काव्य में बिंब को वस्तु, घटना, व्यापार से जोड़ते हुए प्रत्यक्ष तथा इंद्रियग्राह्य बताते हुए डॉ भागीरथ मिश्र लिखते हैं कि “बिंब-रचना काव्य का मुख्य व्यापार है। बिंबों के द्वारा कवि वस्तु, घटना, व्यापार, गुण, विशेषता, विचार आदि साकार तथा निराकार पदार्थों और मानस क्रियाओं को प्रत्यक्ष एवं इन्द्रियग्राह्य बनाता है।”48

आदिवासी हिंदी कविता प्रतिरोध की कविता है। वह आक्रोश एवं विद्रोह के स्वर से लैस है। बेधड़क, निडर सीधे लक्ष्य पर वार करना इसकी विशेषता है। आदिवासी कवियों की कविताओं में भी शब्द, प्रतिरोध का आधुनिक हथियार है। इन कवियों को पता है कि जिस लड़ाई को वे लड़ रहे हैं, उसे शस्त्रों की अपेक्षा कलम से लड़ना अधिक कारगर तथा महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। पूँजीपतियों को लाभ पहुंचाने के लिए सरकारें गलत नीतियां बनाती हैं जिसका नुकसान आदिवासियों को उठाना पड़ता है। लेकिन अब आदिवासी सजग हो रहे हैं; वे उनकी मंशा को जान गए हैं इसलिए कविता के माध्यम से सत्ता की गलत नीतियों का मुखर होकर विरोध कर रहे हैं। आदिवासी कविताओं में विरोध के स्वर के साथ बिंब आये हैं।

“प्रतिरोध की भावना रखने वाले
जरूरी नहीं कि कहने के लिए कुछ न हो
मौन का यह अर्थ नहीं कि सब शांत है।
सौम्य ज्वालामुखी भी, जानता है
कौन सा समय अनुकूल है
बात करने के लिए।”49

विकास रॉय देववर्मा की यह कविता आदिवासियों की चुप्पी टूटने की मुहिम है।

47.हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ संख्या-248

48.काव्यशास्त्र, डॉ० भागीरथ मिश्र, पृष्ठ संख्या- 261

49.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, प्रतिरोध, पृष्ठ संख्या-290

आदिवासी हिंदी कविताओं में बिंबों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।कवि जिन स्थिति-परिस्थिति, समाज, समुदाय में जीवन व्यतीत करता है, उसके अनुरूप उसकी कविता में बिंबों का प्रकटीकरण दिखाई देता है। उनका सुख-दुख, हर्ष, उल्लास, क्रोध, चिंता, संघर्ष आदि बिंबों के माध्यम से अत्यधिक स्पष्ट और असरदार तरीके से प्रस्तुत हुआ है।

<u>7.1.4.1. दृश्य बिम्ब:-</u>

डॉ० भागीरथ मिश्र के अनुसार "किसी वस्तु को स्पष्ट करने के लिए दृश्य बिंबों की प्रयुक्ति की जाती है।" आदिवासी कविताओं में दृश्य बिंब की प्रमुखता झलकती है। प्राकृतिक, सामाजिक, वैयक्तिक, आर्थिक स्थितियों एवं घटनाओं आदि के बिंब प्रभावशाली होकर आए हैं।

<u>7.1.4.1.1 प्राकृतिक बिम्ब:-</u>

"पहली बारिश में
भीग कर
जंगल की मिट्टी हंसती है
और धूप की उजास में
सरई जंगल जी उठता है"[50]

यहाँ सुंदर प्रकृति का बिम्बविधान प्रस्तुत किया गया है।

<u>7.1.4.1.2. पौराणिक बिम्ब:-</u>

"द्वापर का वह महाभारत
उस एक युद्ध की अल्पाविधि में

50.युद्धरत आम आदमी, अगस्त-2015 , बोड़ा, पृष्ठ संख्या-32

जाने कितने युद्ध छिड़े

द्रोपदी, शिखंडी,

कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा,

अभिमन्यु, पितामह

पांडूपुत्र, कौरव

उनके साथी-संगी...”[51]

7.1.4.1.3. ऐतिहासिक बिंब:-

“कालचक्र का पहिया

अबकी बार

घूमेगा कोख में तैयारी कर

एक उलगुलान की

बिरसा को याद कर

सिद्धू-कानू, चांद तथा भैरव को याद कर

फूलों और झानू का

अबुरा राज को याद कर....”[52]

7.1.4.1.4. आर्थिक बिंब:-

“सखुआ के पत्तल, ठोंगा लिये बेटी

और खटिया लिए पति भी

51.युद्धरत आम आदमी, अप्रैल-जून 2009, एकलव्य, पृष्ठ संख्या-49

52.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर-दिसंबर 2012, ऑपरेशन मानसून, पृष्ठ संख्या-67

नहीं मिलेगी सप्ताहिक बाजार में

अच्छी जगह

और बिक नहीं पाएंगे

खटिया, दतुवन, पत्तल और ठोंगे

बिना पैसों के

न भात, न हड़िया”[53]

7.1.4.1.5. व्यक्ति बिंब:-

“चुप चुप रहती, सब कुछ सहती

करती चौका-बर्तन-झाड़ू

लाती खतरों से खेल जंगल-जंगल

कंद-मूल-फल

लकड़ी-झूरी, दातुन, पत्तियां

बेचती बाजार जा जाकर....”[54]

7.1.4.1.6. सांस्कृतिक बिंब:-

भागीरथ मिश्र के अनुसार “सांस्कृतिक बिंब अपनी निजी विशेषता रखते हैं। इनमें किसी व्यापार को स्पष्ट करने के लिए सांस्कृतिक क्रियाकलापों के चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं। इन सांस्कृतिक बिंबों का प्रभाव बड़ा ही पावन और उदात्त होता है।” आदिवासी कविताओं में इस बिंब का प्रकृतिकरण हुआ है-

“मांदर की थाप

53.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,दातुन बेचने वाली के बहाने, पृष्ठ संख्या-241

54.कथादेश, मई-2004, बिटिया मुर्मू के लिए, पृष्ठ संख्या-69

हड़िया

झूमर

और सरई फूल

आया प्रकृति परब सरहुल...."[55]

7.1.4.2. अन्य संवेद्य बिम्ब:-

कविता में प्राय:दृश्य बिंबों की प्रधानता रहती है, लेकिन साथ ही साथ संवेद्य बिंब भी बराबर दिखाई देते हैं जिनका संबंध आंख के अतिरिक्त अन्य इंद्रियों से होता है। इनके उदाहरण मात्र यहां दिए जा रहे हैं।

7.1.4.2.1. श्रवण बिंब:-

"तो फिर क्यों नहीं

बदलते गीतों का स्वर

नगाड़े की ताल

सिंगा की धुन"[56]

7.1.4.2.2. घ्राण बिंब:-

"महुए की गंध से बौराया जंगल

मदमस्त हाथी की तरह चिघाड़ रहा है...."[57]

7.1.4.2.3. स्पर्श बिंब:-

"और बात-बात में हंसते हुए

उसका कंधा छू लेती है

55.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, सरहुल, पृष्ठ संख्या-188

56.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26, पैगाम, पृष्ठ संख्या-247

57.युद्धरत आम आदमी, अगस्त-2015,उनके घर भात, पृष्ठ संख्या-35

तब वह समझता है

बहुत सस्ती है यह सहजता

और पलट कर फेरने लगता है

अपनी अंगुलियां उसकी पीठ पर”[58]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि आदिवासी कविताओं में लगभग सभी बिंबो का सफल प्रयोग हुआ है। सरल बातचीत की सहायता से बिंबो का सार्थक प्रयोग हुआ है। इससे पाठक के मानस पटल पर वही छवि बनती है जिसे कवि दिखाना चाहता है। आदिवासी कवियों ने अपने तरीके से बिंबों का प्रयोग किया जिसमें वास्तविकता दिखाई देती है।

7.1.5. प्रतीक:-

प्रतीक शब्द का अर्थ है- अवयव, चिन्ह, निशान, संकेत इत्यादि। जब कोई पदार्थ किसी भाव की स्वीकृति या उपलक्षण बन जाता है तो उसे ‘प्रतीक’ कहते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘प्रतीक’ शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है- “किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना मन में आ जाती है, उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएं विशेष मनोविकारों या भावनाओं को जागृत कर देती हैं जैसे ‘कमल’ माधुर्यपूर्ण कोमल सौंदर्य की भावना जागृत करता है, ‘कुमुदिनी’ शुभ हास की, ‘चंद्र’ मृदुल आभा की, ‘समुद्र’ प्राचुर्य विस्तार और गंभीरता की, ‘आकाश’ सूक्ष्मता और अनंतता की भावना को जागृत करता है। इसी प्रकार ‘सर्प’ से क्रूरता और कुटिलता का, ‘अग्नि’ से तेज और क्रोध का, ‘वाणी’ से वाणी या विद्या का, ‘चातक’ से निस्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता है।”[59]

58.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,आदिवासी लड़कियां, पृष्ठ संख्या-208

59.हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ॰ अमरनाथ, पृष्ठ संख्या-228

डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्दों में- “अपने रूप गुण, कार्य या विशेषताओं के सादृश्य एवं प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार, क्रियाकलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है।”[60]

प्रतीक का प्रयोजन विषय-वस्तु को ज्यादा से ज्यादा भाव-व्यंजक एवं प्रभावोत्पादक बनाना होता है। प्रतीकों के द्वारा कवि, सौन्दर्य-विधान में सफल होता है। प्रतीकों की अहमियत इस दृष्टि से भी है कि कवियों का अमूर्त्त चिंतन प्रतीकों के द्वारा प्रकट होता है।

प्रतीकों की काव्यात्मकता तब अधिक सिद्ध होती है, जब प्रतीक में बिंबों जैसी एन्द्रिकता और मूर्तता हो। यह सर्वमान्य है कि बिंब, अर्थों की विविध श्रृंखला और वलयों से पूर्ण होते है, जबकि प्रतीक एकार्थक और रूढ़ होते हैं। बिंब में भावों की तीव्रता होती है जबकि प्रतीकों के मूल में बौद्धिकता के साथ प्रचलित रूढ़ि की प्रधानता होती है। प्रतीक का व्यवहार प्राय: मनोविज्ञान, ज्योतिषशास्त्र, तर्कशास्त्र में होता है। साहित्य में भी रचनाकारों ने देश-काल के अनुरूप अपने तरीके से प्रतीकों की सृष्टि की और उन्हें कविताओं में संवारकर अपनी कृतियों में अनुभूतियों एवं संवेदनाओं को प्रभावपूर्ण तरीके से पाठकों तक पहुंचाने का प्रयास किया है। आदिवासी कविताओं में प्रतीकों को संवेदनाओं के अनुसार व्यवहृत किया गया है। संप्रेषण को प्रभावशाली बनाने में प्रतीक महत्वपूर्ण है। कविताओं में अधिकांशत: ऐसे प्रतीक रचे गए हैं जो अत्याचार, शोषण, गरीबी, सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था, विद्रोह इत्यादि से संबंधित है। नीचे आदिवासी कविताओं में आए प्रतीक द्रष्टव्य हैं-

ज्योति लकड़ा की कविता ‘तुम्हारा डर’ में पुरुष प्रधान समाज की कुंठा तथा विषमताओं को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है-

---

60.काव्यशास्त्र, डॉ० भागीरथ मिश्र, पृष्ठ संख्या- 169

"तुम डरते हो मेरी गरिमा से

इसलिए योनि पूजा की जगह

लिंग पूजा स्थापित की तुमने

तुम डरते हो मुझसे

इसलिए घोघीं-जैसे सुरक्षा घेरे के

चक्रव्यूह में फंसाए है रखते हो मुझे

कि मैं कभी बाहर ही न निकल सकूं उससे...."[61]

यहां योनि स्त्री का, लिंग पूजा पुरुषवादी मानसिकता का, तथा चक्रव्यूह रूढ़ परंपराओं का प्रतीक है। इसी प्रकार निर्मला पुतुल अपनी कविता "कुछ मत कहो सजोनी किस्कू!' में अपने समाज में स्त्रियों के प्रति दूषित मानसिकता रखने वाली पुरानी परंपराओं को प्रतीकों के जरिये चुनौती देती हैं-

"कुछ मत कहो सजोनी किस्कू

मैं जानती हूं कि

अपने गांव बागजोरी की धरती पर

जब तुमने चलाया था हल

तब डोल उठा था बस्ती के मांझी थान में

बैठे देवता का सिंहासन

तब बैल बनाकर हल में जोता था

जालिमों ने तुम्हें

खूटे में बांधकर खिलाया था भूसा"[62]

61.युद्धरत आम आदमी, जनवरी 2014, तुम्हारा डर, पृष्ठ संख्या-16

62.कथादेश, मई-2004, कुछ मत कहो सजोनी किस्कू, पृष्ठ संख्या-67

कविता में स्त्री द्वारा हल चलाना पुरुष वर्चस्ववादि प्रवृत्ति को चुनौती देने का प्रतीक है जबकि पुरुषों द्वारा स्त्री को बैल बनाकर हल जोतना आदिवासी समाज की पतन का प्रतीक है। 'बैठे देवता का सिंहासन' पुरानी जड़ परंपरा का प्रतीक है।

आदिवासी कविताओं में पौराणिक प्रतीकों का भी सार्थक प्रयोग हुआ है। ये प्रतीक अधिकतर महाभारत से लिए गए हैं। प्राचीन आख्यानों से लिए गए प्रतीक आदिवासी संदर्भ में नया अर्थ देते हैं। 'एकलव्य' कविता महाभारत के आधार पर रची गई है। कविता में प्रतीकों का प्रयोग द्रष्टव्य है-

"एकलव्य
क्या ऐसा ही कुछ कहा नहीं तुमने आचार्य द्रोण को...
घर न लौटे
वस्तुतः गये गणचिह्न वृक्ष तक
जहां-
निकट नाले की गीली मिट्टी से
आचार्य द्रोण की मूर्ति बनाई
जिसके चेहरे के भाव में
- गुरुता नहीं,
पक्षधरता की लघुता झलकी"[63]

कविता में एकलव्य, द्रोण तथा द्रोण की प्रतिमा क्रमशः आत्मविश्वास व स्वावलंबी व्यक्तित्व, द्रोण कुटिल राजनीतिज्ञ तथा द्रोण की प्रतिमा झूठी तथा निर्जीव आस्था का प्रतीक है। आदिवासियों की विपन्नता, गरीबी, अभाव आदि निर्मला पुतुल की कविता में प्रभावशाली तरीके से प्रतीक बनकर आते हैं-

"यह कैसा तमाशा है ढेपचा सोरेन

63.युद्धरत आम आदमी, अप्रैल-जून 2009,एकलव्य, पृष्ठ संख्या-48

कैसा तमाशा है यह

कि दो-चार किलो लड्डू और हजार-पांच

सौ से भरे

एक पितराही घड़े के पीछे पड़े हो तुम सबके सब!"[64]

यहां 'दो-चार' किलो लड्डू और 'हजार-पांच सौ' तथा पितराही घड़ा गरीबी, भूख, विपन्नता का प्रतीक है साथ ही उस वर्ग का भी प्रतीक है जिसे तथाकथित मुख्यधारा के समाज ने सभ्यता से बाहर कर दिया है।

सत्ता तथा बाजार के गठजोड़ को जसिंता केरकेट्टा ने अपने प्रतीकात्मक कविता 'ईश्वर और बाजार' में प्रतीकों के माध्यम से सफल अभिव्यक्ति दी है-

"लोग ईश्वर को राजा मानते रहे

और राजा में ईश्वर को ढूंढते रहे

राजा ने खुद को एक दिन

ईश्वर का कारिंदा घोषित कर दिया

और प्रजा की सारी संपत्ति

ईश्वर के लिए

भव्य प्रार्थना स्थल बनाने में लगा दिया।"[65]

उपर्युक्त 'ईश्वर और बाजार' कविता जसिंता केरकेट्टा की प्रकृष्टतम कविताओं में से एक मानी जाती है। कविता में ईश्वर 'सत्ता' का और राजा 'पूंजीपति' का प्रतीक है। प्रजा की संपत्ति मानव संसाधन का प्रतीक है और भव्य प्रार्थना स्थल बाजार का प्रतीक है।

64.कथादेश, मई-2004,घड़ा उतार तमाशा के विरुद्ध, पृष्ठ संख्या-71

65.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,ईश्वर और बाजार, पृष्ठ संख्या- 204

पूंजीपतियों द्वारा आदिवासी अंचलों में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और शोषण ने जंगल का पूरा तंत्र ही भ्रष्ट कर दिया है। वसीम अकरम की कविता 'भूख' में भूख केवल सामान्य भूख नहीं है। वह प्रतीक है-

"भूख चाहे जिस चीज की हो
मौत से पहले शांत नहीं होती
अब एक और नई भूख तुमने पैदा कर ली है
जल, जंगल और जमीन को
नष्ट कर चांद पर जाने की भूख
जाओ जाओ जल्दी जाओ
और चांद पर जाकर चांद को खा जाओ"[66]

इन पंक्तियों में भूख, पूंजीपतियों की भूख है, जिनकी भूख कभी शांत नहीं होती है। आज ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के चक्कर में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में बेतहाशा वृद्धि होती जा रही है आदिवासी कविता में इस दोहन और लूट का पर्दाफाश प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है।

"अब सबसे आगे निकलने की
और सबसे ऊपर पहुंचने की भूख जगी
जिसने संस्कृति, परंपरा और
संवेदनाओं की लाश का सहारा लिया
और विकास की इस उस छत पर पहुंच गए
जहां विज्ञान ने
खडखड़ाती मशीनों, विषैली, कंपनियों
बम, हथियार

66.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,भूख,पृष्ठ संख्या- 223

और जहर उगलती फैक्ट्रियों का

एक खतरनाक तंत्र बिछा रखा था।"[67]

यहाँ विज्ञान, मशीनें, बम हथियार, फैक्ट्री विध्वंस का प्रतीक है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रतीक-योजना की दृष्टि से आदिवासी कविता समृद्ध है। आदिवासी कविता ने शिल्प के क्षेत्र में नवीन प्रतीक हिंदी कविता को प्रदान किए हैं।

7.1.6 शैली:-

किसी विषय वस्तु की अभिव्यक्ति अथवा लेखन में भाषा की अनिवार्यता होती है, भावों-विचारों को प्रभावी ढंग से प्रकट करने के लिए शैली की। शैली रचनाकार के व्यक्तित्व का दर्पण होता है। शैली को शिल्प का ही भाग माना जाता है। शैली की मूल प्रकृति को लेकर विद्वानों में दो राय है। कुछ विद्वानों ने इसे आत्मपरक माना है तो कुछ ने वस्तुपरक। शैली शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' का पर्याय है तथा शिल्प-विधि के लिए 'टेक्निक' शब्द प्रयोग में लाया जाता है। फिर भी अंग्रेजी का हुबहू वही अर्थ हिंदी में चरितार्थ नहीं होता।

हिंदी में छायावादी कवियों ने 'मैं' शैली में कविताओं की रचना की, वहीं आदिवासी कवियों के 'मैं' में 'सहअस्तित्व', 'सहजीविता' का भाव है। आदिवासी सामूहिकता, सहजीविता, सहअस्तित्व में विश्वास करता है तथा इसी के साथ रहना पसंद करता है। 'सहजीविता' की शैली में समूचा आदिवासी समाज अभिव्यक्त होता है।

वरिष्ठ आदिवासी साहित्यकार रोज केरकेट्टा कहती हैं- "आदिवासी साहित्य के संदर्भ को समझने और उसे कहने के लिए अलग सौदर्यशास्त्र की जरूरत नहीं। जरूरत है सौन्दर्यशास्त्र के परिधि के विस्तार की। जैसे युवती का गोरा रंग लेकिन

67.वहीं, पृष्ठ संख्या- 222

आदिवासी साहित्य में रंग नहीं स्वस्थ पुष्ट देह और श्रम सौन्दर्य का मानदंड है। कारी फल से तुलना करते हुए कहा जाता है 'दूरी बेलोङ बेटी' यानी कारी फल की तरह गहरे रंग वाली पुष्ट देह और श्रम वाली युवती। आदिवासी जीवन का अध्ययन करते हुए आप एकाक्षी, विकलांग युवक-युवती का संपूर्ण देह वाले युवक-युवती से प्रेम संबंध पाएंगे। यहां देह नहीं भावनाएं आधार हैं संबंधों के। बेनीपुरी ने ऐसा किया है। लेकिन लोग ज्यादातर पीछा परंपराओं का करते हैं। आदिवासी साहित्य जब अपनी जगह बना लेगा तब संकीर्ण परिधि का घेरा टूटेगा।"[68]

आदिवासी साहित्यकारों को हिंदी साहित्य के परंपरागत शिल्प-विधान और शैली मान्य नहीं है। प्रसिद्ध आदिवासी साहित्यकार हरिराम मीणा लिखते हैं- "बौद्धिक परंपरा के साथ आग्रह यह है कि इस दुनिया को बनाने वाले, इसे सजाने वाले, इसे संरक्षित रखने वाले लोग और उनके कर्मों को जब तक सौंदर्य का निकष नहीं बनाया जाएगा तब तक हम सौन्दर्य के काल्पनिक लोक में भटकते रहेंगे। इसलिए सौंदर्य के तथाकथित प्रतिमानों को ध्वस्त करना होगा ताकि अमूर्त वायवीय, काल्पनिक, सिद्धांतों पर आधारित दर्शन के सातवें आसमानों से उतरकर हम धरती के यथार्थ को समझ सकें।"[69]

अतः आज साहित्य के मानदंड में परिवर्तन की आवश्यकता है। हिंदी अथवा मुख्यधारा की किसी भी भाषा में रचे जाने से पहले मूल भाषा में आदिवासी साहित्यलिखा जाता रहा है। उस समय आदिवासियों को अभिजात्य लोगों के बनाए नियम, शैली आदि की आवश्यकता नहीं थी। आदिवासी साहित्य सृजनात्मकता, सह-अस्तित्व और संरक्षण का साहित्य है। यह मनुष्य के उस दर्शन को व्यंजित करने वाला साहित्य है जिसका विश्वास है कि प्रकृति और संसार में जो कुछ भी है सुंदर है और असुंदर कुछ नहीं है। यही उनकी शैली है। आशुतोष कुमार झा लिखते हैं-

---

68.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,नए सौन्दर्यशास्त्र की जरूरत नहीं जरूरत है सौंदर्यशास्त्र की परिधि के विस्तार की, पृष्ठ संख्या-378

69.मधुमति, अंक-5, मई 2019,आदिवासी सौंदर्य बोध, पृष्ठ संख्या-41

“तुम्हारे जंगल

तुम्हारे ही हाथों कटवाकर

तुम्हारी जमीन पर

खदानें खुदवा कर

तुम्हारे गांव को

बांधों में डूबा कर

तुम्हें उद्योगों का

सस्ता श्रम बनाकर

सभ्यता के जालसाज

विकास की धारा से

जोड़ने के नाम पर

जीवन और पहचान से

तोड़ने में लगे हैं।”[70]

आदिवासी कविता राजनैतिक दबाव, टकराहट, संबंधों तथा विसंगति से गुजरती है। इसलिए उसका तौर-तरीका और मुख्य वास्ता वैचारिक हो गया है। कविता की ताकत केवल कल्पना तक ही नहीं है अपितु जीवन में चारों ओर फैले सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक विज्ञान के असर से उत्पन्न निरर्थकता, विडंबना, निराशा, मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन एवं जीवन के बेतुकेपन की निस्सारता को दूर करना भी है। यह प्रवृत्ति हरिराम मीणा की कविता में दृष्टिगोचर होती है-

“ग्लोबल विकास के पैकेज पर

प्रहार करने का स्वांग करते

प्रकृति- पुत्रों की आवाज निकालते

70.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,पैगाम, पृष्ठ संख्या-244

नेपथ्य में सुरक्षित शैतानों का समूह

विकास- घुसपैठ, आदिम चेतना- आतंक

सब गडमड करती यात्रा-

बाल्को हिंडाल्को, नेतरहाट

नंदीग्राम, सिंगूर, लालगढ़

ग्रीन हंट- दंतेवाड़ा वाया राजधानी एक्सप्रेस”[71]

यह शैली कविता को नए आदर्श की ओर ले जाती है। यही उनकी कविता की सार्थकता है।

वास्तव में कविता, रचनाकार के काव्यात्मक उद्देश्य और सृजनात्मक रूप में उनका प्रकटीकरण करके भावांगम में महती भूमिका निभाती है। अक्सर आदिवासी साहित्यकार निजी अनुभवों के माध्यम से जीवन उद्देश्यों को कविता का स्वरूप देकर संप्रेषणीय अवलंबन देता है और यह संप्रेषण काव्यगत रचनात्मक विचारशीलता से पुष्ट होता है।

आदिवासी स्त्रियों के प्रति गैर-आदिवासी कवियों की दृष्टि प्राय: रोमानी होती है। गैर-आदिवासी रचनाकार आदिवासी स्त्री को हिंदी की उसी परंपरागत शैली में व्यंजित करने की कोशिश करते हैं जैसे साधारण स्त्री के प्रति उनका दृष्टिकोण होता है। दृष्टिकोण की यह भिन्नता जसिंता केरकेट्टा की कविता में दिखाई पड़ती है-

“किसी आदिवासी गांव से गुजरती कविता में

कुछ लोग ढूंढ रहे हैं

नदी में नहाती किसी आदिवासी स्त्री की नंगी पीठ

एक कपड़े में लपेट पूरी देह

71.बया, जुलाई-सितंबर 2011 आदिवासी और यह दौर, पृष्ठ संख्या- 88

भीगी-भीगी सी घर लौटती कोई जवान लड़की

नींद से जाग वह चकराता है

अब किसी कविता में उसे

ऐसी कोई लड़की नहीं मिलती

कविता चलाती है उसकी पीठ पर हँसिया

तोड़ देती है उसकी गंदी अंगुलियां

और चीखती है

बंद करो कविता में ढूंढना आदिवासी लड़कियां"[72]

यहां पर कवयित्री ने उन कवियों को आड़े हाथ लिया है जो परंपरागत शैली का आवरण लेकर कविता में आदिवासी स्त्रियों को कामुक नजर से देखते हैं। कवयित्री को अपनी संस्कृति व समाज की फिक्र है, वह चेतना से लैस है। इसलिए आदिवासी कविता की शैली हिंदी की पारंपरिक शैली से बिल्कुल भिन्न हो गई है। कवयित्री के हृदय में स्त्री की छवि मनुष्य की भांति है।

आदिवासी साहित्य वास्तविक अर्थ में जनवादी साहित्य है। आदिवासी कविता आदिवासियों के जीवन को संपूर्णता के साथ प्रस्तुत करती है। कविता एक ओर जहां शोषक वर्गों के सामने चुनौती के रूप में प्रस्तुत होती है वहीं दूसरी ओर आदिवासियों के जीवन में उनकी आशाओं-आकांक्षाओं, सपनों तथा संघर्षों को स्वर देती है। ज्यादा से ज्यादा लाभ के लिए आदिवासियों का शोषण और शोषण व्यवस्था को कायम रखने के लिए काले कानूनों के द्वारा आदिवासियों के अधिकारों में कटौती, हक और न्याय के लिए आवाज बुलंद करने वालों को पुलिस तथा फ़ौज द्वारा दमन, हत्या, एनकाउंटर इत्यादि के जरिए कथित मुख्यधारा की व्यवस्था आदिवासियों पर जुल्म ढा रही है। ऐसे में आदिवासी कविता की जिम्मेदारी बढ़ जाती है कि वह आम बोलचाल की भाषा और शैली में संवाद करे।

7.2. कहानी:-

72.पक्षधर, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26,आदिवासी लड़कियां, पृष्ठ संख्या-207

भाषा की दृष्टि से आदिवासी कहानियों का अध्ययन:-

आदिवासी कहानियों की भाषा-शैली और शिल्पगत विधान पर दृष्टिपात करने से जो विशेषताएं दिखाई देती हैं वे हैं- उसकी सहजता, स्वाभाविकता तथा बोधगम्यता। पिछली सदी के मध्य में आदिवासी कहानी अनगढ़ खुदरेपन का अनुभव कराने के साथ ही सदियों से कोहराछन्न एक बड़ी जनसंख्या के जीवन मूल्यों, जीवन शैली और अस्तित्व के संघर्ष को दुनिया के सम्मुख लाती है। छठवें दशक तक आदिवासी हिंदी कहानियों में आदिवासी अंचल के बदलते परिदृश्य, सामाजिक, जीवन, संस्कृति, पहचान के लिए राजनीतिक संघर्ष की विस्तृत पड़ताल की गई।अस्सीके दशक तक पहुंचते-पहुंचते आदिवासी कहानी की स्थिति समय से संवाद करने के लिहाज से विकसित और सजग हो गई। अब तक आदिवासियों को अजूबे की तरह देखा और चित्रित किया जाता था। वह क्रम भी यहां आकर रुक गया। आदिवासी समाज पर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के असर की फिक्र बीसवीं सदी के अंतिम तथा इक्कीसवीं सदी की प्रारंभिक कहानियों में देखने को मिलती है।इक्कीसवींसदी के प्रारंभिक दशक की कहानियों में उदारीकरण के उपरांत वनों, पहाड़ों के विनाश, पारिस्थितिकी संकट, विस्थापन, यौन शोषण तथा उनके आर्थिक पक्षों आदि का उद्घाटन हुआ।

पिछले कुछ दशकों में आदिवासी समाज में नए मध्यम वर्ग का उदय, शोषक व्यवस्था के बिचौलियों का जन्म और आधुनिकीकरण के प्रसार से अपनी संस्कृति से दूर हो रहे आदिवासी चरित्रों के तरफ कहानीकारों का ध्यान गया है। आदिवासी जीवन में पारंपरिक मूल्यों की टूट और उनके सामाजिक संगठनों में शिथिलता भी कहानियों की अंतर्वस्तु बनी।

समकालीन आदिवासी हिंदी कहानियों में बिंब, प्रतीक, संकेत आदि यथार्थ को अभिव्यक्त करने का मजबूत जरिया बने हैं। आदिवासी कहानियों में प्रयुक्त ये बिंब, प्रतीक, संकेत इत्यादि अभिजात्य साहित्य के साहित्यिक प्रतिमानों से अलग हैं। “सौंदर्यशास्त्र एक दृष्टिकोण होता है और यह दृष्टिकोण उनकी जीवन प्रणाली से

संबंध रखता है। आदिवासी सौन्दर्य की विशिष्टता की बात है तो आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र नि:सर्ग नियम पर और आदिवासी संस्कृति पर आधारित है।"[73]

आदिवासी कहानियों में कहानीकार कलात्मक प्रभाव सृजित करने के लिए यथार्थ की प्रमाणिकता के साथ प्रतीकों आदि का तालमेल रखता है। इच्छित प्रभाव की रचना करनेके लिए वह चरित्र अथवा परिवेश का निर्माण करता है, अथवा बिंबो, प्रतीकों की सहायता लेता है। कहानीकार बिंबों और विचारों को साथ ही में प्रस्तुत करता है; पात्र और घटनाओं का ऐसा दृश्य प्रस्तुत करता है कि कहानी निहित संकेत दृश्यमान हो जाता है। अपनी कब्र खोदने वाले (अश्वनी कुमार पंकज), कनकट्टी दीदी (मंजुला सांगा), जंगल का दाह (स्वयं प्रकाश), कोयले पर पलते पेट (यू एस के चौहान), औरत का घर (जसिंता केरकेट्टा), सेराज बैंड बाजा (जयनंदन) आदि कहानियां हैं। इन कहानियों के कथ्य प्रतीकों, बिंबो की सरणी के माध्यम से व्यापक अर्थ को अंतर्विष्ट करते हैं। इसके द्वारा कहानी में आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक एवं पर्यावरणीय संकट का जो वास्तविक दृश्य प्रतिफलित हुआ है, वह विचारणीय है।

7.2.1. शांबरी:-

शांबरी कहानी में खड़ी बोली हिंदी के साथ आंचलिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इस कहानी में कहानी विधा के सभी तत्व मौजूद हैं। लेखक ने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें स्थानीय आदिवासी नेता बिसू लकड़ा को स्थानीय बोली बोलते दिखाया गया है "वह नशे में था और 'अल-पल' बोल रहा था, 'इ सार के और कोय दिकू आलक रेंजर बनके।.... हमरे फेर कुटुंब में तो एसन बुझाएला कि रेंजर के खकराय खाए गेलक; अब व दिकू-मन गाछ काटबै और जेहेल जाबै हमर आदमी-मन।"[74]

73.हिंदी साहित्य में आदिवासी हस्तक्षेप, गौतम भाईदास कुंवर, पृष्ठ संख्या-46

74.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011,शांबरी, पृष्ठ संख्या-112

बीच-बीच में कहानी के विकास के लिए पौराणिक कथाओं का भी सहयोग लिया गया है।कहानी में संस्कृत के शब्दों एवं वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है। कर्णकटु, तुमुलनाद,मृगशाविका, स्निग्ध, त्वमेव वस्तु गोविंद त्वमेव समर्पयामी आदि।

7.2.2. सिराज बैंड बाजा:-

जयनंदन की कहानी 'सिराज बैंड बाजा' में भाषा के रूप में खड़ी बोली हिंदी का प्रयोग हुआ है। इस कहानी में 'प्रतीकात्मक शैली' को अपनाया गया है जिसका उदाहरण द्रष्टव्य है, "उसने जनता में हराम के बेइंतहा पैसे बहा कर और बाटकर जीत हासिल की है। फटीचर और बिकाऊ युवाओं में एक हजार मोटरसाइकिल बाँटकर वोटों की लूट करवाई है। उसने राज्य के विकास कोष में सेंध लगाकर युवाओं को जंगल का रास्ता पकड़ाकर बागी बनने को मजबूर किया है।"[75]

कहानी का अभिविधान अन्य कई अर्थों में विशिष्ट और सार्थक है। कहानी में अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का काफी प्रयोग हुआ है। ट्यूबलाइट, जनरेटर, बैंड, ट्रंपेट, ऑनर, मीटिंग, टेलरिंग, रिपेयरिंग, प्लानेट, पेंटिंग स्लेट, गटर, इंस्ट्रूमेंट, सेक्स, गुड मॉर्निंग, कॉल, गुड नाइट, लव यू, डार्लिंग, रिप्लाई, ऑक्सीजन, पिस्टल, हैंगर, अख्तियार, यतीम, निकाह, बेदिली, नफरत, इत्तेफाक, खिदमत, फरियाद, तस्दीक, तरन्नुम, माजरा, खुदगर्ज, इल्म, कद्दावर, निकाह, नेमत, शहादत, बंदिश, कायनात, तरजीह, फन, जहमत, निगाह बानी, रियाज, दीदार, आबाद, बर्बाद, खैरख्वाह, कुफ्र, बेसब्री, खैरियत, शौहर, दस्तखत, मार्फत, एहतराम, तशरीफ़, मुलाजिम आदि।

7.2.3. नया नगर की सुंदरी:-

रूपलाल बेदिया की कहानी 'नया नगर की सुंदरी' की भाषा सरल एवं प्रवाहमान है जो पाठक को आसानी से समझ आ जाती है। खड़ी बोली हिंदी के प्रयोग के साथ लेखक ने पात्रानुकूल स्थानीय भाषा का प्रयोग किया है। कहानी

75.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011,सिराज बैंड बाजा, पृष्ठ संख्या-126

आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है। “मैंने लक्ष्य किया कि वह मेरी ही ओर देख रही है। उसके पागल होने का संदेह मन में था ही। लगा, कोई ईंट-पत्थर उठाकर मुझ पर फेंक न मारे। यह ख्याल आते ही मेरे शरीर में रोमांच सा हो आया। उसी क्षण मेरी ओर लक्ष्य करके जोर से चीखी, का देखता है रे? हमको नहीं देखा है? मुझे काटो तो खून नहीं। यकीन-सा हो गया कि यह पागल ही है। अतः मैं बिना एक क्षण रुके अपने पथ पर बढ़ गया।”[76]

इसके अलावा कहानीकार ने लोक बिंबों का भी प्रयोग किया है। ‘माघ के दूसरे हफ्ते की एक रक्तवर्णी शाम’, ‘दो घरों के बैलों में जन्मजात बैर होता है: पराजित होकर जब कोई बैल भागता है तो वह आदमियों की ओर ही भागता है’, ‘आम की मंजरिया जैसे- छोटे-छोटे हल्के पीतवर्ण फूल’, ‘आदिवासी लोग तो एगदमे गरु होता है।’ ‘अपने छौए-पूता का पेट पालना मसकिल होता है।’ जलकणों से लदे-काले बादल मंडराने लगे। सागर में ज्वार आ गया था। (सागर का अभिप्राय आंख से है) आदि।

7.2.4. अपनी कब्र खोदने वाले:-

अश्वनी कुमार पंकज की यह कहानी एक प्रतीकात्मक शीर्षक कहानी है, जिसमें पाठक कहानी के शीर्षक से ही कहानी का कथ्य, प्रतिपाद्य एवं उद्देश्य को आसानी से ग्रहण कर लेता है। कहानी पाठक के मन में कौतूहल उत्पन्न करती है। आदिवासियों की दुर्दशा को कहानी के शीर्षक में प्रतिफलित देखा जा सकता है। विकास के नशे में धुत मनुष्य पर्यावरण को खतरे में डालकर अपनी ही कब्र खोद रहा है। आदिवासी क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों के अनियंत्रित दोहन से आदिवासी प्रत्यक्ष प्रभावित होते हैं, साथ ही इससे उपजा पारिस्थितिकी असंतुलन पूरी दुनिया के लिए भी संकट है। इस दृष्टि से मनुष्य जाने-अनजाने अपने लिए कब्र खोद रहा है।

76.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011,नया नगर की सुंदरी, पृष्ठ संख्या-135

कहानी में हिंदी के अलावा आंचलिक शब्दावलियों का भरपूर प्रयोग किया गया है। ये शब्दावलियां कहानी को जीवंत और गत्यात्मक बना देती हैं। यहां कुछ आंचलिक शब्दावलियां दृष्टिगोचर है- 'हजूर, हमिन कर गांव से हुंवा कोनो नइ रहलो; बेस इहे होगा कि जितना जवान लोग है फजिर होने से पहिले; हम कहइत हलियउ कि जनिमन के मीटिन में मत बोलाव' आदि।

7.2.5. पोन:-

राकेश कुमार सिंह की यह कहानी प्रतीकात्मक शीर्षक कहानी है। लेखक कहानी के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करता है। विवाह के समय कन्या पक्ष को दिए जाने वाले 'पोन' का विरोध करके कथानायिका बसिया आधुनिक नारी का प्रतीक बनती है। कहानी में बिंब, प्रतीक, प्राकृतिक, प्रकृति केंद्रित उपमाओं, रूपकों का बहुत सधा हुआ प्रयोग हुआ है। यथा- "सिलीदाग, छिपादोहरे, पिपरा, ढांचाबार आदि गांवो धड़धड़ाने लगे थे बुलडोजर; पागल हाथियों की भांति झोपड़े-दीवारें ढाहने लगे थे, लोहे के दानव रौदने लगे थे खेत-फसल; गांव-खेतों को आनन-फानन खान में बदलने लगे थे खनिको श्रमिकों के दल।"[77]

यहां प्रकृति का निर्ममता से दोहन करने वाली मशीनों तथा यंत्रों के लिए 'पागल हाथी' तथा 'लोहे के दानव' जैसे पदों का उचित प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार कहानी में कोयले की खदान में बीरन की मृत्यु का चित्रण "आवारा कुत्ते की मौत मर गया था बीरन मुर्मू" करके कहानी में रूपकों द्वारा लेखक ने पात्रों की मानसिकता तथा कथ्य को और भी ज्यादा संवेदनशील और संप्रेषणीय बनाया है।

7.2.6. अगिन देवी:-

अगिन देवी कहानी में लेखक राकेश कुमार सिंह ने खड़ी बोली हिंदी के साथ छोटानागपुर की बोली की शब्दावली का प्रयोग किया है। आंचलिक शब्दों का

77.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011,पोन, पृष्ठ संख्या-150

जोप्रयोग हुआ है, वे इस प्रकार हैं - हड़िया (चावल की मदिरा), मलाईबरफ (आइसक्रीम), छौबा-मन (बाल-मन), सूरूज (सूरज),आसिन-कातिक (अश्विन-कार्तिक), दियरी (दीपावली), पहान (प्रधान पुजारी), हिरदा (ह्रदय), अरवा (महीन), पियर (पीला), निराट (जन शून्य), गोड़ (पैर), अन्हरिया (अंधेरा), मनई (आदमी), नेसलाइट (नक्सली), जेहल-जरीमाने (जेल-जुर्माने), ममहर (ननिहाल), तोहार (तुम्हारा), न्याव (न्याय), लुगा (साड़ी), जराजी-जादूर-कोजड़ों (विभिन्न त्योहारों के गीत), तोर (तुम्हारा), कपार (सिर), अरदवाय (आयु) ये शब्द आंचलिक बोलियों के है।

कहानी को गत्यात्मकता प्रदान करने के लिए लेखक ने लोकगीतों का भी प्रयोग किया है। एक लोकगीत दृष्टव्य है-

"खद्दी चांदी हियो रे नाद नौर
फागू चांदी हियो रे नाद नौर
भर चांदो चांद रे नाद नौर
मिरिम चांदो हो-सांड लेउनाऽऽऽ"[78]

अर्थात लो आ गया सरहुल का चांद! फल- फूल लेकर आया है सरहुल का चांद। पूरे चांद हम इसे अगोरते हैं फिर त्याग देते हैं।

इस प्रकार कई लोकगीत इस कहानी में दिखाई देते हैं। ये लोकगीत भी कहानी को विशिष्ट बनाते हैं।

7.2.7. जहेरथान:-

कमल की कहानी 'जहेरथान' का कथ्य मौलिक एवं यथार्थ से भरा है। आदिवासियों के जीवन की संवेदना एवं भावनाओं के साथ-साथ कथानक में

78.हंस, अप्रैल-2003,अगिन देवी, पृष्ठ संख्या-60

महानगरीय जीवन की यांत्रिकता, बिखराव एवं मूल्य हीनता का वर्णन हुआ है। आदिवासियों के नृत्य तथा उनके द्वारा मनाए जाने वाले पर्वों, उत्सवों आदि का चित्रण किया गया है। कहानी की घटनाएं, रोचकता से भरी है जो पढ़ने वाले के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करती है और उसको बांधे रखती हैं।

7.2.8. कनकट्टी दीदी:-

मंजुला सांगा की कहानी 'कनकट्टी दीदी' मुंडा आदिवासियों में व्याप्त अंध विश्वास और स्त्रियों की दुर्दशा को उजागर करती है| मोयलेन के माध्यम से कहानीकार ने आदिवासी स्त्रियों के संघर्ष एवं उनकी स्थिति को कहानी में चित्रित किया है। कहानी में खड़ी बोली हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है,"जब औरतें सारे कार्य कर सकती हैं तो क्या छप्पर पर नहीं चढ़ सकती? ऐसा क्या गुनाह किया मैंने कि थोड़ा सा हल चला दिया? यहां तो दिल्ली में महिलाएं ऑटोरिक्शा, ट्रेन, कार तक चला लेती है। बड़ी-बड़ी मशीनों को वे स्वयं चलाती है।" [79] कहानी में वस्तु के अनुरूप शिल्प का भी प्रयोग हुआ है।

7.2.9. कोराईन डूबा:-

ज्योति लकड़ा की कहानी 'कोराईन डूबा' में आदिवासी संस्कृति का बखूबी चित्रण हुआ है। कहानी के कथ्य के विकास मेंआदिवासी'कर्मा धर्म' की आदिवासी संस्कृति के रूप में रचनात्मक प्रयोग हुआ है। करमा पर्व, रोपा डोभा, सुमल नाच आदि आदिवासियों के जीवन को संगीतमय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कहानीकार ने रचनात्मकता के लिए आदिवासी संस्कृति के इन चीजों का भरपूर प्रयोग किया है। आदिवासी लोक साहित्य की विधाओं में लोकगीतों का विशेष स्थान रहा है। प्रस्तुत कहानी में लोकगीतों का भी प्रयोग हुआ है-

"काहां कर हकी रौरे?

79.युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर-2013, कनकट्टी दीदी, पृष्ठ संख्या -34

कौन बोली बोली ला?

राउर मधुर बोली सुनी

मनो नी भरेला सोनो

मनो नी भरेलो"[80]

कहानी में आदिवासियों का लोकगीतों तथा लोककलाओं के प्रति आत्मिक लगाव को सार्थक उपमा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। कहानी की नायिका करियो के बारे में कहा गया है कि मुरली, मंदर डफली इत्यादि की ध्वनि सुनते ही, उसका दिल जोरो से धड़कने लगता। "जैसे कस्तूरी मृग कस्तूरी गंध में सवार कस्तूरी ढूढ़ते हुए जंगल- जंगल भटकती रहती है, जिसे वह पाना चाहती है वह तो उसी के भीतर है। उसी तरह लोक नृत्य लोक संगीत भी करियो की आत्मा है।"[81] कहानी में खड़ी बोली हिंदी के साथ आंचलिक शब्दों का भी सार्थक प्रयोग हुआ है।

7.2.10. जंगल:-

भालचंद्र जोशी की यह कहानी पूर्व-दीप्ति शैली में लिखी गई है। कहानी की शुरुआत लेखक के जेब से मिले पंख से होती है जो जंगल के दुर्लभ पक्षी का पंख होता है जिसे अतीत में लेखक को उसकी पत्नी ने दी होतीहै। कहानी में परिनिष्ठित हिंदी का प्रयोग हुआ है। यदा-कदा अंग्रेजी के शब्द बीच-बीच में आ जाते हैं। शब्दों के चयन में कहानीकार ने सजगता बरती है जिससे पाठक के लिए कहानी बोझिल नहीं होती है।

7.2.11. मोईनी की मौत:-

'मोईनी की मौत' कहानी आदिवासी जीवन की समस्याओं को उजागर करती है। मोईनी के माध्यम से कथा लेखिका ने आदिवासी समाज में स्त्रियों की दयनीय

80.कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर 2011, कोराईन डूबा, पृष्ठ संख्या-173

81.वहीं, पृष्ठ संख्या-174

स्थिति का वर्णन किया है। उसे पुरुष की जूती की तरह माना जाता है। उसकी अपनी कोई सामाजिक जगह नहीं होती। कहानी, प्रेम के करुणारहित अंत की यातना भरी, अंधविश्वास की कहानी है।

कहानी में हिंदी और आंचलिक बोलियों का समान प्रयोग हुआ है। कथा लेखिका स्वयं इसी आदिवासी अंचल से आती हैं, इसलिए शब्दों के चयन में उन्होंने सावधानी बरती है जिससे कहानी में गतिशीलता है। कुछ आंचलिक शब्द निम्न है- बोइल (बोलना), ऐसन(ऐसा), गेलक (गई), गेलथून, छोड़तउ, पढ़तउ, डराइभरी, पोरे (पुआल), गोइंठा, फुलल, नल्ली, बइल आदि।

कहानी में सारंडा के जंगल में बसंत उत्सव 'सरहुल' मनाते आदिवासियों के लोकगीत की झलक देखने को मिलती है-

नेते होयो लेरे हाले, सरजोम बाहा।

नेते होयो लेरे हाले, तिलई बाहा

पूरबे होयो लेरे हाले, सरजोम बाहा।

पछमे होयो लेरे हाले, तिलई बाहा नेते....

आज के बहुत कम रचनाकार बिना बोल्ड दिखे, व्यवहार में साहस और संयम में कथा लेखिका की तरह लैस हैं। लेखिका का चौकन्नापन आदिवासी दुनिया-जहान की खबर रखता है।

7.2.12. कोयले पर पलते पेट:-

यू के एस चौहान की कहानी 'कोयले पर पलते पेट' वर्णनात्मक शैली की कहानी है। कहानी सरल और सपाट है। शुरू में कहानी कुछ बोझिल लगती है लेकिन जैसे -जैसे आगे बढ़ती है,रुचि पैदा करती है। कहानी का प्लॉट छोटा है लेकिन मार्मिक है। लेखक ने सरल हिंदी भाषा का प्रयोग किया है। कहानी के

माध्यम से लेखक ने उन मीडिया वालों का भी पर्दाफाश किया है जिन्हें केवल ब्रेकिंग न्यूज़ चाहिए।

7.2.13. बैल बनी औरत:-

लवलीन की कहानी 'बैल बनी औरत' का कथ्य आदिवासी जीवन के यथार्थ से समृद्ध है। कहानी में आदिवासी स्त्री के यातनापूर्ण जीवन को बहुत मार्मिक तरीके से रेखांकित किया गया है। कहानी की भाषा में भावात्मकता का गुण दिखाई देता है। एक अबला नारी की व्यथा पाठकों के मन में करुणा का भाव पैदा करती है।

कहानी राजस्थान के बारा जिले के सहरिया आदिवासी समुदाय की पृष्ठभूमि ली हुई है। इसलिए कहानी में सहरिया बोली के शब्द खुलकर प्रयुक्त हुए हैं जो अग्रलिखित है-डांग (जंगल), उगाह (बीज बोने का समय), मार (खेती की जमीन), ढेगरु (मनचला),गोड़ (जोतना), मोढ़ा (लड़का), टपैया, भिनसार, बैयर (औरत), कराई (नाता), चिनगेगी, कथरी, महा बैगरो (महा शैतान), खोड़ली(बाँझ), जांतेर-मांतेर (ओझा), ताइय(ताबीज), सीता बाड़ी (आदिवासियों का तीर्थस्थल), भक्षा (भूख), कांदे (प्याज), बोलरी (पके ज्वार से यौवन वाली), लुगडा (साड़ी), ढाणी आदि।

7.2.14. समायोजन:-

सुरेंद्र नायक की 'समायोजन' कहानी वर्णनात्मक शैली में लिखी गई है। कहानी में आदिवासी विस्थापन की समस्या को दर्शाया गया है जिसका तात्कालिक कारण बंगाल का अकाल था। कहानी में परिनिष्ठित हिंदी का प्रयोग किया गया है। वर्णन प्रधान होने के कारण कहानी पाठक पर प्रभाव छोड़ने में असफल रहती है।

इन कहानियों के अलावा कुछ और कहानियां हैं जिस पर संक्षिप्त में बात करना उचित होगा। कृष्ण चंद्र टूटू की कहानी 'एक बित्ता जमीन' संताल आदिवासियों की पृष्ठभूमि पर आधारित है। यह भी कहानी एक स्त्री की त्रासदी की कहानी है जिसमें आदिवासी स्त्री सरला की जमीन को हड़पने के लिए स्वयं उसके समाज के लोग

अंधविश्वास की आड़ में उसको मारने का प्रयास करते हैं। कहानी वर्णात्मक शैली में लिखी गई है और हिंदी भाषा का प्रयोग किया गया है। डॉ पूरन सिंह की 'साजिश' कहानी घटना प्रधान कहानी है। कहानी की कथावस्तु छोटी है लेकिन पाठक को बांधे रखती है। कहानी में लेखक ने आम बोलचाल हिंदी का प्रयोग किया है जिससे कहानी में गत्यात्मकता बनी रहती है। स्वयं प्रकाश का 'जंगल का दाह' प्रतीकात्मक शीर्षक कहानी है। कहानीकार ने इस कहानी में काल्पनिक चरित्रों के माध्यम से आज की पूंजीवादी संस्कृति की लूट को दिखाया है। कहानी का कथ्य प्रभावपूर्ण है जो पाठक को उबने नहीं देता है।

निष्कर्षतः हिंदी आदिवासी कहानियों की भाषा एवं शिल्प का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट होती है कि प्रकृति से जुड़े होने के कारण ये नए शिल्प की रचना करती है जो जीवन से ग्रहण की गई भाषा एवं सहज, नैसर्गिक तथा बोधगम्य शैली से कहानियों में यथार्थ की रचना करती है। मुहावरे, लोकोक्ति, लोकगीतों, बिंब और प्रतीकों का प्रयोग कथ्य को गतिशील बनाने और विचारों की अनुभूति में सहायक सिद्ध होता है। आदिवासी जीवन की भाषा स्वाभाविकता के साथ कहानियों में आई है जो कहानी को प्रभावशाली बनाती है।

7.3. संस्मरणों का भाषिक पक्ष:-

प्रस्तुत शोध में जिन संस्मरणों का चयन किया गया है, उनकी शैली प्रसंग के अनुकूल है। चयनित संस्मरणों के केंद्र में आदिवासी क्षेत्रों का विश्लेषण है। इन संस्मरणों में 'विवरणात्मक शैली' का प्रयोग हुआ है।

7.3.1.अंडमान यात्रा:-

इस संस्मरण में लेखक ने शुरू में अंडमान के आदिवासी अंचल की जानकारी देने के लिए विवरण शैली का प्रयोग किया है। अंत में लेखक ने अंडमान के आदिवासियों की दयनीय स्थिति का वर्णन प्रश्न रूप में किया है। परिनिष्ठित हिंदी के साथ-साथ कहीं-कहीं अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग इस संस्मरण में हुआ है।

7.3.2. मिजोरम के वे कुछ दिन:-

इस संस्मरण में मिजोरम के भौगोलिक क्षेत्र और प्रकृति का वर्णन, संस्मरण को सजीव बना देता है। “पहाड़ियों पर पड़ती चमकीली धूप आखों में लगती थी। घाटियों में उठती भाप वनस्पतियों को आवरण में ले ऐसी सुनहरी आभा फैलाती कि आंखें जहां तक जाएं वहां तक का प्रांतर एक रहस्य की ओर आमंत्रित करता लगता।”[82] लेखक ने संस्मरण में प्रकृति का चित्रण ऐसी शैली में किया है किपढ़ने वाले को भी प्रकृति नजरों के सामने दृश्यमान हो जाती है।

संस्मरण को बोधगम्य तथा संप्रेषण योग्य बनाने के लिए लेखक ने स्थानीय शब्दों का अर्थ उसके साथ दिया है। संस्मरण में आए स्थानीय शब्द इस प्रकार हैं- टट्टर, थूहर, पोले, डेगची, अंटन (एक तरह का जंगली सरसों का साग), कोपड़, जू (स्थानीय चावल की शराब), वाई (बाहरी), डणे (गोरा या सफेद), डोपा (गोरे-चिट्टे पिता या आदमी का गांव), नुला (युवती), छाङ (एक तरह का मोटे चावल का उबला हुआ बूरा, बिना चीनी या नमक की गाढ़ी लप्सी) आदि।

7.3.3. कितनी दूर है अभी रोशनी:-

स्वाधीन के इस संस्मरण में विवरणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। तमिलनाडु की उत्तरी सीमा पर स्थित नीलगिरी पर्वत के आसपास बसे आदिवासियों की संस्कृति और जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं को संस्मरणकार ने सधी हुई हिंदी में अभिव्यक्त किया है। लेखक ने स्थानीय आदिवासी भाषा के शब्दों का हिंदी में अनुवाद किया है। टोडा आदिवासी दक्षिण भारत की प्राचीनतम आदिवासी समुदाय है। संस्करण में जिस अंचल विशेष का उल्लेख हुआ है, उस अंचल के आंचलिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। संस्कृति का विश्लेषण करते समय स्थानीय शब्दों का प्रयोग ज्यादा हुआ है।

7.3.4. आपातानियों के बीच एक शाम:-

82.अरावली उद्घोष, जून-2010,मिजोरम के वे कुछ दिन, पृष्ठ संख्या-12

आपातानियों के बीच एक शाममें सूचनात्मक जानकारी देते हुए लेखक ने विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया है। अरुणाचल प्रदेश के आदिवासियों की संस्कृति और उनके जीवन संघर्ष को संस्मरणकार ने सहज हिंदी में व्यक्त किया है। अरुणाचल प्रदेश के भौगोलिक और प्राकृतिक वर्णन संस्मरण को जीवंत बना दिया है। लेखक ने वस्तु के अनुकूल शैली का प्रयोग किया है। प्रकृति वर्णन का उदाहरण द्रष्टव्य है- "ऊंचे-ऊंचे पेड़ों की कतारों के बीच से खेलती हुई सूर्य की किरणें नदी की लहरों से अठखेलियां करती हैं। पानी की लहरों से लुढ़क-लुढ़ककर बोल्डरो से एक खास ध्वनि से वातावरण को संगीतमय बनाती हैं। रेत की धारों और कीकर, बबूल, नीम और पीपल के देश से निकल प्रकृति के इस अनुपम सौन्दर्य का आलिंगन अपने आप में अनूठा अनुभव था।"[83]

लेखक की प्रकृति चित्रण की शैली पाठक को भी प्रकृति के आनंद की अनुभूति कराती है। संस्मरण में लेखक ने हिंदी के साथ-साथ आवश्यकतानुसार अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। इसके अलावा कुछ स्थानीय शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। पोका (चावल से बनाई गई बियर), ईप (बांस के जड़ से निकलने वाला एक तरल पदार्थ जिसे पोका के साथ परोसा जाता है।), ओदूरा (कमरबंद), नागर माला (छोटे मोती), कोता (कलाई पर बांधने वाली वस्तु), रूबिन (कानों में पहना जाता है), दुम्पिन (सर बांधे जाने वाला कपड़ा), तेरेएज (लूंगी जैसा वस्त्र), डा (हथियार), यपे (ओखली), हुनी (मुसल) आदिवासी भाषा के स्थानीय शब्दों के प्रयोग से एक ओर जहां संस्मरण की विशेषता बढ़ती है वही रचनाकार की रूचि का भी पता चलता है।

7.3.5. काजू बादाम खाने वाली गांधी जी की बकरी:-

काजू बादाम खाने वाली गांधी जी की बकरी संस्मरण की भाषा सरल एवं प्रवाहमान है जो पढ़ने वाले को आसानी से समझ आ जाती है। खड़ी बोली हिंदी के चलताऊ रूप का प्रयोग हुआ है। "गांधी जी के आश्रम से 'रघुपति राघव राजा राम

83.अरावली उद्घोष, जून 2010, आपातानियों के बीच एक शाम, पृष्ठ संख्या-51

सबको सन्मति दे भगवान' गीत की आवाज सुबह-सुबह छारा बस्ती के लोगों के कानों में गूंज उठती थी। ये लोग नींद से जाग उठते थे। गांधी जी कभी-कभी अपने हाथ में लाठी लेकर पंचा और धुनी पहनकर नंगे बदन से साबरमती के किनारे घूमने निकल पड़ते थे। तब छारा के छोटे-छोटे बच्चे गांधीजी के इस पहराव को देखकर हंसी मजाक से लाठी-वाला आया कहकर शोर मचाते थे।"[84]

प्रस्तुत संस्मरण सधी हुई हिंदी भाषा में लिखा हुआ है। एकाध जगह पर स्थानीय शब्द आए हैं।

7.3.6. जमीनी जंग के सहारिया:-

डॉ॰ रमेशचंद्र मीणा का संस्मरण जमीनी जंग के सहरिया, मध्यप्रदेश के सहरिया आदिवासियों पर केंद्रित है। लेखक पुन्नी सिंह के उपन्यास 'सहराना' को पढ़कर उसके पात्रों से मिलने जाता है। संस्मरणकार उन पात्रों से मिल संवाद कर एंव उनके संघर्ष को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि संस्मरण जीवंत हो उठा है। लेखक ने सहरिया आदिवासियों की संस्कृति, सामाजिकता को बहुत ही आसान भाषा में प्रस्तुत किया है जो पाठक को सहज ही समझ में आ जाती है।

7.3.7. बस्तर में कुछ दिन:-

चंद्रकांत देवताले की यह रचना जितना संस्मरण के नजदीक है उतनी ही यात्रा वृतांत के भी। प्रस्तुत संस्मरण को यात्रा संस्मरण कहा जाए तो गलत नहीं होगा। प्रस्तुत संस्मरण में लेखक ने अपने 12 दिन की यात्रा में बस्तर और उसके आसपास के आदिवासी अंचलों का वर्णन विवरणात्मक शैली में किया है। संस्मरण को संप्रेषणीय बनाने के लिए रचनाकार ने सरल हिंदी का प्रयोग किया है। स्थानीय

84.अरावली उद्घोष, जून- 2010,काजू बादाम खाने वाली गांधी जी की बकरी, पृष्ठ संख्या-59

भाषा का प्रयोग बहुत कम हुआ। कुछ शब्द आए हैं जो इस प्रकार हैं- तुमड़ी, खटिया, धगड़ी (चूड़ी रखने की पेटी), पटका (धोती), लुगड़ी (साड़ी), कूड़ (उलट देना) फुकट, सकोरे आदि।

7.3.8. सावधान नीचे आग है! :-

केदार प्रसाद मीणा द्वारा रचित 'संस्मरण सावधान नीचे आग है!' में राजस्थान के मीणा आदिवासियों का वर्णन है। संस्मरण में मीणा आदिवासियों में पनप रहे दहेज के मकड़जाल पर तीक्ष्ण तथा सधी हुई भाषा में चोट की गई है तथा उसका पर्दाफाश किया गया है। संस्मरण में परिनिष्ठित खड़ी बोली हिंदी का प्रयोग हुआ है।

7.3.9. दहकते बुलबुले:-

प्रस्तुत संस्मरण में अविभाजित बिहार के आदिवासियों का वर्णन है। भाषा सरल और सहज हिंदी है जो आसानी से किसी को समझ में आ सकती है। संस्मरण को कथात्मक शैली में लिखा गया है। आदिवासियों की विपन्नता का वर्णन करते हुए लेखक की शैली पाठक को एहसास कराती है कि वे सब घटनाएं उनके सामने घटित हो रही हैं। “उसके घर के सामने लगभग आधा किलो महुआ और गूलर सुख रहे थे। वहीं पर आठ-दस गोल गोल मोटी सी रोटियों जैसी चीज सूख रही थी। घर पर पत्नी बच्चे नहीं थे, सब जंगल गए थे। पड़ोसी ने बताया कि यह पीली मिट्टी में नमक और तेल मिलाकर बनी रोटियां है।”[85] लेखक ने संस्मरण में पाठ के सम्प्रेषणीयता का पूरा ख्याल रखा है।

7.4. यात्रा साहित्य:-

यात्रा साहित्य हिंदी की आधुनिक गद्य विधा है, जिसमें लेखक किसी स्थान पर की गई यात्रा का वर्णन करता है। वर्णन करते समय लेखक वहां के ऐतिहासिक,

---

85.अरावली उद्घोष, जून- 2010, दहकते बुलबुले, सुरेंद्र नायक, पृष्ठ संख्या-17

भौगोलिक, सांस्कृतिक महत्व की चीजों से परिचित कराता है। “यात्रा के दौरान विभिन्न प्रकार के चरित्रों से मुलाकात, उनके स्वभाव, प्रवृत्तियों की चर्चा-परिचर्चा, उनके सामाजिक आचार-व्यवहार, रहन-सहन, तीज त्योहारों, की जानकारी प्रांत विशेष की भौगोलिक स्थिति, प्रकृति सौंदर्य, मनोरंजन के साधन और जीवन दृष्टि, सकारात्मक दृष्टिकोण, स्थानीय और आंचलिक समस्याओं आदि का विवरण यात्रा वृतांतो के मूल में होता है।”[86]

राहुल सांकृत्यायन ने यायावरी को धर्म का दर्जा दिया है- “मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज के लिए कोई हितकारी नहीं हो सकता। मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं है, वह जंगम प्राणी है। चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा, वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।”[87]

हिंदी में यात्रा साहित्य का सूत्रपात भारतेंदु द्वारा हुआ, तब से लेकर आज तक यात्रा साहित्य लगातार समृद्ध हो रहा है, इसका भविष्य उज्जवल है। प्रस्तुत शोध में तीन आदिवासी यात्रा साहित्य चयनित किये गये हैं जिनका भाषिक विश्लेषण आगे किया जा रहा है।

7.4.1. भूला-बिलोरिया तक जहां सैकड़ों आदिवासी शहीद हुए:-

इस यात्रा साहित्य में हरिराम मीणा जी ने राजस्थान तथा गुजरात की सीमा के समीप बसे भील, गरसियाऔर मीणा आदिवासियों का वर्णन किया है। यह यात्रा-वृतांत ऐतिहासिक यात्रा वृतांत है जिसमें लेखक उस स्थान तथा उन लोगों का वर्णन करता है, जो 05 मई, 1922 को लिलुड़ी-बड़ली में अंग्रेजों तथा देसी रियासतों के अत्याचार एवं शोषण के विरोध के लिए मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व

86.हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ॰ अमरनाथ, पृष्ठ संख्या-286

87.वहीं, पृष्ठ संख्या- 286

में एकत्रित हुए थे। अचानक हथियार बंद फ़ौज आ धमकी,उसने निहत्थे आदिवासियों की भीड़ पर अंधाधुंध फायरिंग शुरू कर दी, जिसमें सैकड़ों आदिवासी हताहत हुए।

यात्रा-वृत्त में मिथकों का साहित्यिक प्रयोग हुआ है। माउंट आबू पर्वत की कथा, इसी पर्वत पर बनास नदी के पास बने गुफा, पांडवों के वनवास, राजा हरिश्चंद्र, आदि इसी प्रकार के मिथक हैं। उदाहरण के लिए "पौराणिक काल से माउंट आबू विख्यात रहा है। पांडवों ने अपने वनवास के कुछ दिन यहां बिताए। विदर्भ राजा नल की गुफा यहां है, जिसने जुए में राजपाट हार कर पत्नी दमयंती के साथ यहां विचरण किया। राजा हरिश्चंद्र भी कुछ दिन यहां रहे थे। राजा भर्तृहरि एवं गोपीचंद ने वैराग्य के कुछ दिन यहां की गुफाओं में बिताए।"[88] मिथकों के प्रयोग से यात्रा का वर्णन रुचिपूर्ण एवं गत्यात्मक हो गया है, जो यात्रा साहित्य का गुण भी है।

लेखक ने यात्रा साहित्य को विश्वसनीय बनाने के लिए लोकगीतों का भी प्रयोग किया है। मोतीरा भील और लाडूरा भील भीलों के प्रमुख नेता थे। यात्रा वृतांत में लेखक जिस जगह का वर्णन कर रहा है, उस अंचल में इन दोनों भील संघर्षनायकों को केंद्र में रखकर एक लोक गीत आज भी गाया जाता है, जो इस प्रकार है-

"ऐला टोपियो आयो रे

ऐसा बंदूक लायो रे

मर्द लुगायँ टाबरा घेरया रे

डरज्यों मती, मोतीरो आयो रे

लाडूरो आयो रे...."[89]

88.कथादेश, जून-2003, भूला-बिलोरिया तक जहां सैकड़ों आदिवासी शहीद हुए, पृष्ठ संख्या-32

89.वही, पृष्ठ संख्या-40

भावार्थ अंग्रेज जा रहे हैं, वे बंदूक से लैस हैं, औरत, मर्द और बच्चे घिरे हुए हैं। इन सब से लड़ने के लिए मोतीरा और लाडूरा आ रहे हैं। इसलिए कोई डरना नहीं।

वृत्तांत में लेखक ने हिंदी तथा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया है। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करने के पीछे लेखक की मजबूरी नहीं थी बल्कि यात्रा वृतांत को विश्वसनीय बनाने के लिए जिन संदर्भों का प्रयोग किया है वे अधिकतर अंग्रेजी में ही है। इसके अलावा गुजराती, राजस्थानी, तथा एकाध स्थान पर पंजाबी शब्द भी आए हैं। कुछ स्थानीय शब्द इस प्रकार हैं- टपरियां (झोपड़ियां), लिलुड़ी (हरा), बड़ली (बरगद), पंजा (धोती का टुकड़ा), हाली (हल चलाने वाला), साझेली फली, ढाणी (घर), खरेड़ी (बिना बिछावन के), धुमाल (हंगामा), महुड़ी (देसी दारू), हुक्की... हुक्की (सियारों की आवाज को), कांचरे (खीरा), फूंट (पका हुआ खीरा) आदि।

भाषा का पत्रकारिता वाला रूप इस यात्रा साहित्य में देखने को मिलता है। लेखक इतिहास की घटनाओं के लिए संदर्भों का प्रयोग करके रचना को बोझिल नहीं होने दिया है।

7.4.2. मानगढ़ अनलिखे आदिवासी बलिदान के तहखानों तक:-

आदिवासी संस्कृति के इतिहास-दृष्टि के धनी अध्येता के सामर्थ्य से हरिराम मीणा ने इस यात्रा-वृतांत में जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह क्षेत्र विशेष के आदिवासी से गहरे संबंध को तो उजागर करती ही है, एक मौलिक एवं अनछुए विषय पर उनकी साहित्यिक निष्ठा और लेखकीय ईमानदारी को दृष्टिगोचर करती है।

'मानगढ़ के अनलिखे आदिवासी बलिदान के तहखानों तक' की उल्लेखनीय बात उसकी भाषा की विशिष्टिता है। भाषा पर लेखक ने संभवत अधिक ध्यान दिया है। लेखक ने बीच-बीच में लोक धुनों पर आधारित, गीत-संगीत यात्रा के वर्णन के रोचकता में सहायक हैं। आदिवासी क्षेत्र के जिस ऐतिहासिक, वास्तविक घटना को इस यात्रा वृत्तांत में आधार बनाया गया है, उसके तहखाने तक ले जाने के लिए लेखक ने बहुत श्रम किया है।

7.4.3. पलाश अरण्य में ढूंढता गाथा सूत्र:-

प्रस्तुत यात्रा संस्मरण में लेखक ने झारखंड और छत्तीसगढ़ की सीमा के आसपास बसे आदिवासियों के जीवन का वर्णन परिनिष्ठित हिंदी में किया है। लेखक ने स्थानीय शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। कई जगह वर्णन मनोभूमि का सहारा लेकर आगे बढ़ता है। लेखक ने रचना की शुरुआत में पलाश के वर्णन के लिए मिथक का साहित्यिक प्रयोग किया है। भाषा में सहजता और सरलता है, जिससे रचना में लालित्य झलकती है।

7.5. नाटक:-

7.5.1. कोड़ा राज्य:-

'कोड़ा राज्य' विमल कुमार द्वारा रचित नाटक है। कुड़ूख भाषा में लिखा गया यह नाटक 'प्रतिरोध' नाटक है। विमल कुमार टोप्पो ने आदिवासियों की दुर्दशा तथा उनके संघर्ष के पक्षों को काल्पनिक पात्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है।

नाटक की भाषा सहज और संप्रेषणीय है। पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है, फिर भी पढ़ते वक्त ऐसा लगता है कि नाटककार से चूक हो गई है। प्रचलित बिंबो और प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जिससे नाटक उबाऊ नहीं होता है। प्रसंगानुकूल मुहावरों, कहावतों, व्यंग्य, विनोद आदि का प्रयोग नाटक को गति प्रदान करता है। दो अंकों के इस नाटक में कुल बारह दृश्य हैं।

नाटक के पात्र झारखंड के छोटानागपुर अंचल के हैं इसलिए हिंदी के अलावा स्थानीय शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। जुआर (हल जोतने के लिए बैलों को बांधना), तुंबा, दतवन (दातुन), बिहनी (धान का बीज), जानब (जानना), परब (पर्व), सरई लाठा, मडुआ लेटो, गुड़लू, खटना, भकुवा, हँड़िया, जिनिस(समान) बलुआ आदि।

7.5.2. आजादी के दीवाने:-

'आजादी के दीवाने' नाटक दो दृश्यों का नाटक है, जिसमें देश की आजादी के लिए हुई पूर्वोत्तर भारत की क्रांति के एक प्रयास को दर्शाया गया है। पहली चिंगारी खासी पर्वतीय क्षेत्र में फूटी, जिसके अगुआ उ तिरोत सिंह थे। अंग्रेजों ने इन्हें पकड़कर ढाका में कैद कर दिया, जहां उन्होंने अंतिम सांस ली। खुली हवा में विचरण करने वाले आदिवासियों ने क्रांति की दूसरी चिंगारी जला दी और इस बार केंद्र बना जोवाई और नेता बने उ कियांग नाग्बा।

नाटक में परिनिष्ठित हिंदी भाषा का प्रयोग किया गया है। लेखिका ने पात्रों के मनोभावों का वर्णन करने के लिए मनोविश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है। नाटक में लेखिका ने प्राय: छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है जिससे रचना में गतिशीलता आ गई है। इन संचित वाक्यों में मनोभावों, विचारों आदि को सफलता से अभिव्यक्त किया गया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रस्तुत शोध-प्रबंध हेतु चयनित रचनाओं की भाषा में वह क्षमता है जो आदिवासियत को अभिव्यक्त करने में सफल हुई है। हांलाकि कुछ कहानियों और संस्मरणों की भाषा रूढ़ साहित्यिक प्रतिमानों के सापेक्ष उत्कृष्ट नहीं है किंतु इन रचनाओं की भाषा में आदिवासी समाज को समग्रता में व्यक्त करने की क्षमता जरुर है। विषय-वस्तु के अनुसार शिल्प पक्ष स्वतः अपना स्वरूप ग्रहण कर लेता है। आदिवासी कविताओं का आदिवासी जीवन से सीधा संबंध होने के कारण इन कविताओं में आदिवासी जीवन और समाज का निश्छल यथार्थ उजागर होता है। इसलिए आदिवासी कविताओं को समझने के लिए आदिवासी समाज को जानना समझना जरूरी है, क्योंकि इसके बिना कविताओं के शिल्प को समझना मुश्किल है।

आदिवासी कविता नए शिल्प-विधानों की रचना करती है। आदिवासी साहित्य नूतन अर्थवत्ता के बिंबों, प्रतीकों के माध्यम से आदिवासियों के विभिन्न मुद्दों, उनके इतिहास, वर्तमान आदि को जनसामान्य के लिए ग्राह्य बनाने में सफल हुआ है। इसके अलावा मिथकों का साहित्यिक प्रयोग आदिवासी साहित्य की नवीन विशेषता है।

आदिवासी साहित्य के भाषिक पक्ष के विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि भाषा की दृष्टि से तद्भव, आंचलिक और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग बहुतायत में हो रहा है। आदिवासियों के जीवन-संघर्ष को यथार्थ रूप में व्यक्त करने के लिए आदिवासी क्षेत्र की आंचलिक बोलियों, शब्दों को उपयोग में लाना अनिवार्य हो जाता है। यह रचना की संप्रेषणीयता के लिए भी आवश्यक है। कहानियों को गत्यात्मकता देने के लिए लोककथाओं और लोकगीतों का भी प्रयोग हो रहा है। संस्मरणों में विवरणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। संस्मरणों की भाषा प्रायः मानक हिंदी ही रही है। जहाँ कहीं स्थानीय शब्द आयें हैं उनका अर्थ लेखक ने स्पष्ट कर दिया है। आदिवासी साहित्य की शुरूआती स्थिति अच्छी है और नए रचनाकारों की साहित्य एंव भाषा पर मजबूत पकड़ के चलते भाषा ज्यादा प्रभावोत्पादक है।

उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबंधका विषय **'हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श' (इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक के संदर्भ में)** है । आदिवासी विमर्श स्वतंत्रता के उपरांत नवें दशक में आये दलित और स्त्री विमर्श के बाद का विमर्श है। आज आदिवासी एवं उनके जनजीवन से जुड़े मुद्दों पर आदिवासी व गैर-आदिवासी साहित्यकारों द्वारा साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखन हो रहा है। पत्र-पत्रिकाओं, सभाओं-संगोष्ठियों आदि में आदिवासी जीवन के नये-नये आयामों पर विचार-विमर्श हो रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि आदिवासी साहित्य के माध्यम से आदिवासी अस्मिता और संघर्ष एक नया स्वरूप धारण कर रहा है। कविता आदिवासी साहित्य की महत्वपूर्ण विधा रही है। महत्वपूर्ण इसलिए कि आदिवासी संस्कृति में लोकगीतों की समृद्ध परंपरा रही है। शुरुआती आदिवासी साहित्य गीत या कविता के माध्यम से ही हमारे सम्मुख आता है।

आदिवासी कवियों में प्रमुख रूप से हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन, जसिंता केरकेट्टा आदि का नाम लिया जा सकता है। इन कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से अनुभूत यथार्थ के साथ-साथ सामाजिक जीवन संघर्ष को अभिव्यक्त किया है। आदिवासी कविताओं में स्त्री-जीवन के संघर्ष, पलायन, विस्थापन, अस्मिता और शिक्षा, घुसपैठ, आर्थिक आक्रमण, सामाजिक संक्रमण आदि जैसी समस्याएं प्रमुख रूप से उल्लेखित हैं। पुरुषों के बराबर दावेदार कही जाने वाली आदिवासी स्त्री क्या अपनी अस्मिता और अस्तित्व के सवाल से मुक्त है? एक समय था जब आदिवासी स्त्री पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलती थी। किंतु तथाकथित सभ्य समाज की पूँजी-लोलुपता व घुसपैठ ने आदिवासी स्त्रियों का अधिकार न केवल छीन लिया बल्कि उन्हें दोयम दर्ज़े का जीवन जीने के लिए विवश कर दिया है।

आदिवासियों के जीवन को केंद्र में रखकर आदिवासी एंव गैर-आदिवासी रचनाकारों द्वारा लिखे गये साहित्य को आदिवासी साहित्य के अंतर्गत शामिल किया जाता है। आदिवासी रचनाकार, जहाँ अनुभति के आधार पर अपने अनुभवों

से संपृक्त आदिवासी साहित्य रच रहे हैं, वहीं गैर आदिवासी रचनाकार सहानुभूति व प्रेक्षण के आधार पर आदिवासी साहित्य का सृजन कर रहें हैं। चूँकि आदिवासी लेखक आदिवासी समाज से आते हैं इसलिए उनके पास उस समाज की सभ्यता, संस्कृति और परम्परा को पहचानने की क्षमता है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि ग़ैर-आदिवासी रचनाकारों के रचित साहित्य को उपेक्षित अथवा ख़ारिज कर दिया जाए। केदार प्रसाद मीणा के अनुसार 'प्रेमचन्द, रेणु, संजीव और रणेंद्र का साहित्य आदिवासी साहित्य न सही, पर आदिवासियों की समस्याओं पर लिखा गया महत्वपूर्ण साहित्य है। वे इस निष्कर्ष के साथ उपस्थित होते हैं कि उनकी रचनाओं में आदिवासी जीवन की झलक उतनी ही है, जितनी उस जगह पर आदिवासी आबादी है।'

आदिवासी समस्याओं पर रणेंद्र, संजीव और राकेश कुमार सिंह जैसे रचनाकारों की रचनाओं के चरित्रों की ऐसी डायरियां, जिनमें आदिवासी समाज का दर्द अंकित है, को उनकी निजी डायरी बताकर संपूर्ण रचना को खारिज किया जा रहा है। संजीव, रणेंद्र, राकेश कुमार के आदिवासी अंचलों में काम करने वाले पात्र सुदीप्त और किशन आदि सभी 'बाहरी' नहीं कहे जा सकते। ये डायरियाँ मात्र उनकी निजी डायरियाँ नहीं हैं। ये आदिवासियों के पलायन तथा उसके विरुद्ध संघर्ष, आदिवासी विस्थापन और उसके खिलाफ संघर्ष के प्रलेख हैं, क्योंकि इसे न तो सरकार दर्ज करती है और न ही उनको विस्थापित करने वाली कम्पनियां। ऐसे में गैर-आदिवासियों की रचनाओं और उनके पात्रों की अहमियत बढ़ जाती है। अत: इन लेखकों की रचनाओं को 'दिकू साहित्य' कहकर ख़ारिज करना आदिवासी विमर्श का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।

आदिवासी सभ्यता और संस्कृति की जानकारी लौकिक आदिवासी साहित्य से भी मिलती है जिसमें काव्य, नृत्य, कला और चित्रकला आदि अंतर्भुक्त हैं। इसे लोक साहित्य (पुरखा साहित्य) के श्रेणी में रखा गया है। लोकगीत, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोककथा इत्यादि लोक साहित्य के अंतर्गत आते हैं। आदिवासियों की सामूहिक चेतना, सुख-दुःख, आशा-निराशा, संघर्ष, कल्पना और आकांक्षाओं आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण उनके पुरखा साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। साथ ही विभिन्न

पर्व-त्योहार, उत्सव, अनुष्ठान, हर्ष-विषाद आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण भी पुरखा साहित्य में मिलता है। पुरखा साहित्य के आदिसृजन में जिनका योगदान रहा है, उनके बारे में कोई भी जानकारी नहीं मिलती है। यह तथ्य लगभग सभी समाज के लोकसाहित्य के संदर्भ में सच महसूस होता है। कुछ आंशिक बदलाव के साथ पुरखा साहित्य समृद्ध होते हुए पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानांतरित होती आदिवासी आकांक्षाओं को विशुद्ध रूप से प्रतिबिंबित करता है।

देश के विभिन्न भागों में आदिवासी अति प्राचीन काल से प्रकृति की गोद में जीवन बिताते रहे हैं। उनका जीवन प्रकृति पर आश्रित होता है, उनकी हर गतिविधि में प्रकृति शामिल होती है, जो आदिवासी संस्कृति को सांस्कृतिक धरोहरों में विशिष्ट बनाती है। अपनी इस विशिष्ट संस्कृति को कई आदिवासी समूहों ने सुरक्षित रखा है। आदिवासी रचनाएं वेशभूषा, रहन-सहन, गीत-संगीत, नृत्य आदि कलात्मक सौंदर्य से भरा हुआ है। ये रचनाएं देखने में साधारण सी लग सकती हैं लेकिन इनका समेकित प्रभाव हृदय को भावनाओं से ओत-प्रोत कर देता है।

'आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी, सह-अस्तित्व का अभ्यस्त, ऊंच-नीच, भेदभाव व छल-कपट से दूर है। वह संपत्ति के संग्रह की प्रवृत्ति से मुक्त है। वह किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोधी तथा समानता का पक्षधर है। उक्त सभी की अभिव्यक्ति आदिवासी साहित्य में हुई है।

आदिवासी समाज के बारे में साहित्य में आजादी के पहले से ही लिखा जा रहा है लेकिन इसमें तेजी आजादी के उपरांत देखने को मिलती है, विशेषकर पिछली शताब्दी के अंतिम दशकों में। देश की छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में कविता, कहानी, उपन्यास और चिंतनपरक लेखों, विचारों आदि के माध्यम से आदिवासी साहित्य को विकसित और समृद्ध करने की कोशिश की जा रही है, जिससे हिंदी भाषा में आदिवासी साहित्य के प्रति जिज्ञासा और विचार-विवेचन के प्रति गंभीर साहित्यिक स्वीकृति मिली। आदिवासी साहित्य रचाव-बचाव का साहित्य है; उसमें नई चेतना का भाव परिलक्षित होता है। उनका अपना साहित्य समाज के जीवन-संघर्ष तथा समस्याओं सहित सभ्यता, संस्कृति और भाषा आदि को सामने लाने का

मजबूत जरिया है। आदिवासी समाज अपनी जीवन-शैली, पर्व-त्योहारों एवं विभिन्न उत्सवों के माध्यम से सभ्य समाज को आकर्षित करता रहा है और संघर्षरत जीवन जीने को प्रेरित करता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध '**हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श' (इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक के सन्दर्भ में)** में आदिवासी समाज के विविध पक्षों का विवेचन व मूल्यांकन किया गया है। अध्ययन की सुविधानुसार इसे सात अध्यायों में विभक्त कर आदिवासी समाज के इतिहास, संस्कृति, समसामयिक मुद्दों एवं लोकजीवन के विविध प्रसंगों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

शोध-प्रबंधके पहले अध्याय का शीर्षक '**आदिवासी विमर्श: अवधारणा और स्वरुप**' है। इसके निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आदिवासी इस देश के आदि वंशज हैं। इनकी विशिष्ट भाषा-बोली और संस्कृति होती है। आजीविका के लिए वे वनों पर ज्यादातर निर्भर रहते हैं। जल, जंगल और जमीन उनकी पुस्तैनी संपत्ति है। आदिवासी प्रकृति के गोद में पलता है, खेलता है। अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए वह प्रकृति पर निर्भर रहता है। वह प्रकृति से उतना ही लेता है जितनी उसे जरूरत होती है।

आज विकास के नाम पर जंगलों का बेतहाशा दोहन हो रहा है। आदिवासियों की संपत्ति छीनी जा रही है; जिसके परिणामस्वरूप उनको अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ रहा है। अपनी जमीन पर दूसरों के अधिकार का आदिवासी प्रबल विरोध करता है। स्वाधीनता आंदोलन में देश के विभिन्न क्षेत्रों में आदिवासियों ने सशस्त्र विद्रोह भी किया है और शोषणकारी ताक़तों का सामना भी किया है।

तेज़ी से बदलती दुनिया के बीच संतुलन बना पाना आदिवासी समाज के लिए बड़ी चुनौती है लेकिन शिक्षा और अवसरों की समानता के साथ सरकारी संरक्षण, न केवल आदिवासी संस्कृति की रक्षा करने में मददगार होगा बल्कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रकृति के साथ संतुलन को भी बेहतर बनाएगा।

शोध-प्रबंधके दूसरे अध्याय का शीर्षक **'हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाएँ और आदिवासी विमर्श'** है। इसके अध्ययनोपरांत पाया गया कि आदिवासी सर्जक अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने अधिकार की बात मुखर होकर रख रहे हैं, इसमें इनका सहयोग पत्र-पत्रिकाएं कर रही हैं। इन पत्रिकाओं में गैर-आदिवासी लेखक अपनी लेखनी के जरिये आदिवासियों का शोषण करने वाली, उनके साथ अन्याय करने वाली शक्तियों का विरोध कर आदिवासियों का समर्थन कर रहे हैं। इन रचनाओं में प्रतिरोध के स्वर बहुत मुखर हैं। ये पत्रिकाएं विभिन्न समस्याओं से जुझते हुए आदिवासियों और उनको लेकर सरकार की केन्द्रीय नीतियों पर भी नज़र रखती हैं।

हिंदी की छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में आदिवासियों को वाणी मिली है। आदिवासी साहित्य को साहित्यिक और गैर साहित्यिक पत्रिकाएं स्थान दे रही हैं, जो उसकी बदली हुई भूमिका का सूचक है। पहले पत्रिकाएं आदिवासियों की रचनाओं को कलात्मक नहीं है या सौंदर्यशास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं है, कह कर वापस कर देती थीं। आज आदिवासी साहित्य में न्याय की कसौटी के रूप में स्वीकृति का श्रेय भी पत्रिकाओं को जाता है।

वर्तमान में पूंजीवादी संस्कृति ने आदिवासियों के साथ पत्रिकाओं पर भी अपना कुत्सित प्रभाव डाला है। कई पत्रिकाएं व्यावसायिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर अपनी जनपक्षधरता को खत्म कर रही हैं। चूँकि चरम पूँजीवादी सभ्यता के दौर में भूमिकाएं, सवाल तथा परिप्रेक्ष्य वास्तविकता से उत्पन्न होते हैं। पत्रकारिता ने अपने शुरूआती दौर से ही विवादों और विचारों के माध्यम से बौद्धिक परिदृश्य और वातावरण की रचना की। लेकिन आज विवादों में जहाँ विचार की संभावना है, उसे संपादक और रचनाकारों द्वारा नजरंदाज किया जा रहा है।

समाज से संवेदनाओं का क्षरण हो रहा है, इसके लिए आदिवासी समुदाय सामूहिकता, सहजीविता, सहअस्तित्व, समता, सहभागिता और सामंजस्य के आधार पर संवेदनशील समाज का निर्माण चाहता है। यह अलग बात है कि आदिवासी समाज पहले से ही आदिवासियत के लिए प्रसिद्धि प्राप्त किया हुआ है। संवेदनशील समाज के निर्माण हेतु कुछ साहित्यिक पत्रिकाएं दलित, स्त्री,

आदिवासी, अल्पसंख्यक, किन्नर आदि वंचित तबकों को उचित स्थान देकर कलावाद और वैचारिक शास्त्रवाद से मुक्त हो रही हैं।

शोध-प्रबंधके तीसरे अध्याय का शीर्षक '**हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता : आदिवासी कविता**' है। कविताओं के अध्ययनोपरांत कहा जा सकता है कि आदिवासी कविता में अपनी अस्मिता और अस्तित्व, जल, जंगल, जमीन की रक्षा के लिए किये जा रहे संघर्ष का चित्रण हुआ है। आदिवासी समाज सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहजीविता, समानता और सामुदायिकता में विश्वास करता है। आज बाहरी समाज के प्रभाव में आकर इस समाज में बुराइयां अधिक तेजी से पनप रही हैं। शिक्षा एवं अर्थ के अभाव के कारण आदिवासी अपने हक की लड़ाई नहीं लड़ पाते हैं और उन्हें अपने जल,जंगल, जमीन से बेदखल होना पड़ता है। कविता, आदिवासी साहित्य की महत्वपूर्ण विधा रही है। महत्वपूर्ण इसलिए क्योंकि आदिवासियों की संस्कृति में लोकगीतों की समृद्ध परंपरा रही है। शुरुआती आदिवासी साहित्य गीत या कविता के माध्यम से ही हमारे सम्मुख आता है।

आदिवासी कविता ने आदिवासी विमर्श को सशक्त बनाने और जमीन तैयार करने में केंद्रीय भूमिका का निर्वहन किया है। इन कविताओं में आदिवासी जीवन की समस्याओं और संघर्षों का यथार्थ वर्णन हुआ है। आदिवासी कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से अनुभूत यथार्थ के साथ-साथ सामाजिक जीवन-संघर्ष को अभिव्यक्त किया है।

सीमित संसाधनों में जीवन की सारी जरूरतों को खोज लेने वाले आदिवासियों को आज दाने-दाने के लिए मोहताज होना पड़ रहा है। इसके कारण में प्रमुख है- आदिवासी क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों, संपदाओं का पाया जाना। इन संसाधनो पर सरकार और पूंजीपतियों की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई है। इस लूट के चलते आदिवासियों को अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ता है। आदिवासी कविता विस्थापन को महत्वपूर्ण विषयवस्तु के रूप शामिल कर उसके कारण और प्रभाव का पड़ताल करती है, जिससे आदिवासियों की सभ्यता और संस्कृति प्रभावित होती है। आदिवासी कविताओं के माध्यम से आदिवासी स्त्री के शोषण और उसके ऊपर

होने वाले अत्याचार तथा इसके विरुद्ध स्त्रियों के तेवर को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। अंततः आदिवासी कविता प्रतिरोध की कविता साबित होती है, जो हरजोर-जुल्म, पूँजी के आतंक और शोषण के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने की ऊर्जा देती है।

चौथा अध्याय का शीर्षक '**हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता: आदिवासी कथा साहित्य**' है। इक्कीसवीं सदी की भावभूमि पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि यह तकनीकी ज्ञान की अतिशयता और सूचनाओं के विस्फोट के साथ मुक्त बाज़ारवाद के अनियंत्रित बढ़ोत्तरी और दबाव की सदी है। नब्बे के दशक बाद आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के अप्रत्याशित प्रभाव ने आदिवासी समाज की संरचना, संस्कृति, भाषा के साथ मानवीय संबधों के बुनियादी ढ़ांचे को पूरी तरह बदल दिया है। यह बदलाव दो- तीन दशकों में इतनी तेजी से हुआ है कि इसका मात्र अनुमान ही लगाया जा सकता है। मानवीय संबंधों के बुनियादी ढांचे में बदलाव की तेजी से आदिवासियों के मुसीबत में जहाँ बेतहाशा वृद्धि हुई, वहीं उनके सामने अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा का संकट पैदा हुआ; मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति में इजाफा, मानवीय संबंधों में बिखराव, और संवेदनाओं का निरंतर क्षरण हुआ। हिंदी आदिवासी कहानी पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि हिंदी आदिवासी कहानी वर्तमान संदर्भों और मूल्यों-परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उसके आस-पास रची जा रही है।

मनुष्य द्वारा निजी लाभ के लिए प्रकृति का अनुचित दोहन हो रहा है जिससे आदिवासी समाज की मान्यताओं और रीति-रिवाजों में बाधा पड़ रही है और उनका जीवन संकटमय हो गया है। वास्तव में बाजारवाद-पूंजीवाद की संरक्षक सत्ता पारिस्थितिकी तंत्र को छिन्न-भिन्न कर रही है। साथ ही इसका विरोध करने वालों को भी निशाना बना रही है। इन प्रभावित लोगों पर वह जुल्म तो ढा ही रही है साथ ही छद्म रूप में विकास के विमर्श की बहस को भी चला रही है। चूँकि आदिवासी लेखक इस राजनीति को समझने लगे हैं लिहाजा प्राकृतिक संसाधनों की लूट का पर्दाफाश और उसकी रक्षा के लिए आदिवासियों द्वारा किया जा रहा संघर्ष आदिवासी कहानियों में प्रमुखता से स्थान पा रहा है।

इस अध्याय में जिन कहानियों का अध्ययन और विश्लेषण किया गया है, वे आदिवासियों के जीवन से संबंधित विविध पहलुओं को प्रकट करती हैं। कहानी के विश्लेषण से यह निश्चित कर सकते हैं कि उनकी जीवनचर्या और प्रकृति पर आधारित संस्कृति से आदिवासी समाज ने सृजनात्मक साहित्य को उन्नत एंव समृद्ध किया है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक खूबियों के अलावा यह साहित्य आदिवासी संघर्ष, पारिस्थितिकीय सजगता तथा जीवन की गहरी संवेदना का जीवंत दस्तावेज है।

शोध-प्रबंधके पाँचवें अध्याय का शीर्षक '**हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में आदिवासी कथेतर गद्य**' है। संस्मरण भूत एवं वर्तमान के मध्य सेतु का काम करता है। हमारे देश के संदर्भ में जब आदिवासियों के अतीत और वर्तमान पर ध्यान दिया जाए तो अतीत में हुए आर्य-अनार्य संघर्ष से गुजरते हुए आदिवासियों ने किसी तरह स्वयं के अस्तित्व व अस्मिता की रक्षा कर जंगलों-पहाड़ों में प्रकृति के आश्रय में जीते रहने की प्रणाली को अपनाए रखा; अपने अनुपम आदिम संस्कृति की अखंडता को बचाए रखा व मानवता के मूलभूत प्रयोजनों को तथाकथित सभ्य समाज की सभ्यता से प्रदूषित नहीं होने दिया। उनकी इस पहल की छाप संस्मरण पर भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

यात्रा साहित्य में यात्री अपनी यात्रा के प्रत्येक स्थल और क्षेत्रों में से उन्हीं क्षेत्रों का संयोजन करता है जिसको वह सत्य के रूप में ग्रहण करता है। बाह्य संसार की प्रतिक्रिया से उसके हृदय में जो भावनाएं उमड़ती हैं, वह उन्हें अपने संपूर्ण चेतना के साथ अभिव्यक्त करता है। संकलित सामग्री में आदिवासियों पर तीन यात्रा वृतांत साहित्यिक पत्रिकाओं में मिले हैं जिसमें दो वृतांत हरिराम मीणा का 'भुला बिलोरिया तक जहाँ सैकड़ो आदिवासी शहीद हुए', 'मानगढ़ : अनलिखे आदिवासी बलिदान के तहखानों तक', और एक सतीश जायसवाल का 'पलाश अरण्य में ढूंढता गाथा सूत्र' है।

इक्कीसवीं सदी में आदिवासियों को लेकर कई नाटकों की रचना हुई है। लेकिन साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशन ना के बराबर हुआ है। मेरी सामग्री

संकलन में केवल दो नाटक प्राप्त हुए हैं। एक 'आजादी के दीवाने' और दूसरा 'कोड़ा राज्य' जो क्रमशः युद्धरत आम आदमी और पक्षधर पत्रिका में प्रकाशित हुए।

आदिवासी जीवन को संस्मरणों, यात्रा-वृतांतों और नाटकों मात्र में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। इन पाठों को समग्रता में देखने पर रमणिका जी का एक कथन याद आता है कि आदिवासी साहित्य और आदिवासी समाज का संबंध अटूट एवं नजदीकी है। संभवतः आदिवासी समाज से आदिवासी साहित्य अलग रह ही नहीं सकता। आदिवासी साहित्य का एक भाग समझे जाने वाले 'लोक साहित्य' का आदिवासी समाज से बहुत निकट का संबंध है। इस संबंध की सदियां गवाह हैं। यही साहित्य उनकी प्रेरणा, प्रवृत्ति तथा जीवन-संघर्ष के दर्शन कराता है।

छठा अध्याय का शीर्षक **'हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता और आदिवासी लोक साहित्य'** है। 'लोक' से तात्पर्य केवल अशिक्षित व अभावग्रस्त जनता नहीं; बल्कि अपनी जड़ों, परंपराओं से जुड़ने वाले समस्त जनसमूह; उसके दायरे में वे सभी आयेंगे, जो अपनी मिट्टी से, अपनी जड़ों से जुड़ाव रखते हैं। लोक साहित्य जिसे पुरखा साहित्य भी कहा जाता है और जिसमें लोकगीत, लोककथाएँ, लोकोक्ति आदि निहित हैं। ये लोकसाहित्य आदिवासी समाज की बहुमूल्य थाती है, जिसे वे सुनते-सुनाते और दोहराते आये हैं। इनके गीतों के शब्द भले ही सरल हों लेकिन भावों की उत्कृष्टता में कोई कमी नहीं आने देते हैं। आदिवासी लोकगीतों का साहित्य-परम्परा में श्रेष्ठ स्थान है। इसमें भावनाओं के समुचित समावेश के साथ उनका व्यापक विकास भी हुआ है।

आदिवासी लोकगीतों में यथार्थ को प्रामाणिक और प्रभावशाली बनाने के लिए कथोपकथन शैली का भी व्यवहार किया गया है। आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं की सरल, सहज एंव स्वाभाविक अभिव्यक्ति उनके लोकगीतों में दिखाई, सुनाई देती है। उनके लोकगीत असाधारण और विशिष्ट हैं क्योंकि इन गीतों में वो सब कुछ दर्ज है जो लिखित रूप में नहीं है।

आदिवासी प्रकृति की गोद में ही पैदा होता है और उसी के सान्निध्य में पलता बढ़ता है। उनके जीवन का साहित्य बनकर लोककथाओं का जन्म हुआ। लोककथाओं की गणना आदिवासी मौखिक साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधाओं में की जाती है। इन

लोककथाओं में उनका सारा जीवन दर्शन प्रतिबिंबित होता है। संसार की रचना कैसे हुई, सूर्य, चाँद, ग्रहों की रचना कैसे हुई, मानव की रचना कैसे हुई, विभिन्न पर्व-त्योहार कब और कैसे शुरू हुए आदि उनकी लोककथाओं के विषय हैं। इन कथाओं में उनके समुदाय की जातीय स्मृतियां भी हैं।

लोककथाएं आदिवासियों के लिए आत्मिक शक्ति है, जो उन्हें उर्जावान और आशावान बनाये रखती हैं। इन लोककथाओं से उन्हें प्रेरणा एंव शिक्षा मिलती है, जो विषम परिस्थितियों में भी आत्म-अनुशासन, स्वयं पर नियंत्रण, परिस्थिति के आगे जा कर सोचने की क्षमता विकसित करती है। इसलिए उनके बीच लोककथाओं की सरिता कभी भी निर्जल नहीं हुई, बल्कि अविरल प्रवाहमान है। लोककथाएं, आदिवासियों के जीवन में घुल-मिलकर उनके जीवन का मार्गदर्शन भी करती हैं। लोककथाओं के माध्यम से आदिवासी समाज के विकास की यात्रा के समाजशास्त्र को देखा जा सकता है। इस संदर्भ में आदिवासी लोककथा अपने आप में अनूठा साहित्य है।

शोध के सातवें अध्याय का शीर्षक **'आदिवासी साहित्य का भाषिक पक्ष'** है, जो शोध-प्रबंध का अंतिम अध्याय है। इस अध्याय के सार में कहा जा सकता है कि किसी भी साहित्य का सौष्ठव उसकी भाषिक संरचना और परिपक्वता पर निर्भर करता है। कथावस्तु और भाषिक पक्ष, दोनों मिलकर किसी भी साहित्य को महत्तम ऊँचाई देते हैं। भाषिक पहलुओं की बात करें तो उसमें भाषा-शैली, भाषिक शिल्प और भाषा का समेकित स्वरुप महत्वपूर्ण है।

आदिवासियों के स्वभाव की भांति आदिवासी कविता की भाषा सरलता और सहजता ली हुई है। मुख्यधारा के साहित्य की बोझिल और दुरूह परिपाटी से हटकर कम और सरल शब्दों में भी प्रभावोत्पादक होना आदिवासी कविता की प्रमुख विशेषता है। आदिवासी कविता में दैनिक बोल-चाल की भाषा का प्रयोग अधिक हुआ है, जिससे गंभीर प्रसंग भी संप्रेषणीय बन गये हैं। कविता में तत्सम, तद्भव, आंचलिक, देशज, विदेशज शब्दों के प्रयोग से सरलता और अर्थवत्ता सहज ही फूट पड़ी है। प्रसंगानुकूल अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है। आदिवासी कवियों ने अपने निहितार्थों को संप्रेषणीय और प्रभावशाली बनाने के लिए बिम्बों और प्रतीकों का सफल प्रयोग किया है। आदिवासी कविता का मौखिक स्वरुप उनकी वाचिक

परंपराओं में देखने को मिलता है। आदिवासी कविता कई स्थानीय भाषाओं में रची गई और रची जा रही है जिनसे संवाद होना बाकी है।

आदिवासी कहानियों की भाषा-शैली और शिल्पगत विधान पर दृष्टिपात करने से जो विशेषताएं दिखाई देती हैं, वह उसकी सहजता, स्वाभाविकता तथा बोधगम्यता है। पिछली सदी के मध्य में अनगढ़ खुरदरेपन का अनुभव कराने के साथ ही सदियों से उपेक्षित और अभावग्रस्त एक बड़ी जनसंख्या के जीवन मूल्यों, जीवन शैली और अस्तित्व के संघर्ष को दुनिया के सम्मुख लाती है। समकालीन आदिवासी हिंदी कहानियों में बिंब, प्रतीक, संकेत आदि तत्व यथार्थ को अभिव्यक्त करने का मजबूत जरिया बने हैं। आदिवासी कहानियों में प्रयुक्त ये बिंब, प्रतीक, संकेत इत्यादि अभिजात्य साहित्य के साहित्यिक प्रतिमानों से अलग हैं।

आदिवासी कहानियों में कहानीकार कलात्मक प्रभाव सृजित करने के लिए यथार्थ की प्रमाणिकता के साथ प्रतीकों एंव मिथकों आदि का तालमेल रखता है। इच्छित प्रभाव की रचना करने के लिए वह चरित्र अथवा परिवेश का निर्माण करता है, अथवा बिंबो, प्रतीकों की सहायता लेता है। कहानीकार बिंबों और विचारों को एक ही साथ प्रस्तुत करता है; पात्र और घटनाओं का ऐसा दृश्य प्रस्तुत करता है कि कहानी में निहित संकेत दृश्यमान हो जाता है।

इसके अतिरिक्त हिंदी आदिवासी कथेत्तर साहित्य की भाषा एवं शिल्प का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट है कि प्रकृति से जुड़े होने के कारण ये नये शिल्प की रचना करती हैं, जो जीवन से ग्रहण की गई सहज भाषा एवं नैसर्गिक तथा बोधगम्य शैली से कहानियों में यथार्थ की रचना करती है। मुहावरे, लोकोक्ति, लोकगीतों, बिंब और प्रतीकों का प्रयोग कथ्य को गतिशील बनाने और विचारों की अनुभूति में सहायक सिद्ध होता है। आदिवासी जीवन की भाषा स्वाभाविकता के साथ कहानियों में आई है जो कहानी को प्रभावशाली बनाती है।

अंततः शोध के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज विविधताओं से भरा हुआ है इसलिए उनके जीवन और साहित्य पर चर्चा करते समय हमेशा ध्यान रखना होगा। आदिवासी समाज पर आरोप लगाया जाता है कि वह बंद समाज है जबकि ऐसा नहीं है। आजकल वह कई परिवर्तनों से गुजर रहा है। इसमें कुछ परिवर्तन अतिक्रमणस्वरूप हो रहे हैं। इन परिवर्तनों को चित्रित करने की

आवश्यकता है। उनकी समस्याओं, संघर्षों को विस्तार में समझने की आवश्यकता है। इसके लिए आदिवासी साहित्य बेहतर मार्गदर्शक हो सकता है। अतः हमारा ध्यान उनके लिखित साहित्य के साथ वाचिक परंपरा पर भी होना चाहिए, जहाँ से उनको रचना करने की प्रेरणा मिलती है । ऐसा करने से हम उनके दर्शन 'रचाव और बचाव' को समझ पाएंगे। तथाकथित विकास के दलदल में धँसी दुनिया को यही दर्शन बचा सकता है। चूँकि आदिवासी समाज जल, जंगल और जमीन के साथ सामासिक संस्कृति की बचाव की बात करता है, अपने नौनिहालों में इनके संरक्षण की भावनाओं का बीजारोपण करता है और संघर्ष भी कर रहा है। आज किसी भी देश की अधिकतर समस्याएं जल, जंगल और जमीन से ही जुड़ी हुई हैं लेकिन उसके विकास और संरक्षण की बातें केवल कागजी कार्यवाहियों में ही होती है। यद्यपि किसी ने कुछ निस्वार्थ किया है और आज भी कर रहे हैं तो वो आदिवासी ही हैं, इसलिए भविष्य हेतु आदिवासियों के जीवन दर्शन का अध्ययन और बचाव जरूरी है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

आधार ग्रंथ :-

1. अक्षर पर्व, सं.सर्वमित्रा सुरजन, नवंबर 2014
2. अक्षरा, सं. विजय कुमार देव, अंक:69, जनवरी-फरवरी 2004
3. अक्षरा, सं. विजय कुमार देव, मार्च-अप्रैल 2004
4. अरावली उद्घोष, सं. भागीरथ, क्रमांक:86 दिसंबर 2009
5. अरावली उद्घोष, अतिथि सं.शंकरलाल मीणा, अंक:87, मार्च 2010
6. अरावली उद्घोष, अतिथि सं.हरिराम मीणा, अंक:88, जून 2010
7. अरावली उद्घोष, अतिथि सं. शंकरलाल मीणा, अंक:90, दिसंबर 2010
8. अरावली उद्घोष, अ. सं. डॉ.श्रवण कुमार मीणा, अंक:91, मार्च 2011
9. अरावलीउद्घोष, अतिथि सं. डॉ. रमेश चंद मीणा, अंक: 93,सितंबर 2011
10. अरावली उद्घोष, अतिथि सं.डॉ. बाबूलाल रावत, अंक:92, जून 2011
11. आजकल, सं.प्रवीण उपाध्याय, वर्ष:62, जुलाई 2006
12. आजकल, सं. फरहत परवीन, वर्ष:76, अंक:8, दिसंबर 2020
13. आदिवासी साहित्य, सं. गंगा सहाय मीणा, अप्रैल-जून 2016
14. कथन, सं. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, वर्ष:24, अप्रैल-जून 2003
15. कथाक्रम, सं. शैलेन्द्र सागर, अक्टूबर-दिसंबर 2011
16. कथाक्रम, सं. शैलेन्द्र सागर, अंक:62, अक्टूबर-दिसंबर 2014
17. कथादेश, सं. हरिनारायण, अंक:4,जून 2001
18. कथादेश, सं. हरिनारायण, अंक:3,मई 2003
19. कथादेश, सं. हरिनारायण, अंक:4,जून 2003
20. कथादेश, सं. हरिनारायण, मई 2004
21. चिंतन-सृजन, सं. बी.बी.कुमार, वर्ष:14, अंक:2

22. नया ज्ञानोदय, सं.रवीन्द्र कालिया, अंक:17, जुलाई 2004

23. पहल, सं. ज्ञानरंजन, अंक:71, अप्रैल-मई 2002

24. पक्षधर, सं. विनोद तिवारी, वर्ष: 12 संयुक्तांक: 25, 26

25. बनास जन, सं.पल्लव, जुलाई-दिसंबर 2019

26. बया, सं. गौरीनाथ, जुलाई-सितंबर 2011

27. बहुवचन, अंक:25, अप्रैल-जून 2010

28. बहुवचन, संपादक ए.अरविंदाक्षन, जुलाई-सितंबर 2011,

29. मधुमति, अंक-5 मई 2019

30. युद्धरत आम आदमी, सं.रमणिका गुप्ता अगस्त 2005,

31. युद्धरत आम आदमी, सं.रमणिका गुप्ता, जनवरी-मार्च 2009

32. युद्धरत आम आदमी, सं.रमणिका गुप्ता, अप्रैल-जून 2009

33. युद्धरत आम आदमी, सं.रमणिका गुप्ता, अक्टूबर- दिसंबर 2012

34. युद्धरत आम आदमी, सं.रमणिका गुप्ता, अक्टूबर 2013

35. युद्धरत आम आदमी, सं.रमणिका गुप्ता, जनवरी 2014

36. वाक्, सं. सुधीश पचौरी, अंक:13, अक्टूबर-दिसंबर 2012

37. वागर्थ, प्रकाशक डॉ.कुसुम खेमानी, अंक:87, अक्टूबर 2002

38. वागर्थ, सं.कुसुम खेमानी, अप्रैल 2007

39. वागर्थ, सं. शंभुनाथ, नवंबर 2017,

40. वागर्थ, सं. शंभुनाथ, मार्च 2018

41. वागर्थ, सं. शंभुनाथ, अगस्त 2019

42. वागर्थ, सं. शंभुनाथ, दिसंबर 2021

43. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, वर्ष:17, अंक:9, अप्रैल 2003,

44. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, वर्ष:18, अंक:2, सितंबर 2003

45. हंस, सं. राजेन्द्र यादव मई 2004

46. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, वर्ष:19, अंक:10, मई 2005

47. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, वर्ष:20, अंक:6, जनवरी 2006

48. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, वर्ष:21, अंक:3, अक्टूबर 2006

सहायक ग्रन्थ :-

1. आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध (संपादक) अनुज लुगुन, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
2. आदिवासी चिंतन की भूमिका – गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017
3. आदिवासी दर्शन और साहित्य (संपादक) वंदना टेटे, नोशन प्रेस, 2021 ई.
4. आदिवासी दुनिया – हरिराम मीणा, राष्ट्रीय बुक न्यास, नई दिल्ली, दूसरी आवृति: 2016
5. आदिवासी प्रतिरोध – केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016
6. आदिवासी विकास से विस्थापन (संपादक) रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,2018
7. आदिवासी विद्रोह – केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015
8. आदिवासी समाज,साहित्य और राजनीति – केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014
9. आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन - वंदना टेटे, नोशन प्रेस, 2021 ई.
10. आदिवासी साहित्य यात्रा (संपादक) रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण: 2018
11. आदिवासी साहित्य विमर्श (संपादक) गंगा सहाय मीणा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014

12. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी- सं० रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, 2014
13. आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना- डॉ. वासुदेवनंदन प्रसादभारती भवन पब्लिशर्स एंड डिसटीब्यूटर्स, 2017
14. काव्यशास्त्र- डॉ० भागीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2011
15. गुलामगिरी- ज्योतिराव फूले, मूलनिवासी पब्लिकेशन,
16. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005
17. नई कविता का अनुशीलन- डॉ० ललिता अरोड़ा, भारतीय ग्रंथ निकेतन, नई दिल्ली, 1993
18. परंपरा इतिहास-बोध और संस्कृति – श्यामाचरण दुबे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण: 2014
19. परंपरागत वर्ण व्यवस्था और दलित साहित्य- साक्षांत मस्के, वाणी प्रकाशन,2010
20. प्राथमिक आदिवासी विमर्श (संपादक) अश्विनी कुमार पंकज, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण: 2017
21. पूर्वोत्तर आदिवासी सृजन मिथक एंव लोककथाएं (संपादन एंव संकलन) रमणिका गुप्ता, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, तीसरी आवृति: 2017
22. भारत का संविधान, विधि और न्याय मंत्रालय, 2021
23. भारतीय आदिवासी जीवन – निर्मल कुमार बोस , नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पहला संशोधित संस्करण: 2013
24. भारतीय जनजातियां संरचना एवं विकास- हरिश्चंद्र उत्प्रेती, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी,
25. भाषा और समाज – रामविलास शर्मा,राजकमल प्रकाशन, बारहवां संस्करण 2022

26. भूमकाल कामरेडों के साथ – अरुंधती रॉय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
27. मध्यभारत के आदिवासी और स्वतंत्रता आंदोलन – अंजनी कुमार झा,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014
28. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण- डॉ० रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1977
29. मानव और संस्कृति – श्यामाचरण दुबे, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण: 2016
30. राष्ट्रीय धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट 2007- अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय
31. वाचिकता- वंदना टेटे, राधाकृष्ण पेपरबैक्स,पहला संस्करण:2020
32. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- डॉ अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण: 2012
33. हिंदी उपन्यास: शिल्प और प्रयोग-त्रिभुवन सिंह, हिंदी प्रचारक संस्थान वाराणसी, 1973
34. हिंदी का गद्य साहित्य-रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन ,वाराणसी, 2014
35. हिंदी साहित्य में आदिवासी हस्तक्षेप – गौतम भाईदास कुँवर, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2019

पत्र-पत्रिकाएं:-

1. अकार, सं. गिरिराज किशोर, अप्रैल 2006
2. अक्षरा, सं. विजय कुमार देव, जनवरी-फरवरी 2006
3. अक्षरा, सं. विजय कुमार देव, मई-जून 2007

4. अक्षर पर्व, सं. सर्वमित्रा सुरजन, मई 2015
5. अक्षर पर्व, सं. सर्वमित्रा सुरजन, जून 2011
6. अक्षर पर्व, सं. सर्वमित्रा सुरजन, दिसंबर 2011
7. अरावली उद्घोष, सं. बी.पी. वर्मा 'पथिक' और अन्य, अंक: 91,मार्च 2011
8. अरावली उद्घोष, जुलाई- सितंबर 2015
9. आलोचना, सं. अरुण कमल, अक्टूबर- दिसंबर 2008
10. आलेख, सं. उमेशचन्द्र अग्रवाल, अक्टूबर 2005
11. आजकल, सं. योगेन्द्र दत्त शर्मा, मई 2007
12. ककसाड़, सं. डॉ.राजाराम त्रिपाठी, सितंबर 2019
13. ककसाड़, सं. डॉ.राजाराम त्रिपाठी, अक्टूबर 2019
14. कथन, सं. रमेश उपाध्याय, जनवरी-मार्च 2004
15. कथन, सं. रमेश उपाध्याय, अक्टूबर- दिसंबर 2006
16. कथाक्रम, सं. शैलेन्द्र सागर, अप्रैल -जून 2004
17. कथाक्रम, सं. शैलेन्द्र सागर, जनवरी-मार्च 2006
18. कथाक्रम, सं. शैलेन्द्र सागर, जुलाई- सितंबर 2008
19. कथाक्रम, सं. शैलेन्द्र सागर, जुलाई- सितंबर 2021
20. कथादेश, सं. हरिनारायण, जून 2001
21. कथादेश, सं. हरिनारायण, अगस्त 2002
22. कथादेश, सं. हरिनारायण, मई 2003
23. कथादेश, सं. हरिनारायण, जून 2003
24. कथादेश, सं. हरिनारायण, मई 2010
25. चिंतन सृजन, सं. बी.बी. कुमार, अप्रैल-जून 2010
26. चिंतन सृजन, सं. बी.बी. कुमार, जुलाई -सितंबर 2010
27. चिंतन सृजन, सं. बी.बी. कुमार, जुलाई – सितंबर 2018

28. चिंतन सृजन, सं. बी.बी. कुमार, अक्टूबर -सितंबर 2018
29. तद्भव, सं. अखिलेश, मई 2020
30. दस्तावेज, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, जनवरी -मार्च 2007
31. नया ज्ञानोदय, सं. लीलाधर मंडोलई, फरवरी 2015
32. पहल, सं. ज्ञानरंजन, जुलाई-अगस्त 2000
33. पहल, सं. ज्ञानरंजन, सितंबर- नवंबर 2003
34. पहल, सं. ज्ञानरंजन, मई 2010
35. पंचशील शोध समीक्षा, सं. डॉ. हेतु भारद्वाज, वर्ष: 4, अंक: 15
36. पाखी, सं. अपूर्व जोशी, जनवरी-फरवरी 2021
37. प्रगतिशील वसुधा, प्रो. कमला प्रसाद, अंक: 70
38. प्रतिमान, जुलाई- दिसंबर 2018
39. बहुवचन, सं. अशोक मिश्र, अप्रैल- सितंबर 2012(संयुक्तांक)
40. बहुवचन, सं. अशोक मिश्र, अप्रैल-जून 2013
41. बहुवचन, सं. अशोक मिश्र, जुलाई- सितंबर 2014
42. बहुवचन, सं. ए. अरविंदाक्षन, अप्रैल-जून 2010
43. बहुवचन, सं. ए. अरविंदाक्षन, जनवरी-मार्च 2011
44. बहुवचन, सं. ए. अरविंदाक्षन, जुलाई- सितंबर 2011
45. भाषा, सं. डॉ. शशि भारद्वाज, अप्रैल 2007
46. भाषा, सं. डॉ. शशि भारद्वाज, मार्च-अप्रैल 2008
47. भाषा, सं. डॉ. अर्चना त्रिपाठी, जनवरी-फरवरी 2015
48. मधुमति, अक्टूबर 2005, राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका
49. मधुमति, फरवरी 2009, राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका
50. मधुमति, अप्रैल 2009, राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका
51. मधुमति, सितंबर 2012,राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका

52. मधुमति, मई 2019, राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका
53. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, अप्रैल-जून 2008
54. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, जुलाई- सितंबर 2008
55. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, अक्टूबर- सितंबर 2008
56. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, अक्टूबर- दिसंबर 2009
57. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, जनवरी-मार्च 2012
58. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, अक्टूबर- दिसंबर 2012
59. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता अप्रैल-जून 2013
60. युद्धरत आम आदमी सं. रमणिका गुप्ता, जुलाई- सितंबर 2013
61. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, जनवरी-मार्च 2013
62. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, अक्टूबर 2013
63. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, दिसंबर 2013
64. वागर्थ, सं. रवीन्द्र कालिया, सितंबर 2005
65. वागर्थ, सितंबर 2016
66. वागर्थ, सं. शंभुनाथ, मई 2018
67. वागर्थ, सं. शंभुनाथ, जून 2018
68. वागर्थ, सं. शंभुनाथ, सितंबर 2018
69. वांग्मय, सं. डॉ. एम. फिरोज अहमद, जुलाई 2013
70. वाक्, सं. सुधीश पचौरी, अंक: 19, 2014
71. वाक्, सं. सुधीश पचौरी, अंक: 14, 2013
72. समकालीन भारतीय साहित्य, सं. अरुण प्रकाश, नवंबर-दिसंबर 2004
73. साहित्य अमृत, सं. डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, जनवरी 2006
74. साहित्य अमृत, सं. डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, जुलाई 2006
75. समयांतर, सं. पंकज बिष्ट, अगस्त 2011

76. समयांतर, सं. पंकज बिष्ट, सितंबर 2011
77. समन्वय पूर्वोत्तर, केंद्रीय हिंदी संस्थान,उ.पू. केंद्र की त्रैमासिक पत्रिका जुलाई- सितंबर 2008
78. समन्वय पूर्वोत्तर, केंद्रीय हिंदी संस्थान,उ.पू. केंद्र की त्रैमासिक पत्रिका, अक्टूबर- दिसंबर 2008
79. समकालीन जनमत, मार्च 2019
80. समकालीन जनमत, नवंबर 2019
81. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, दिसंबर 2015
82. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, मई 2010
83. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, अप्रैल 2009
84. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, अक्टूबर 2001
85. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, दिसंबर 2009
86. हिंदुस्तान, 30 अक्टूबर 2019

शब्द कोश :-

1. अमर मानक विशाल हिंदी शब्दकोश- संपादक कृष्णकांत दीक्षित और सूर्यनारायण उपाध्याय
2. नालंदा विशाल शब्दकोश- नवल जी,आदिश बुक डिपो,नई दिल्ली, 2017
3. प्रामाणिक हिंदी कोश- रामचंद्र वर्मा हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस, 2014
4. भार्गव आदर्श हिंदी शब्दकोश-संपादक पंडित रामचंद्र पाठक
5. भारतीय संस्कृति कोष- संपादक लक्ष्मण शास्त्री जोशी, खंड-1
6. मानक हिंदी शब्दकोश- संपादक शिवप्रसाद भारद्वाज शास्त्री, नई दिल्ली, 2019
7. वृहद हिंदी शब्दकोश- संपादक कालिका प्रसाद, ज्ञान मंडल लिमिटेड वाराणसी, 2018

वेब सामग्री:-

http://sarthaksamwad.blogspot.com/2018/09/blog-post.html

https://www.hmoob.in/hi

https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org/about-us

https://hi.wikipedia.org/wiki

http://yuddhrataamaadmi.blogspot.com

https://www.bhadas4media.com/old/samkalin-janmat

परिशिष्ट

परिशिष्ट

1. प्रकाशित शोध-आलेख

2. राष्ट्रीय एंव अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-प्रपत्र के प्रमाण-पत्र

Reg. No. : N-1316/2014-15

IIJ Impact Factor : 4.101
ISSN : 2394-2207

उन्मेष
Unmesh

An International Half Yearly Peer Reviewed Refereed Research Journal (Arts & Humanities)

Vol. : IX **No. I** **November 2022-April 2023**

प्रधान सम्पादक
डॉ० राधेश्याम मौर्य
सम्पादक
डॉ० शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादक
डॉ० मनोहर लाल
डॉ० अखिलेश कुमार
डॉ० रामचन्द्र रजक

प्रकाशक
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़-२३०००१ (उ०प्र०)

Index

- राष्ट्रवादी एवं प्रगतिवादी चेतना के संवाहक दिनकर — 1–3
  डॉ0 कमल किशोर यादव
- पुनर्जागरण काल में नारी : दशा एवं दिशा — 4–7
  मो0 इखलाक खान
- कामायनी में आनन्दवाद की प्रतिष्ठा — 8–10
  डॉ0 कुसुम यादव
- मेघदूत में उत्प्रेक्षालङ्कार — 11–13
  प्रवीण कुमार
- राष्ट्रवाद और प्रेमचंद — 14–16
  अभिषेक कुमार गौड़, प्रोफेसर (डॉ०) ज्ञान प्रकाश मंगलम
- आदिवासी जीवन की मर्म कथा : पाँव तले की दूब — 17–20
  डॉ. अभिषेक पाण्डेय
- जय प्रकाश कर्दम के 'छप्पर' उपन्यास में चित्रित सामाजिक चेतना — 21–22
  राघवेन्द्र कुमार
- प्राकृतिक संसाधनों की लूट और सरकार की नीयत का पर्दाफाश करती आदिवासी कहानियाँ — 23–25
  अनुराग यादव
- आधुनिक अवधी कविता में राजनीतिक चेतना — 26–30
  डॉ0 दीपिका दुबे
- हिन्दी भाषी समाज में नवजागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति — 31–33
  डॉ0 श्रवण कुमार गुप्ता
- संगणकविज्ञान में संस्कृत की भूमिका — 34–37
  डॉ0 जनार्दन झा
- अभिज्ञान शाकुन्तलम् में चित्रित प्रकृति — 38–40
  डॉ0 फूलकली गुप्ता
- आधुनिकता और भोजपुरी लोक–समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन — 41–44
  सुषमा
- महावीर प्रसाद द्विवेदी का काव्य–विषय–विमर्श — 45–46
  डॉ0 सोनी
- अमरकांत की कहानियों में निम्नमध्यवर्गीय जीवन — 47–49
  स्नेह लता
- स्वयं सहायता समूह की अवधारणा एवं विकास — 50–52
  बृजेश कुमार सिंह
- आयुर्वेद तथा कबीर के अनुसार मन का स्वरूप — 53–55
  वर्षा वर्मा' प्रो0 चन्द्रशेखर पाण्डेय
- सुभद्रा कुमारी चौहान का काव्य–संसार — 56–59
  डॉ. चंद्रकांत सिंह
- भारतीय लोकतंत्र में महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता (उत्तराखण्ड राज्य के विशेष संदर्भ में) — 60–63
  डॉ0 दिनेश कुमार

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207

IIJ Impact Factor : 4.101
Vol. VIII, No. II, May-October, 2022
Pg. No. 24-26

प्राकृतिक संसाधनों की लूट और सरकार की नीयत का पर्दाफाश करती आदिवासी कहानियाँ

अनुराग यादव*

*शोध छात्र, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

दुनिया के किसी भी देश में रह रहे आदिवासी मुख्यधारा से कटे हुए हैं। उनका यह कटाव और सिमटे रहना कहीं मुख्यधारा के हिकारत के कारण है तो कहीं आदिवासियों की यथास्थिति से। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य के जीवन शैली में बदलाव तो किया है, किंतु इस बदलाव ने मुख्यधारा और आदिवासियों के बीच पहले से बनी दरार को और चौड़ा किया है। विकास के नये मॉडल ने आदिवासी समाज की संरचना को छिन्न–भिन्न करने का काम किया है। उसने आदिवासी समाज के भीतर विचलन उत्पन्न कर इस समुदाय के सामने अस्तित्व तथा अस्मिता का संकट पैदा कर दिया है।

स्वतंत्रता के उपरान्त विकास के जिन मॉडलों को अपनाया गया उसने आदिवासियों के हितों पर करारा प्रहार किया।इस कारण अस्मितादृसंकट के नजरिये से आदिवासियों के संघर्ष का विचार–विवेचन आवश्यक है। आज देश चौतरफा विकास कर रहा है, एक तरफ विज्ञानं के पाँव चन्द्रमा, मंगल तक पहुँच गये, वहीं दूसरी ओर उसके पाँव समुद्र की गहराई को नाप रहे हैं। विज्ञान के बदौलत हम विकास के उच्चतम लक्ष्य प्राप्त करने का दावा कर अपनी पीठ थपथपा रहें, लेकिन इन तमाम दावों के बीच एक वर्ग ऐसा भी है जो विकास को आईना दिखा रहा है। यह वर्ग है आदिवासियों का, जो विकास के चकाचौंध के बीच अपने को उपेक्षित महसूस कर रहा है। यदि कहा जाए कि विकास ने ही इनको किनारे किया है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। विकास के नाम पर आदिवासियों को क्या–क्या नहीं झेलना पड़ता है, वह सब जगजाहिर है।

आदिवासी अपनी सादगी भरी जीवन–शैली और मान्यताओं के बल पर भोगवादी जीवन शैली को चुनौती देते हैं। उनका सादगी भरा जीवन पर्यावरण जैसे वैश्विक मुद्दों पर दुनिया को शिक्षा दे रहा है। उद्योगों को लगाकर और विद्युत उत्पादन, सिंचाई हेतु बांध बनाकर आदिवासियों को विस्थापित किया जाता है। विस्थापित आदिवासियों का सही से पुनर्वास नहीं होने के चलते उन्हें बुनियादी सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है। विभिन्न परियोजनाओं तथा निजी लाभ हेतु वनों की बेतहाशा कटाई के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन छोड़ने पर मजबूर होना पड़ता है। मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति का अनुचित दोहन कर रहा है जिससे उनकी मान्यताओं और रीति–रिवाजों में बाधा पड़ रही है और उनका जीना दुश्वार हो गया है।

प्राकृतिक संसाधनों पर भोगवादी दृष्टि आदिवासी कहानियों में स्पष्ट दिखाई देती है। कथाकार वासुदेव की 'शांबरी' कहानी में बिसु और पाण्डेयजी निजी स्वार्थ के लिए वन के वृक्षों को काटते हैं। इसके लिए वे रेंजर अधिकारी को समय–समय पर भौतिक सुविधाओं वाली विभिन्न वस्तुओं को उपहार स्वरूप भेंट करते रहते हैं, ताकि रेंजर अफसर उनका सहयोग करता रहे। रेंजर अफसर बोलता है– ''अरे सालवन का यह विशाल जंगल हमारा है।''

यदि सौ पचास पेड़ निकल ही जाएंगे तो क्या फर्क पड़ेगा? जैसे सागर में से सौ बूंद जल।''[1]

देश का अधिकांश खनिज आदिवासी अंचलों में है। इन खनिज संसाधनों पर सरकार और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की दृष्टि लगी हुई है, जो इससे आर्थिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। यही लोलुपता प्रकृति का दोहन और आदिवासियों के शोषण का वजह बनती है। आदिवासियों का शोषण, विडंबना तथा बेबसी राकेश कुमार सिंह की 'पोन' कहानी में उभर कर आया है। जब पुलिस छतरमन को ढूंढ रही होती है और वह कोलियरी के मुख्य फाटक पर जमा भीड़ के सामने भाषण देता है– ''खंचिया भर कोयला उठा लिया तो हम चोर और बेहक हमारी जमीनों पर डाका डाल कर खान खोद लिया सो गैरकानूनी नहीं? असली कोयला चोर है दामोदर झा और चोर के गिरह कट साथी हैं बालू का रुपया खाने वाले साहब लोग.... हम सच बोले तो सरकार हम पर पुलिस दौड़ाती है. ... हमें पुलिस से मरवा कर बड़ी कंपनियों के लिए जंगल साफ करवाना चाहती है, गुरमेंट....। हमारी जमीन, कोयला, तांबा, अबरख, अल्युमिनियम, जस्ता सब लूटने के लिए हम जंगलियों को जंगल समेत साफ करवा देना चाहती है सरकार।''[2] आदिवासियों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जल, जंगल को बचाना बहुत ही आवश्यक है।

वन्य संपदाओं के अनियंत्रित उपयोग और आदिवासियों का शोषण करने में खनन करने वाली कंपनियां पीछे नहीं हैं। पहले कोयला निकालने वाली अधिकांशतः कंपनियां सुरंग वाले खदानों से कोयला निकालती थीं। समय के साथ बदलाव आया, अब सुरंग की खदानों की जगह खुली खदानों ने ले ली है। परिणामस्वरूप इन कंपनियों ने सुरंग वाली खदानों को बंद कर दिया। विस्फोटकों से चट्टानों को तोड़कर कोयला सीधे ट्रकों में लोड हो जाता। इसमें अधिक मजदूरों की जरुरत नहीं होती। ऐसे में तमाम आदिवासियों के सामने परिवार के भरण–पोषण की समस्या पैदा हो गई।

उनके घरों का चूल्हा जलना मुश्किल हो गया। पहले आदिवासियों की जमीन पर जबरजस्ती कब्जा किया गया। फिर उनसे मजदूरी कराया गया और पारिश्रमिक भी न्यूनतम से भी कम दिया गया या दिया ही नहीं गया। जमीन से बेदखली के बाद उनके लिए पुनर्वास की उचित व्यवस्था नहीं की गई। परिणामस्वरूप आदिवासी दर–दर की ठोकरे खाने को मजबूर हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अनियंत्रित दोहन कर अधिक से अधिक लाभ कमाने की लालच का भंडाफोड़ 'पोन' कहानी में हुआ है। ''निर्धारित सीमा तक खुदाई कर लेने के बाद खदानों के खोखले पेट में भरने हेतु रेत की खरीद होती थी। हर वर्ष बालू–भराई के करोड़ों रुपए ठेकेदार–अधिकारी डकार जाते थे और कागज पर बंद घोषित खदानें आदमखोर अजदहों की भाँति धरती पर मुंह खोले पड़ी हुई थी। टोरी, रजरप्पा, झुरकुंडा, धनबाद, झरिया. ... हर जगह, अनेक अजदहे थे।"[3]

नारकीय जीवन जीने को मजबूर आदिवासियों के जीवन का चित्रण आदिवासी कथाकार अश्विनी कुमार पंकज की कहानी 'अपनी कब्र खोदने वाले' में हुआ है। कहानी में पुलिस, प्रशासन के भ्रष्ट रूप का यथार्थ चित्रण हुआ है। पुलिस द्वारा आदिवासियों पर इतना जुल्म ढाया जाता है कि वह क्रूरता के चरम पर पहुँच जाती है। लोग अपने लड़के के मृत शरीर को लेने क्या, पहचाने से भी इंकार कर देते हैं। भारी मिसकीनता में जिन्दगी जी रहे आदिवासियों का ब्योरा मानवाधिकार कार्यकर्ता देता है– ''भीषण, शोषण, बेरोजगारी, गरीबी, बदहाली, अशिक्षा, प्रदूषण के अलावा सबसे दुखद पहलू यह है कि इन खदानों में खनन करते समय, किसी तरह की दुर्घटना अथवा मौत हो जाने पर इन्हें मुंह बंद रखना पड़ता है। मृतक मजदूर की लाश को चुपचाप दफना दिया जाता है, इसकी भनक भी किसी को नहीं लगने दी जाती है वरना मृतक के परिवार और साथ में काम करने वालों को कानूनी सजा भुगतनी पड़ती है।"[4]

रोजगार की तलाश में आदिवासी देश के विभिन्न महानगरों में आया करते हैं। सरकार और माओवादियों, नक्सलियों के बीच चल रहे संघर्ष से बड़े पैमाने पर आदिवासियों ने पलायन किया है। जैसे–जैसे सरकार और माओवादियों, नक्सलियों के बीच संघर्ष तेज हुआ है उसी अनुपात में आदिवासियों का पलायन भी बढ़ा है। दोनों ओर से बचने के लिए आदिवासी अपने पुस्तैनी जमीन से दूसरे जगहों पर विस्थापन कर रहे हैं। आदिवासी जिन क्षेत्रों में रहते हैं, वे प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण है। इन अंचलों में लोहा, कोयला, अभ्रक और सस्ते मजदूर आसानी से मिल जाते हैं, इसलिए ये अंचल पूंजीपतियों के लिए चारागाह बन गया है। इन्हीं संसाधनों पर कब्जा करने के लिए बड़ी–बड़ी कंपनिया तरह–तरह के हथकंडे अपनाती रहती हैं। कभी–कभी माओवादियों, नक्सलियों के संघर्ष के माध्यम से आदिवासियों में भय पैदा किया जाता हैय जिससे वे अपनी जमीन छोड़कर अन्यत्र चले जाए और उनके जमीन के नीचे खनिज संपदा का आसानी से दोहन किया जा सके। इस भय का लाभ उठाती हैं बहुराष्ट्रीय कंपनियां।

शिक्षा के अभाव के कारण आदिवासियों को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। विस्थापन के कारण आदिवासी शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। आदिवासी कहानियां इन्ही विडम्बनाओं को उजागर करती हैं। आज विकास के वजह से आदिवासियों की जो दयनीय स्थिति बनी हुई है, उसका केवल अंदाजा ही लगया जा सकता है। सरकार आदिवासियों को मुआवजा देने और पुनर्वास करने की बात करती है लेकिन वह केवल भुलावा एंव मजाक बनकर रह गया है, आदिवासियों की भावनाओं से खिलवाड़ किया जाता है। सुरेन्द्र नायक अपनी 'समायोजन' कहानी में लिखते है– ''एक सौ रुपये की संपति अधिग्रहित करके पाँच– दस रुपये का मुआवजा। अकेले आवास से क्या होगा जब जीविका के लिए जंगल और जमीन ही नहीं रहे। क्या सांस्कृतिक विरासत एव सामुदायिक परिवेश को पहुंचे आघात का भी कोई मुआवजा हो सकता है? परिवारजन की मृत्यु से उत्पन्न ममन्तिक पीड़ा का मुआवजा बन्द कागज के टुकड़े कैसे बन सकते हैं?"[5]

आदिवासियों में छलकपट की प्रवृत्ति लगभग न के बराबर होती है। वे निश्छल होते हैं और अपने इसी स्वभाव के कारण सरकार तथा दिकुओं के साजिश को वे समझ नहीं पाते। आदिवासियों के कल्याण और विकास की बात सच्ची है या हाँथी के दिखावे के दाँत है, को नहीं समझ पाते हैं। आदिवासियों की इसी निश्छलता का लाभ सरकार और बहुराष्ट्रीय कंपनियां उठा रही हैं रमणिका गुप्ता लिखती हैं– ''सरकार आदिवासियों की सुरक्षा हेतु पाँचवें और छठे शेड्यूल के तहत सूदखोरों से आदिवासियों की जमीनें तो वापिस नहीं करवा पाई, उल्टे पट्टे होने के बावजूब उन्हें अपनी जमीनों का कब्जा भी नहीं दिलवा सकी। इसके विपरीत कोयला की बड़ी परियोजनाओं के लिए बिना पुनर्वास किए हजारों हजारों एकड़ जमीन को कोल बियरिंग एरिया एक्ट 1957 के तहत बिना अधिग्रहण की पूरी प्रक्रिया अपनाए, जबरन अधिग्रहण का हथियार बना लिया।"[6]

आदिवासी कहानी प्राकृतिक संसाधनों के अप्रत्याशित लूट में सम्मिलित सत्ता और पूंजी के गठजोड़ एवं आदिवासी समाज में पनप रहे बिचौलियों के नकाब को नोंचती है। कहानियों में विकास प्रक्रिया से टकराते, अभावों से जूझते आदिवासी समाज का दर्द, उजड़ते जंगल, बदलता पारिस्थितिकी तंत्र तथा आदिवासियों के विस्थापन का दर्द व्यक्त हुआ है। चूँकि आदिवासियों की संस्कृति, आजीविका आदि प्रकृति पर निर्भर होती है और आज प्रकृति का दोहन हो रहा है जो एक तरह से उनके स्वाभीमान और आत्म सम्मान को कुचलने की कोशिश है। विकास केवल कागज तक सिमटा हुआ है। वास्तव में सरकार को आदिवासियों की फिक्र है ही नहीं, न ही कल्याणकारी योजनाओं को उन तक पहुँचाने की इच्छा शक्ति। आज आदिवासी अपने अधिकारों को लेकर सजग हुए हैं जो आदिवासी कहानी में उसके पात्रों में दृष्टिगोचर होती है। कहानी के ये पात्र अपने खिलाफ हो रहे साजिशों को समझ रहा है और उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहा है।

आदिवासी कहानियों के कथानक में वर्णित तथ्यों एवं तर्कों से यह स्पष्ट है कि सरकार की योजनाएं और विकास की बातें केवल कहने के लिए हैं। धरातल पर उनका क्रियान्वयन सही और उचित तरीके से न होकर कागजी कार्यवाही तक ही सीमित है। इसकी पुष्टि भौतिक रूप से आदिवासी क्षेत्रों में होने वाले धरना–प्रदर्शन से भी होती है। आदिवासियों की वाजिब माँग और अधिकार की लड़ाई को प्रशासनिक अमला द्वारा हरेक स्तर पर कुचलना, आदिवासियों को धमकाना, परेशान करना और बेवजह उन्हें गिरफ्तार करना सरकार की निकृष्टता को दर्शाता है। आदिवासी कहानियां अपने कथानक के माध्यम से उक्त निकृष्टता को अभिव्यक्त कर सरकार की नीयत का पर्दाफाश भी करतीं हैं और आदिवासियों को सजग रहने को प्रेरित करती हैं।

सन्दर्भ :

1. 'कथाक्रम' (अक्टूबर– दिसंबर 2011),), 'शैलेन्द्र सागर' (संपादक), पृष्ठ संख्या – 114
2. वहीं, पृष्ठ संख्या – 151
3. वहीं, पृष्ठ संख्या – 150
4. वहीं, पृष्ठ संख्या – 148
5. 'अरावली उद्घोष' (मार्च 2011), 'बी० पी० वर्मा' (संपादक), पृष्ठ संख्या – 29
6. 'आदिवासी अस्मिता का संकट', 'रमणिका गुप्ता', सामायिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011, पृष्ठ संख्या–19

UGC Sl. No. 48625
Impact Factor : 2.41
ISSN : 2760-X790

शोध भारती

त्रैमासिक पत्रिका

(A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Research Journal)

Vol. 22, Issue. 5, January-March 2023

सम्पादक
डॉ0 हरीश कुमार
डॉ0 आशुतोष त्रिपाठी

सम्पादकीय पता
खोजवाँ बाजार, वाराणसी

समिति
हेल्पिंग हैण्ड यूथ, उत्तर प्रदेश

❖ **अपभ्रंश मुक्तक काव्य : कलापक्षीय अनुशीलन** 101–108

अमरेश

❖ **नगरीय सेवानिवृत्त वरिष्ठ नागरिक : सामाजिक मनोवैज्ञानिक समस्याएं एवं समायोजन** 109–116

अतुल कुमार दुबे

❖ **संस्कृत – साहित्य में भक्तिरस** 117–123

अनुपम पाण्डेय

❖ **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में व्यक्त सामाजिक चेतना** 124–126

सवीना जहां

❖ **आदिवासी लोकगीतों में औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ विद्रोह के स्वर** 127–130

अनुराग यादव

आदिवासी लोकगीतों में औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ विद्रोह के स्वर

अनुराग यादव
शोध छात्र, सी.डी.एस.टी., हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

हमें आदिवासी सभ्यता और संस्कृति की जानकारी लौकिक आदिवासी साहित्य से भी मिलती है जिसमें काव्य, नृत्य, कला और चित्रकला आदि अंतर्भुक्त हैं। इसे लोक साहित्य के श्रेणी में रखा गया है। लोकगीत, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोककथा इत्यादि लोक साहित्य के अंतर्गत आते हैं। लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं से आदिवासियों के विशिष्ट सांस्कृतिक गुण–धर्म की जानकारी मिलती है। आदिवासियों की सामूहिक चेतना, सुख–दुःख, आशा–निराशा, संघर्ष, कल्पना और आकांक्षाओं आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण उनके पुरखा साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। साथ ही विभिन्न पर्व–त्योहार, उत्सव, अनुष्ठान, हर्ष–विषाद आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण भी पुरखा साहित्य में मिलता है। पुरखा साहित्य के आदिसृजन में जिनका योगदान रहा है उनके बारे में कोई भी जानकारी नहीं मिलती है। यह तथ्य लगभग सभी समाज के लोकसाहित्य के संदर्भ में सच महसूस होता है। कुछ आंशिक बदलाव के साथ पुरखा साहित्य समृद्ध होते हुए पीढ़ी–दर–पीढ़ी स्थानांतरित होती आदिवासी आकांक्षाओं को विशुद्ध रूप से प्रतिबिंबित करता है।

देश के विभिन्न भागों में आदिवासी अति प्राचीन काल से प्रकृति की गोद में जीवन बिताते रहे हैं। उनका जीवन प्रकृति पर आश्रित होता है, उनकी हर गतिविधि में प्रकृति शामिल होती है, जो आदिवासी संस्कृति को सांस्कृतिक धरोहरों में विशिष्ट बनाती है। अपनी इस विशिष्ट संस्कृति को कई आदिवासी समूहों ने सुरक्षित रखा है। आदिवासी रचनाएं वेशभूषा, रहन–सहन, गीत–संगीत, नृत्य आदि कलात्मक सौंदर्य से भरा हुआ है। ये रचनाएं देखने में साधारणदृसी लग सकती हैं लेकिन इनका समेकित प्रभाव हृदय को भावनाओं से ओत–प्रोत कर देता है।

अपने सशक्त संगठन और रुचिर जीवंतता के कारण आदिवासी साहित्य पिछली कई शताब्दियों से जीवित है। हिंदी के अतिरिक्त विभिन्न आदिवासी भाषाओं में आदिवासी साहित्य लिखा जा रहा है, जिससे हिंदी तो समृद्ध हुई ही है; साथ ही आदिवासियों की संस्कृति, परंपरा, बंधुता, समानता तथा स्वतंत्रता के सूत्रों को हिंदी क्षेत्र ने स्वीकार भी किया है। इससे हिंदी भाषी मानस के नजरिये में परिवर्तन लाने में मदद भी मिल रही है।

आदिवासी साहित्य के उद्‌भव के विषय में निश्चित तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता। साहित्यिक संदर्भों में आदिवासी साहित्य अभी अपने रूप को गढ़ने की प्रक्रिया में है इसलिए इसकी निश्चित व्याख्या करना भी कठिन है। ऊपर बताया गया है कि पिछली कई शताब्दियों से आदिवासियों के यहाँ लोक–कथाएँ, लोकगीत, कई प्रकार की लोकोक्तियाँ, कहावतें विद्यमान थीं। पाँचवें आदिवासी साहित्य सम्मेलन में प्रसिद्ध मराठी आदिवासी साहित्यकार वाहरू सोनवणे ने कहा था– "लिखित ही केवल साहित्य होता है यह कहना ही आदिवासियों की दृष्टि से गौण है। साहित्य और कला, साहित्य और जीवन–इनके बीच जो दीवारें समाज में खड़ी की जाती है, उन दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है। इन व्याख्याओं को बदलना जरूरी है, क्योंकि आज आदिवासी समाज में कई कथाएँ, लोकगीत और नाटक तथा अनेक अन्य कलाएँ विद्यमान हैं जिन्हें शब्दबद्ध नहीं किया गया है। हजारों वर्षों से चली आ रही परंपराएँ कभी भी थमी नहीं। वे परंपराएँ आज भी मौखिक रूप में आदिवासी जनजीवन का अभिन्न अंग बनी हुई हैं। फिर इसे 'साहित्य' कैसे नहीं कहेंगे? जो कलाकृति हृदय से निकलकर हृदयों तक पहुँचती है और मानवी जीवन सजाती–सँवारती है वह कलाकृति (रचना) लिखित हो अथवा अलिखित हो, उसे साहित्य कहना चाहिए।"[1] वाहरू सोनवणे का उक्त कथन आदिवासी साहित्य के नाम को श्पुरखा साहित्यश कहने पर जोर देता है।

आदिम काल से ही आदिवासी समाज विभिन्न आक्रमणकारी जातियों के संघर्षों का शिकार बना है। ऐसे रक्त–रंजित संघर्ष आदिवासी समाजों के एकाकी जीवन को और अधिक एकाकी बनाते गये। आदिवासियों को विस्थापित होकर जंगलो–पहाड़ों में शरण लेनी पड़ी। आदिवासियों का

 ISSN : 2760-X790 | जनवरी–मार्च, 2023

सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन कमजोर होने लगा। आदिवासी अपनी जगह से विस्थापित हुए थे, अपनी संस्कृति, सभ्यता और परम्परा से नहीं। लोक साहित्य जिसे पुरखा साहित्य भी कहा जाता है और जिसमें लोकगीत, लोककथाएँ, लोकोक्ति आदि निहित हैं, आदिवासी समाज की बहुमूल्य थाती है। आदिवासी लोकगीतों का साहित्य–परम्परा में श्रेष्ठ स्थान है। इसमें भावनाओं के समुचित समावेश के साथ उनका व्यापक विकास भी हुआ है।

इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि सुख–दुःख, हास्य–व्यंग्य, दया–ममता, शौर्य, उत्साह, प्रेम, वैराग्य इत्यादि समस्त मानवीय गुणों–अवगुणों की सबलता तथा दुर्बलताओं के भावों का वर्णन आदिवासी लोकगीतों में बिलकुल स्पष्ट और मनोनुकूल तरीके से प्रतिबिंबित हुआ है।

औपनिवेशिक काल के आदिवासी लोकगीत स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास, पराधीनता की वेदना और शोषण की कड़वाहट को प्रकट करता है। इतिहास का यह अध्याय देश के लिए प्राण उत्सर्ग करने वाले वीर शहीदों के रक्त से रंजित है, साथ ही सत्य, अहिंसा और शांति के रास्ते पर चले सत्याग्रह के औजस्य से भी भरा पड़ा है। आज़ादी की लड़ाई में समाज के सभी वर्गों ने बढ़–चढ़ कर भाग लिया। देश में नवजागृति लाने के क्रम में पत्रकारों, लेखकों एंव लोक कलाकारों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अपनी रचनाओं में रचनाकारों ने सशस्त्र और भूमिगत क्रांतिकारियों से लेकर सत्य और अहिंसा के अनुयायी और सत्याग्रहियों, आम जन के आजादी में योगदान को रेखांकित किया।

आदिवासियों की देशभक्ति और स्वतंत्र चेतना के गीत विभिन्न आदिवासी बोलियों यथादृ संथाली, गोंडी, उरांव, भीली, बैगा आदि में मिलते हैं। इन गीतों की विषय वस्तु आदिवासी विद्रोह तथा स्वाधीनता की लड़ाई की घटनाएँ हैं। देखा जाए तो अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर आज तकबाहरी हस्तक्षेप के कारण भूमि–व्यवस्था के बिखराव एंव सांस्कृतिक बदलाव की चुनौतियों के प्रतिक्रिया में कई आदिवासी आंदोलन हुए हैं। स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास को देखा जाए तो इसमें आदिवासियों के संघर्ष और उनके नायक गुमनाम हैं, लेकिन आदिवासी लोकगीतों में उनकी उपस्थिति सहज रूप में दिखाई देती है। इस संदर्भ में राकेश कुमार सिंह लिखते हैं– "भाषा का समुचित विकास न होने के कारण आदिवासी साहित्य में महत्वपूर्ण कागजी लेखन संभव नहीं हो सका। आदिवासी लोकगीतों में स्वाधीनता आंदोलन से संबंधित छिट–पुट उद्‌गार अवश्य मिलते हैं।"[2] इस सन्दर्भ में संथाल आदिवासियों के यहाँ गाए जाने वाला गीत द्रष्टव्य है–

"पायेल लगेत सेदाय लेकां बेतावेतेत
जाम रुपोड़ लागित
तउबे दो–बोन छूल गोया हो..."[3]

अर्थात् पहले जैसा जंगल और अपने अधिकारों को फिर से प्राप्त करने के लिए हम विद्रोह करेंगे।

अंग्रेजों से लोहा लेने वाले शहीद वीर बुधु भगत का नाम आदिवासी समाज में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। बुधु भगत छोटा नागपुर के कोल विद्रोह के नायक थे। इस विद्रोह की तुलना 1857 की क्रांति से भी की जाती है। यह विद्रोह केवल कोलों का विद्रोह नहीं था अपितु ब्रितानी हुकुमत के खिलाफ स्वाधीनता का आंदोलन था, जिसमें आदिवासियों के साथ छोटा नागपुर की धरती पर पले बढ़े सभी जाति–धर्म के लोग शामिल थे। इस सन्दर्भ में पी.सी.राय चौधरी 'सिंहभूम' जिला गजेटियर में लिखते हैं – "The Kol revolt was indeed a national movement of the aboriginals- It had more right to be regarded as a freedom struggle by the half civilized jungle folks than the movement of 1857- It was a widespread revolt of different sections of aboriginal people in Singhbhum] Chotanagpur and the adjoining territories as a protest against the inequities] inefficiency and maladmi& nistration by the British."[4]

अपने आत्मविश्वास, दृढ़ संकल्प और बहादुरी के दम पर बुधु भगत ने अंग्रेजों से लोहा लिया और उनके छक्के छुड़ा दिये थे। अंग्रेजों को इस अप्रत्याशित विद्रोह को दबाने के लिए अन्य जगहों से अपनी फौज बुलानी पड़ी लेकिन वे बुधु भगत का बाल बांका नहीं कर सके। बुधु भगत

और उनके साथियों की वीरता से भरी कहानी आज भी लोकगीतों में सुनी जा सकती है, जो उनकी शहादत की लोकप्रियता का प्रतीक है। एक लोकगीत इस प्रकार हैं–

"टिको के डांडे में आजादी की खातिर
अनेक वीरों ने जान दे दी
अनेक वीरों ने काया गंवा दी
सिला गमीक बुधु वीर तानडका बिरसा भगवान है
अपने राज के खातिर जाने दे दी
अपने देश की खातिर काया गंवा दी
अपने राज की खातिर जान दे दी
देश की खातिर अपनी काया गंवा दी
रुमियाँ झुनियाँ दोनों बहिनों ने
राज के खातिर अपनी जान देदी
देश की खातिर अपनी काया गंवा दी
भाइयो बहनो इन्हें मत भुलाना ।
तेरा राज वापिस आया है
तेरा झारखण्ड भी लौट आया है।"[5]

कोल विद्रोह के अंत हो जाने के उपरांत 'कोल्हान स्टेट' का निर्माण और उसके लिए अलग प्रशासनिक ढांचा तैयार किया गया, जो आदिवासियों की स्वायत्तता और स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने में मील का पत्थर साबित हुआ। कोल्हान के आदिवासी जमींदारों से मुक्त हो गये, सीधे अंग्रेजी शासन के साथ संवाद करने तथा अपने क्षेत्र में कानून व्यवस्था बनाये रखने में सक्षम हो गये। कोल विद्रोह के गीत आज भी आदिवासी समाज में गूंजते हैं–

"सिंगभूमि हासारेबु जोनोमलेना
सिंहलेकन पाइटिबु रिका गेया
जोनोम नेनगा, दिसुम नेलगा
किलिमिलिबु सेवा सिंगारेया।"[6]

अर्थात् : हम लोगों का जन्म सिंहों की भूमि अथवा सिंगबोंगा के प्रदेश में हुआ है। हम लोगों को शक्तिशाली सिंहों की तरह कार्य एवं व्यवहार करना चाहिए। हम अपनी मातृभूमि सिंहभूम के लिए अच्छे–अच्छे काम करें और अच्छाई से इसे सजाएं, इसका श्रृंगार करें।

इसी प्रकार 1832 में छोटानागपुर में नये जागीरदारों और अंग्रेजों के अत्याचार से परेशान होकर मुण्डा आदिवासियों ने विद्रोह किया था। इन मुण्डा आदिवासियों ने अपने कार्य को अंजाम देने के लिए सिंहभूम जिले के सदोम गुटु पहाड़ पर एक बैठक की, जिसमें कई मुण्डा नेताओं समेत तीन हजार लोग शामिल हुए। बैठक में यह निर्णय लिया गया कि छोटानागपुर से सभी अत्याचारी दिकुओं को भगाना है। इस संबंध में अत्याचारी दिकुओं पर जीत के गीत आज भी मुंडा लोग जदूर राग में गाते हैं–

"तेलेंगा को जमन जना पिठुरिया परागनारे।
लड़ाका को हुण्डिन जना गोवा बलगां रे।
मरे होको तुपुइङ जना जिकिलता पिडि रे
मरे होकी मपगा जन्म...
तेलेंगा को हरातिंग जना जिकि लता पिडिं रे
लड़ाका को दड़ि जना डोम्बाघाट रे।"[7]

अर्थात् अंग्रेज सिपाही पिठोरिया परगना में जमा हुए हैं। मुण्डा लड़ाका लोग गोवा बलंगा गाँव में इकट्ठे हुए हैं। जिकी लता नामक मैदान में खूब तीर चले, इंचअ हुअंग डोम्बा घाट में घमासान मार–काट हुई, अंग्रेज सिपाही जिकि लता पिडि स्थल में हार गये, लड़ाका लोग इंचअ हुअंग डोम्बाघाट में जीत गये।

ISSN : 2760-X790 | जनवरी–मार्च, 2023

आदिवासी लोकगीतों ने देश के लिए शहीद हुए क्रांतिकारियों को तो पालना दिया ही है, साथ ही ये गीत ब्रिटिश काल में आमजन की व्यथा–कथा को भी उजागर करते हैं। छत्तीसगढ़ के हलबी आदिवासी समुदायों की एक हलबी लोकगीत की पंक्तियां दृष्टव्य हैं–

"अंग्रेज राज, कंगाल होली ।
गोटक रूपिया चाउर सोली।"[8]

आदिवासियों को लेकर प्रायः लोगों में धारणा होती है कि वे जंगल, पहाड़, नदी–नालों के दायरे से बाहर की नहीं सोच सकते, जो कि बिल्कुल भ्रामक धारणा है। सच तो यह है कि जंगलों, बीहड़ पहाड़ो में रहने के बावजूद भी उनकी स्वतंत्रता की अभिलाषा और संघर्ष–चेतना कभी कम नहीं हुई अपितु प्रतिकूल परिस्थितियों में यह आग और भड़की ही–

"जो माटी चो किरिया खासत
हुन माटी जेचो धन आय
देस हुनी के बलसत आय"[9]

अर्थात् जिस मिट्टी की सौगंध उठाते हो, वही माटी (धरती) जो हमारा धन है, देश उसी का नाम है। उसे ही देश कहते हैं। ये पंक्तियां देश की अवधारणा को स्पष्ट करती हैं साथ ही आदिवासी मन को भी उद्घाटित करती हैं।

आदिवासी लोकगीत इस बात के प्रमाण हैं कि आदिवासी समाज ने अंग्रेजों के अत्याचार, शोषण का मुखर होकर विरोध किया। इसके लिए उन्होंने शांति का भी रास्ता चुना और शस्त्र का भी लेकिन अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की भावना से कभी खाली नहीं रहा। उनके पास विद्वान नहीं थे जो उस समय के तीखे विद्रोह के स्वरों और उनकी स्वतंत्रता की उद्दाम आकांक्षा और स्वाधीनता की लड़ाई में हुए खूनी संघर्ष को लिपिबद्ध करते। यह वही बिंदु (स्थान) है जो इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता को महसूस कराता है और विमुख इतिहासकारों के सामने लोकगीतों, प्राचीन अभिलेखों तथा कथाओं की मौखिक परंपरा के जरिये सही इतिहास लिखने की चुनौती भी पेश करता है।

संदर्भ सूचीः–

1. साहित्यमाला योजना, आदिवासी विमर्श ,आदिवासी साहित्य इतिहास बोध, प्रो. सोनवणे राजेन्द्र, , 450–2015 (DSK&II) 2015 पृष्ठ संख्या–59
2. कथाक्रम, अक्तूबर–दिसम्बर 2014, सं. शैलेन्द्र सागर, पृष्ठ संख्या–67
3. वही, पृष्ठ संख्या–67
4. Bihar District gazetteer Singhbhum by P.C Roy Chaudhury indianculture.gov.in/flipbook/3450 Pg.No-83
5. युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर 2013, सं.रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या–64
6. वही, पृष्ठ संख्या–56
7. वही, पृष्ठ संख्या–66
8. कथाक्रम, अक्तूबर–दिसम्बर 2011, सं. शैलेन्द्र सागर, पृष्ठ संख्या–98
9. वही, पृष्ठ संख्या–98

राष्ट्रीय संगोष्ठी
आदिवासी जीवन और साहित्य
03-04 दिसम्बर 2017

अनिश

आयोजन
हिन्दी विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी एवं साहित्यिक पत्रिका 'अनिश'

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि डॉ./श्री/श्रीमती/कुमारी .... अनुराग यादव (शोध छात्र) ....
.... हैदराबाद विश्वविद्यालय ....
.... ने हिन्दी विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी और साहित्यिक पत्रिका 'अनिश' के संयुक्त तत्वावधान में 'आदिवासी जीवन और साहित्य' विषय पर आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में भागीदारी की और .... आदिवासी विमर्श की अवधारणा ....
.... शीर्षक से अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

डॉ. बिपिन कुमार संयोजक	डॉ. प्रभाकर सिंह आयोजन सचिव	प्रो. अशोक सिंह अध्यक्ष, हिन्दी विभाग/संरक्षक

राष्ट्रीय संगोष्ठी

स्त्री लेखन के आदि हस्ताक्षर

हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

29 - 30 मार्च, 2019

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि डॉ./सुश्री/श्रीमती/श्री अनुराग यादव, शोध छात्र, सी॰ डी॰ एस॰ टी॰ हैदराबाद विश्वविद्यालय ने हिन्दी विभाग कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा " स्त्री लेखन के आदि हस्ताक्षर" विषय पर आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रतिभागिता की । इस अवसर पर इन्होंने 'अस्मितावादी विमर्श और स्त्री लेखन' विषयक अपना व्याख्यान / शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

प्रो. राजकुमार	प्रो. रामकली सराफ	प्रो. चम्पा सिंह
आयोजन सचिव हिन्दी विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	संरक्षक अध्यक्ष, हिन्दी विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	संयोजिका हिन्दी विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

AS PER THE UNIVERSITY POLICY, ANTI-PLAGIARISM SCREENING IS NOT REQUIRED FOR THE REGIONAL LANGUAGES

Librarian
Indira Gandhi Memorial Library
UNIVERSITY OF HYDERABAD
Central University P.O.
HYDERABAD-500 046.